दण्डीरचितः

काव्यादर्शः

'प्रसादिनी' हिन्दी व्याख्या सहित

शिव नारायण शास्त्री



परिमल संस्कृत-ग्रन्थमाला सङ्ख्या : २७

आचार्यदण्डिरचित

काव्यादर्श

(तृतीय परिच्छेद)

प्रसादिनी

हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार

पण्डित श्रीशिवनारायण शास्त्री

संस्कृत विभाग

किरोड़ीमल महाविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :—

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ शक्तिनगर

दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : २०४७ वि०

सन् १९९०

मूल्य : १००-००

मुद्रक : नवीन प्रिन्टर्स
ई-१५० कृष्णविहार,
दिल्ली-११००५१

KĀVYĀDARŚA OF DAṆDIN
Prasādinī Commentary in Hindi
by Sh. Shiv Narain Shastri, First Edn. 1990.

समर्पणम्

गेहिनी सर्व-सौख्यानां मूलं मे सर्व-सम्पदाम् ।
बाल्यादर्धाङ्गिनी तारा-देवीत्याख्या मधु-स्मृतिः ॥

विदुषी हस्त-रेखाणां तीर्थ-यात्रा-रुचिः सदा ।
शास्त्राध्ययन-सक्ता सा क्षीणे-प्रारब्ध-कर्मणि ॥

सञ्चितानि स्व-पुण्यानि भोक्तुं लोकाद् दिवं गता ।
सरस्वती-श्रियोर्योगे ममोत्साहेन सङ्गिनी ॥

माधुर्यं जीवने यस्या हेतोर्मे यशसा सह ।
तस्यै समर्प्यते व्याख्याऽऽह्लादि-शास्त्रस्य दण्डिनः ॥

जन्म १ अगस्त १९४२ ई०] [कैलासवास १७ नवंबर १९८४ ई०

मङ्गलम्

सरस्वती श्रीश्च शरीरसम्पदा
गुणाश्च सद्वंश इहोज्ज्वलो महान् ।
सुदुर्लभाः पुण्यततिं विना सदा
न चास्ति सा भागवतीं कृपां विना ॥ १ ॥

सद्योऽधिगन्तुं च समाश्रयेऽम्बिकां
जन्मान्तरे चेन्न ममेह ते समे ।
पराम्बिकेयं न ततोऽस्ति कोमलं
मनस्तु कस्यापि जने समाश्रिते ॥ २ ॥

पुण्यानि मे सन्ति च कान्यपीह यत्
प्रवृत्तिरस्तीह ममांशतः शुभे ।
सुविप्रवृत्तिश्च सुखानि च स्थिता
सरस्वतीपादनिषेवणे मतिः ॥ ३ ॥

विभाति चित्ते च नखच्छटा गिरः
सुदुर्लभा याऽस्ति तपस्विनामपि ।
गिरां प्रदानैश्च सदर्जनैः सदा
प्रकाश्यते ग्रन्थमिषेण चापि यत् ॥ ४ ॥

इतोऽधिका देवगिरोऽभिराधना
भवेत् सुभूयोऽपि ममान्यजन्मनि ।
श्रियस्तु तावत्य इदम्परा मम
गिरोऽभिराद्धिर्न विहन्यते यथा ॥ ५ ॥

शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनं
न साध्यमस्तीति तदर्थना वृथा ।
यथाऽपि साध्यं न विहन्यते तथा
भवेदितिप्रायमिहार्थ्यते मया ॥ ६ ॥

त एव काम्याश्च गुणा अपीह मा-
मवापयेयुर्हि गिरः सुपादयोः ।
त एव दोषा यदि विघ्नतामितास्
तथैव वंशोऽपि च काम्यते मया ॥ ७ ॥

भूमिका

गणनायक विघ्नविघातक सुखदायक हे वन्दन मैं करता।
दूर किये सब विघ्न हैं मेरे ग्रन्थप्रकाश हुआ पुरता॥
पाठकके कर कमलोंमें पहुँचे हर्ष अमित सबको देवे।
सेवा मेरी सुरवाणी औ हिन्दीकी जन जनको हरसावे॥

१. **टीका-लेखनमें निमित्त**—आश्विन कृष्ण द्वितीया, शनिवार, २०४३ वि० (२० सितम्बर १९८६ ई०) को प्रातः रेवती नक्षत्रमें मनके उत्साहसे प्रारब्ध **प्रसादिनी** भाद्रकृष्ण त्रयोदशी शनिवार, २०४४ वि० (२२ अगस्त १९८७ ई०) को निशीथकी प्रशान्त वेलामें सम्पूर्ण हुई। इसमें निमित्त पूर्व-पुरुषोंके आशीर्वाद, गुरुजनोंकी कृपा, गृहजनोंका सहयोग, दण्डीके मतिवैभवके निरन्तर प्रकाशके कारण उनमें निरन्तर वर्धमान भक्ति एवम् इष्टदेवी परामबाके कुटुम्बकी अहैतुकी अनुकम्पा, ये सब रहे।

२. **तृतीय परिच्छेदका नाम**—आचार्य दण्डीके '**तस्याः** (कला-चतुःषष्टेः) **कला-परिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति॥**' (काव्यादर्श ३।१७१, पृष्ठ २०८) कथनसे विदित होता है कि **काव्यादर्श**में कमसे कम **चार परिच्छेद** अवश्य थे। पर आज ऊपर उल्लिखित **चौथा कला-परिच्छेद** उपलब्ध नहीं है। केवल **तीन** परिच्छेद ही उपलब्ध हैं। इनमें से **प्रथम** और **द्वितीय** परिच्छेदोंकी विषय-वस्तु तथा उससे सम्बद्ध बातोंका विवरण इन परिच्छेदोंकी **भूमिकाओं**में किया जा चुका है। प्रकृत तृतीय परिच्छेदपर कुछ वक्तव्य आगेके पृष्ठोंमें प्रस्तुत है।

चौथे परिच्छेदका उल्लेख **कला-परिच्छेद** नामसे करनेसे प्रतीत होता है कि आचार्य दण्डीने अपने ग्रन्थके अवयव परिच्छेदोंको उनकी विषय वस्तुके आधारपर नाम दिये थे। वे आज उपलब्ध ग्रन्थके न मुख्य भागमें मिलते हैं और न हस्तलेखोंमें उसकी पुष्पिकाओंमें। दण्डीने '**काश्चिन्मार्ग-विभागार्थ-मुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः**' (२।३) में **प्रथम** परिच्छेदकी विशेषता '**मार्ग-विभाग**' बताई है। **प्रथम परिच्छेद**की संज्ञा दण्डीको **मार्ग-विभाग परिच्छेद** इष्ट थी, यह सूचित होता है। इसीलिए आचार्य रत्नश्रीज्ञानने उस परिच्छेदकी टीका-की पुष्पिकामें प्रथम परिच्छेदका उल्लेख '**मार्ग-विभाग परिच्छेद**'के नामसे किया है।

द्वितीय परिच्छेदकी विषय वस्तु स्पष्टतः अर्थालङ्कार हैं। अतः उसका नाम **'अर्थालङ्कार परिच्छेद'** आचार्यको इष्ट है। रत्नश्रीमें भी यही नाम दिया है।

तृतीय परिच्छेदकी विषयवस्तु (क) **सुकर दुष्कर शब्दालङ्कार** (३।१-१२४, पृष्ठ १-१५१) तथा (ख) **दोष** (३।१२५-१८५, पृष्ठ १५२-२२०) हैं। अतः इस परिच्छेदकी क्या संज्ञा दण्डीको इष्ट रही होगी, यह निर्णय करना कठिन है। **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** (गौण और प्रधानमें से प्रधानके आधारपर नाम रखे जाते हैं) न्यायसे तो इसका नाम **शब्दालङ्कार परिच्छेद** उचित है। आचार्य रत्नश्रीज्ञानने इसका उल्लेख **'दुष्कर, परिच्छेद'** नामसे किया है। शब्दालङ्कारों (४-१२४) में ४-३७ श्लोकों तक **सुकर**का निरूपण आचार्यने किया है। तथा शेष ३८-१२४ श्लोकोंमें **दुष्कर** अलङ्कारोंका। अतः १८७ श्लोकों वाले परिच्छेदमें ८७ श्लोकोंमें निरूपित **दुष्कर**को प्रधान मानना एक विषयके निरूपक श्लोकोंकी अधिकतम संख्याके आधारपर तो उचित है, परंतु समग्र संख्याकी अपेक्षासे उचित नहीं है। अतः **प्रसादिनीमें** इसे **शब्दालङ्कार-दोष परिच्छेद** नाम दिया है। इस नामसे इस परिच्छेदका सम्पूर्ण विषय प्रकट हो जाता है।

३. विषय-विवेचन—(क) सिंहावलोकन : काव्यादर्शका विषय **काव्य-लक्षण** है। **'लक्षण'** शब्द √लक्ष् + ल्युट् (करण) में निष्पन्न है। प्रकृत ग्रन्थ काव्यको लक्षित करनेका साधन है। लक्ष्से तात्पर्य है निरूपित करना, मुख्य चिह्नोंको बताना। अतः काव्यके स्वरूपके अन्तर्गत मुख्य विशेषताओंको बताना प्रकृत ग्रन्थका प्रधान विषय है। काव्यके ये लक्षण—मुख्य धर्म—काव्यकी बाह्य और आन्तरिक संरचनाके मुख्य (स्वरूपाधायक) तत्त्व हैं। इनके बिना काव्य काव्य ही नहीं होगा। इन तत्त्वोंको आचार्य दण्डीने सर्व प्रथम (१।८ में) **ग्राह्य** (गुण) और **हेय** (दोष) की दृष्टिसे देखकर पहले **ग्राह्य** पदार्थोंका निरूपण दो क्रमोंमें किया है : (क) काव्यकी बाह्य संरचना **अर्थात् काव्य-शरीर** (१।१०-३९) तथा (ख) उस काव्यशरीरको शोभा-युक्त करने वाले तत्त्व अर्थात् **अलङ्कार** (१।४० से ३।१२४ तक)। (ख) **अलङ्कार**का निरूपण आचार्यने (अ) मार्ग-विशेषसे सम्बद्ध और (आ) सर्व-मार्ग-साधारणके रूपमें किया है। प्रथमको उन्होंने **गुण** नाम दिया है और द्वितीयका **अलङ्कार** नाम ही रहने दिया है (२।३ देखें)। (अ) **गुण**का निरू-पण प्रथम परिच्छेदके शेष भागमें किया है तथा (आ) साधारण **अलङ्कार**का

निरूपण उसे आश्रय (१) **अर्थ** और (२) **शब्दके** आधारपर दो विभागोंमें बाँट कर (१) **अर्थालङ्कारोंका** प्रतिपादन **द्वितीय** परिच्छेदमें और (२) **शब्दालङ्कारोंका** **तृतीय** परिच्छेदके १-१२४ श्लोकोंमें किया है। इसके अनन्तर **हेय** तत्त्व, अर्थात् काव्यनिर्माणमें विविध भङ्गियोंसे आने वाले दोषोंका निरूपण (३।१२५-१८५ में) किया है।

(ख) **तृतीय परिच्छेद :** इस परिच्छेदमें आचार्यने काव्यमें ग्राह्य तत्त्वों १ **यमक** (१-७७), २ **आकार बन्ध** (७८-८२) और ३ **वर्णनियम** (८३-९५) के भेदसे द्विविध चित्रबन्ध, ४ **प्रहेलिकाओं** (९६-१२४) इन **चार शब्दालङ्कारोंका** निरूपण इनके लक्षण, भेद तथा उदाहरण देकर किया है। इसके बाद (१२४-१८५ में) हेय तत्त्वों **दोषोंका** निरूपण किया है।

(१) **यमक :** प्रथम अढ़ाई श्लोकोंमें आचार्यने **यमकका** (क) लक्षण तथा (ख) भेदविकल्पनके आधार बताकर इसके भेदोंको **'अत्यन्तबहु'** बताया है।

(क) **लक्षण :** वर्णोंकी विशिष्ट आवृत्ति यमक होता है।

(ख) **भेदविकल्पनके आधार :** ये आधार आचार्यने तीन प्रकारके बताये हैं: (अ) आवृत्तिकी (१) निरन्तरता तथा (२) सान्तरताके आधारपर (१) **अव्यपेत,** (२) **व्यपेत,** (३) **अव्यपेत-व्यपेत।** (आ) आवृत्तिके अधिष्ठानके आधार पर पादके (१) आदि, (२) मध्य तथा (३) अन्त स्थानों तथा (इ) आवृत्तिकी व्याप्तिके विषयके आधारपर (१) एक, (२) दो, (३) तीन तथा (४) चार पादोंमें व्याप्ति। इन दस आधारोंके पर-स्पर संयोजनके फलस्वरूप **यमकके** वस्तुतः **'अत्यन्तबहु'** हो जाते हैं। हमारी गणनाके अनुसार (द्रष्टव्य **प्रसादिनी** पृष्ठ ६) ये ३१५ होते हैं।

इनमें से कुछ भेद **सुकर** होते हैं, तो कुछ **दुष्कर**। आचार्यने पहले (४-३७ श्लोकोंमें) **सुकर** यमक दिये हैं, उसके बाद (३८-७७ श्लोकोंमें) **दुष्कर**। दुष्करता भी क्रमशः वर्धमान रूपमें प्रदर्शित की है। **पादाभ्यास यमकका** अन्तिम **'महायमक'** भेद (पृष्ठ ८०-८२) तथा **प्रतिलोमयमक** दुष्करताकी पराकाष्ठा हैं। **यमकके** कुशल प्रयोक्ता कवियों भारवि और भट्टिके काव्योंमें भी इनके उदाहरण इक्के-दुक्के ही मिलते हैं।

(२) **आकार चित्र बन्ध :** आचार्यने 'चित्र' शब्दका प्रयोग 'आकारप्रदर्शक चित्र' अर्थमें और 'विचित्र' अर्थमें किया है (द्रष्टव्य पृष्ठ ९५)। अतः 'चित्र बन्ध' का विषय 'गोमूत्रिका' आदि **आकारबन्ध** और **वर्णनियमवान्** प्रयोग अभिप्रेत हैं।

आकारबन्ध अलङ्कारोंमें उन्होंने (१) गोमूत्रिका (७८-७९), (२) अर्ध-भ्रम (८०-८१), (३) सर्वतोभद्र (८०, ८२) नामक तीन बन्घोंका प्रदर्शन किया है। ये बन्ध **दुष्कर** हैं यह स्वतः स्पष्ट है।

(३) **वर्णनियमवान् चित्र बन्ध** : इसके आचार्यने तीन भेद किये हैं : (१) स्वरनियमवान्, (२) उच्चारण-स्थान-नियमवान्, (३) वर्णनियम (व्यञ्जन) नियमवान्। इस भेदविकल्पनका आधार स्वर-व्यञ्जनके रूपमें वर्णोंकी द्विविधता तथा उनके उच्चारणस्थान हैं। यह अलङ्कार आचार्यने **सुकर** और **दुष्कर** दोनों प्रकारका बताया है। इन उपादानोंका जितनी कम मात्रा में शुद्ध या मिश्रित रूपमें प्रयोग होगा, दुष्करता उतनी ही बढ़ती जाएगी। यदि तीनों उपादानोंमें मात्रा तथा स्वरूपकी दृष्टिसे एकरूपता कर दी जाए, तो बन्ध बहुत दुष्कर हो जायेगा। आचार्यने दोनों प्रकारकी दुष्करता उदाहरणोंसे प्रदर्शित की है। उनका एकव्यञ्जननियमवान् चित्रबन्ध (९५, पृष्ठ ११८) तो भारविके बन्ध (किरातार्जुनीय १५।१५) से भी दुष्कर है। पृष्ठ ११९ देखें।

(४) **प्रहेलिका** : प्रहेलिकाओंका प्रयोग क्रीडार्थ अत्यन्त प्राचीनकालसे होता आया है। ये वैदिक वाङ्मयमें भी मिलती है। दण्डीने उनका स्वरूप शब्दसे ही प्रकाशित हो जानेके कारण सम्भवतः नहीं बताया है। उनके दो प्रयोजन तथा उनके उपयोगके अवसर बताकर उनका स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है। ये प्रयोजन और अवसर हैं गोष्ठियों और मनोविनोदके अवसरों पर क्रीडाके निमित्त परव्यामोइन (९७, पृष्ठ १२२)। इसके बाद आचार्यने (९८-१०५ श्लोकों, पृष्ठ १२५-१३२ में) पूर्वाचार्योक्त १६ प्रहेलिकाओंके लक्षण बताए हैं। उन्होंने पूर्वाचार्योक्त दोषयुक्त १४ प्रहेलिकाओंका निरूपण उनकी दूषितताके आधार दोष अपरिसङ्ख्येय हैं, इसलिए नहीं किया। अर्थात् दुष्ट प्रहेलिकाएँ १४ तो क्या, वस्तुत उनकी गिनती करना सम्भव नहीं है। अतः जिन प्रहेलिकाओंपर उनके लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषत्व के प्रयोजकोंके कारण न घट सकें, उन्हें '**दुष्ट प्रहेलिका**' समझा जाए। उनको अलगसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है (१०६-१०७, पृष्ठ १३२-१३३)। इसके बाद (१०८-१२४ श्लोकों, पृष्ठ १३८-१५१ में) उपर्युक्त १६ साधु प्रहेलिकाओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

(५) **दोष** : इस प्रकार काव्यके आदेय तत्त्वोंको प्रस्तुत करनेके बाद आचार्य दण्डीने काव्योंमें वर्जनीय दस दोषोंका निरूपण प्रारम्भ किया है। सबसे पहले उन्होंने १२५-१२६ श्लोकोंमें उन वर्जनीय दोषोंका परिगणन

किया। फिर उनके समयमें प्रचलित न्यायशास्त्रीय अनुमिति ज्ञानके प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तमें हीनतापर आधारित एक दोषपर विचारको (१२७ वें श्लोक) कर्कशप्राय होनेसे अनावश्यक बताकर इस परिगणनको सीमित किया।

वर्गीकरण : आचार्य द्वारा बताए इन १० दोषोंको हम प्रथमतः दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं : (क) अपार्थ आदि ९ दोष (१२५ वाँ श्लोक), तथा (ख) देशादिविरोध रूप १० वाँ दोष (१२६ वाँ श्लोक)।

(क) अपार्थ आदि ९ दोषोंमें से १ अपार्थ, और २ व्यर्थ विवक्षित अर्थ को ठीकसे न कह पानेसे सम्बद्ध **अर्थदोष** हैं। ३ एकार्थ (पौनरुक्त्य) शब्द-गत और अर्थगत दो प्रकारका है। ४ ससंशय, ५ अपक्रम काव्यमें वर्णित वस्तुओं को उक्त (शब्दोपात्त) या औचित्यलब्ध (न्यायोपात्त) क्रमसे न रखनेसे होने वाला दोष है। शेष चार ६ शब्दहीन, ७ यति-भ्रष्ट, ८ भिन्न-वृत्त और ९ विसन्धिक दोष व्याकरण और छन्दःशास्त्रके नियमोंके उल्लङ्घनसे होने वाले शास्त्रीय **शब्दगत** दोष हैं। इन ९ दोषोंमें से ७ यति-भ्रष्ट, ८ भिन्नवृत्त नित्य दोष हैं, जबकि शेष ७ दोष विशेष परिस्थितियोंमें ग्राह्य भी हो जाते हैं। अतः अनित्य दोष हैं।

(ख) दूसरे वर्गके **देशादिविरोध** दोषके छह भेद हैं। दण्डीने दोषोंकी भरतोक्त सङ्ख्याको बनाए रखनेके लिए ही इस दोषको एक दोषके रूपमें जोर देकर बताया है। वस्तुतः तो इसके आधार परस्पर बहुत भिन्न हैं। उन्हें यदि एक नहीं कहा जा सकता, तो उनपर आधारित दोष कैसे एक हो सकते हैं? इसलिये इस दोषको एक दोष न कहकर छह दोषोंका एक वर्ग मानना उचित है। ये दोष कविके वर्ण्य देश, कालचक्र, इतिहास, लोक-वृत्त, सामाजिक गठन, विभिन्न विद्याओं और वेदादि शास्त्रोंके ज्ञानमें त्रुटि होनेसे—दण्डीके शब्दोंमें 'कविके प्रमादसे'—आते हैं। इन दोषोंको पकड़ना भी आसान नहीं है। कवि और सहृदय दोनोंको इनके त्रुटिरहित ज्ञानकी अपेक्षा होती है। पिछले वर्गके अधिकांश दोषोंके समान ये छहों दोष अनित्य दोष हैं। परिस्थितिविशेषमें इनके विषयमें त्रुटियुक्त कथन दोष न रहकर गुण बन जाते हैं।

(क) इस वर्गके दोषोंके वर्णन (श्लोक १२८-१६१) में आचार्यने इनके लक्षण, उदाहरण देकर दोषता तो बताई ही है, वे परिस्थितियां भी वे साथ-साथ बताते चले हैं, जिनमें ये दोष न रहकर गुण बन जाते हैं।

(ख) **देशादि विरोध** दोषका वर्णन उन्होंने (i) इस दोषके आधार **देश** आदि छह विषयोंके भेदोंका उपलक्षण (श्लोक १६२-१६३ में) करके (ii)

उसका लक्षण (१६४ में) बताकर फिर (iii) प्रत्येक भेदके अवान्तर भेदोंके उदाहरण (१६५-१७८ श्लोकोंमें) देकर किया है ।

देशादिके विषयमें प्रमादसे प्रसिद्धिविपरीत कथन **देशादिविरोध** दोष होता है । किंतु कविके द्वारा कौशलसे जानबूझकर किया इस प्रकारका कथन 'दोष' न कहलाकर 'गुण' कहलाता है (१७९) । अगले छह (१८०-१८५) श्लोकोंमें आचार्यने देशादिविरोधी कथनोंकी गुणताके छह उदाहरण प्रस्तुत करके अपने कथनको पुष्ट किया है ।

उसके बाद एक (१८६ वें) श्लोकमें आचार्य दण्डीने तृतीय परिच्छेदके वर्ण्य विषयोंका परिगणन करके अपने विस्तीर्ण निरूपणको 'संक्षेपसे दिखलाना' बताकर अपना विनय और शास्त्रकी अनन्तता सूचित की है ।

इसके अनन्तर (१८७वें श्लोकमें) उन्होंने पूर्व परिच्छेदोंके समान इस परिच्छेदका भी उपसंहार इस परिच्छेदके विशेष कथ्य दोषता और गुणताका महत्त्व एक कमनीय कल्पनासे करके परिच्छेदकी समाप्ति की है ।

समाप्तिपद्यमें 'दोष-गुण' को विशेष महत्त्व देकर आचार्य कदाचिद् यह सूचित करना चाहते हैं कि यदि परिस्थितिविशेषमें कोई दोष गुण बन जाता है, तो परिस्थितिविशेषमें कोई गुण भी दोष बन सकता है, यह इस विवेचनसे व्युत्पन्न बुद्धि वाले कवि और सहृदयको समझ लेना चाहिए ।

इस श्लोकमें अनुपद उक्त दोषोंकी दोषता और गुणतामात्रके उल्लेखसे यह भी सूचित होता है कि यह श्लोक काव्यादर्शका अन्तिम श्लोक नहीं है । आचार्य इसे तृतीय परिच्छेदकी फलश्रुतिके कथनके रूपमें ही दे रहे हैं । यदि यह ग्रन्थका अन्तिम श्लोक होता, तो आचार्य पिछले विषयसङ्ग्रह श्लोकमें तथा यहाँ भी समूचे काव्यादर्शसे सम्बद्ध कुछ बातें कहते । कला-परिच्छेदकी वक्ष्यमाणताके उनके कथनको देखते हुए भी इस परिच्छेदकी समाप्तिपर काव्यादर्शकी समाप्ति सिद्ध नहीं होती ।

भगवती भवितव्यतासे प्रार्थना है कि वे अपने आँचलमें छुपे इस अंशको प्रकाशित करें और उसकी व्याख्या करनेका अवसर तथा शक्ति मुझे, इस जन्ममें तो उन विषयोंका ज्ञान सम्भव नहीं अतः, जन्मान्तरमें प्रदान करें । बहुत अच्छा हो, मेरा जन्म भी काञ्चीकी उस पावन भूमिमें ही हो, जो आचार्य दण्डीके चरणोंसे पवित्र हुई है ।

४. **प्रसादिनीके बारेमें कुछ**—आचार्य भरतका नाट्यके बारेमें यह कथन काव्यपर भी पूरी तरहसे लागू होता है कि न ऐसा कोई ज्ञान है, न ऐसा

कोई शिल्प है, न ऐसी कोई विद्या है, न ऐसी कोई कला है, न ऐसा कोई योग है, न ऐसा कोई कर्म है, जो नाट्यमें नहीं दिखलाई देती, उपयोगी नहीं होती।[1] बड़े लोगोंकी बड़ी बात। बड़े कवियोंके काव्य, बड़े आचार्योंके शास्त्र इतने अधिक व्यापक होते हैं कि उन्हें हृदयंगम कर पाना बहुत कठिन होता है। तब उन्हें औरोंको समझाना तो और भी कठिन कार्य है। एक शास्त्र अपने अनुकूल प्रतिकूल बहुतसे शास्त्रोंसे गहराईसे जुड़ा होता है। फिर सबसे ऊपर अत्यन्त दुरूह लोकवृत्त, जिसे वे कभी भी आँखसे ओझल नहीं करते। आचार्य दण्डीका **काव्यादर्श** तो **शास्त्र** भी है और **काव्य** भी। अतः इसकी विषय वस्तुकी व्यापकताको परिसीमित कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य। मेरे जैसे साधारण बुद्धि, साधारणतर ज्ञान और साधारणतम शक्ति वाले ब्राह्मण वटुका उसकी व्याख्या करके उसके प्रसादनका प्रयास महासाहसका कार्य या, दुःसाहसिक अभियान !

मैं अपने इस लक्ष्यमें कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह तो विज्ञ जन जानेंगे। मैंने तो अपनी शक्तिभर श्रम करके **काव्यादर्श**के दुरूह मर्म तक पहुँचनेकी चेष्टा करके अपना जन्म कृतार्थ मान लिया है। जिन दिनों यह कार्य चल रहा था, उन दिनों में नित्य गङ्गास्नानकी पावनता अनुभव करता था।

प्रसादिनीके तीनों परिच्छेदोंके अन्तमें संलग्न सन्दर्भग्रन्थसूचीसे पाठकको यह समझना कठिन नहीं होगा कि काव्यादर्शके मर्मोद्घाटनमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, शिक्षा (प्रातिशाख्य), कल्प (श्रौत सूत्र), छन्द, निरुक्त, व्याकरण, कोष, दर्शनशास्त्रकी आस्तिक नास्तिक कई शाखाओं, पुराण, इतिहास (महाभारत), कामसूत्र, गद्य-पद्य-नाटक काव्य, काव्यशास्त्रकी भरतसे प्रारब्ध शोभाकर मित्रान्त लम्बी परम्परा तथा बादके भी कई आचार्यों, इनके टीकाकारों, आधुनिक लेखकों, इतिहास ग्रन्थों, भू-भौतिकी, सङ्गीतशास्त्र आदि ज्ञानकी नाना शाखा-प्रशाखाओंका सहारा लेना आवश्यक हुआ है। अपनी तरफसे कोई कोशिश छोड़ी नहीं है।

ग्रन्थका मुद्रण शुद्ध हो, इसका यथासम्भव प्रयास किया है। तथापि मानवसुलभ त्रुटियों, अकेले लेखन, प्रूफशोधन आदि समस्त कार्यभारके वहन की व्यस्तता-व्यग्रता, प्रेसके प्रमाद आदि विविध कारणोंसे यत्रतत्र अशुद्धियाँ रह गई हैं। कृपालु पाठकोंको सुबोध होनेसे उनके **शुद्धिपत्र**की आवश्यकता नहीं समझी है।

---

१. न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
नासौ योगो, न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ नाट्यशास्त्र १।११६

५. **आभार**—अन्तमें मैं अपने कार्यमें सब कृपालु उपकारक प्रिय मित्रों डॉ० सत्यदेव चौधरी, डॉ० रविशङ्कर नागर, डॉ० योगेश दत्त शास्त्री, डॉ० शत्रुघ्न शुक्ल, डॉ० जगदीशचन्द्र मूना (निदेशक, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, माडल टाउन), दिवङ्गत विभूति डॉ० भोलानाथ तिवारी तथा अपने किरोड़ीमल महाविद्यालयमें विषयान्तरके सहयोगियों श्री गुम्मा जानकीरामराव, तथा डॉ० गिरीशचन्द्रका अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रिय सहधर्मिणी श्रीमती कुसुम शर्माके मौन किन्तु सर्वाधिक उपयोगी सहयोगका तो आभार प्रकट कर पाना सम्भव ही नहीं है।

परिमल पब्लिकेशंस् २७/२८, शक्तिनगर, दिल्ली, के स्वामी आयुष्मान् श्री कन्हैयालाल जोशीका तथा मुद्रक नवीन प्रिन्टर्स्, ई-१५०, कृष्णविहार दिल्ली, के स्वामी श्रीभगवान्दास यादवका भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

(निवेदन)

वृषं जिगमिषावर्के सोमवारे निशामुखे।
ऋष्याश्रमखनेत्राख्ये[२०४७] सुभानौ वैक्रमेऽब्दके॥
ज्येष्ठे कृष्णे चतुर्थ्यां च मईदिने चतुर्दशे।
नभोऽङ्काङ्कभूवर्षे[१९९०] ईसवीयेऽक्षि-बाणके॥
गतेऽब्दे वयसः प्रीत्या गुरूणां कृपया मयि।
पूर्वेषामाशिषां राश्या पुण्यैः समुदितैर्मम॥
शाब्द्येषा ग्रथिता स्रग्वै दण्डि-हार्द-प्रसादिनी।
सम्पूर्णाऽर्थच्छटाशुभ्रा शास्त्र-चर्चा-सुगन्धिनी॥
ध्यात्वा पादयुगे गौर्यास्तदङ्क-भूषि-तुन्दिनः।
अर्प्यते श्रद्धया तत्र विधाय मौलिनाऽञ्जलिम्॥
शिवनारायणः शास्त्री समभ्यर्थयते बुधान्।
अशेष-स्नेहतः शेषा कण्ठे यत् क्रियतामियम्॥
अलं प्रार्थनया वाऽस्तु गुणगृह्या विपश्चितः।
गुणानस्यां लभेरंश्चेत् स्वयं कुर्युर्हि मस्तके॥
दूराद् गन्धमुपाघ्राय वने क्षुप-समावृतम्।
अपि पुष्पं स्तुवन्तो वै चञ्चरीका मधु-व्रताः॥

ई ४/२५, माडल टाउन, —**शिवनारायणः शास्त्री**।
दिल्ली—११०००९।

विषयानुक्रमणी

(४) **ससंशय** (१३९) १६८, भरतके भिन्नार्थकी व्याख्यासे यह दोष निकल सकता है, भामहके मतमें १६९, उदाहरण (१४०), ससंशय अनित्य दोष है (१४१) १७०, अलङ्कारताका उदाहरण (१४२) १७१, सङ्गति (१४३), समान भाव शाकुन्तलम्में, भामहका ससंशय १७२;

(५) **अपक्रम** (१४४), १७२, उदाहरण (१४५), अपक्रम अनित्य दोष है (१४६) १७३, उदाहरण (१४७), भामहसम्मत ससंशय १७४;

(६) **शब्दहीन** (१४८) १७५, उदाहरण (१४९) १७७, व्याकरण-नियमके उल्लङ्घनमें भी निर्दोषताका उदाहरण (१५०) १७८, रत्नश्रीज्ञान का मत उचित नहीं है, शास्त्रोल्लङ्घनमें भी दोषाभावताकी सङ्गति (१५१) १७९, भरत और भामहसम्मत शब्दहीन;

(७) **यतिच्छेद** (१५२) १८०, यतिका स्वरूप १८१, यतिभ्रष्टका उदाहरण (१५३) १८३, उचित यतिका उदाहरण (१५३) १८४, पदमध्यमें विरामके अदोषत्वकी सङ्गति (१५४), कर्णकटु पदमध्यविराम वर्जनीय है (१५५) १८६, भरतने यतिभ्रष्टको 'विषमवृत्त' दोषमें समाहित किया है, प्राचीन दृष्टि १८७, भामहका यतिभ्रष्ट दण्डीके यतिभ्रष्टसे भिन्न है १८८, निष्कर्ष;

(८) **भिन्न-वृत्त** (१५६) १८८, छन्दमें अपेक्षित तीन बातें—(क) अक्षरोंकी नियत संख्या १८९, (ख) लघु गुरु-विन्यास १९०, (ग) यति, (क. i) पादमें अक्षरकी न्यूनतासे भिन्नवृत्तताका उदाहरण (१५७), (ii) अक्षरकी अधिकतासे भिन्नवृत्तताका उदाहरण (१५७), (ख i) लघुके स्थानमें गुरुके प्रयोगसे भिन्नवृत्तताका उदाहरण (१५८) १९१, (ii) गुरुके स्थानमें लघुके प्रयोगसे भिन्नवृत्तताका उदाहरण (१५८), मतभेद; भरतने इसे 'विषम' नामसे दिया है १९२, भामहका 'भिन्नवृत्त';

(९) **विसन्धि** (१५९) १९३, (क) उदाहरण (१६०), पाठभेद १९४, (ख) निर्दोष विच्छेदके उदाहरण (१६१), भरतसम्मत विसन्धि १९५, अभिनवगुप्तसम्मत सन्धिके तीन प्रकार, पाठपर विचार (पादटिप्पणी १), भामह का मत १९६, वामनका मत, परवर्ती आचार्यों द्वारा समन्वयका प्रयास;

(१०) **देशादिविरोध** दोषके आधार देशादिके भेद (१६२-१६३) १९७-२००, इस दोषका मूल भरतके 'न्यायापेत'में है, काव्यके छह प्रमेयोंका दण्ड्युक्त स्वरूप : (क) देश, (ख) काल, (ग) कला (१६२) १९७, (घ) लोक, (ङ) न्याय, (च) आगम (१६३) १९९, इस दोषका लक्षण (१६४) २००, भामह और वामनके मत;

टीकाकी समाप्तिकी तिथि २३२;

काव्यादर्श-प्रशंसा २३३, दण्ड्याचार्यस्तुति, टीकाकारका परिचय, वृत्ति तथा रचनाओंका परिगणन २३४,

परिशिष्ट—१. तृतीय-परिच्छेदकी श्लोक-सूची २३५, २. प्रसादिनी-मङ्गलश्लोक-सूची २३८, ३. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची २४०।

शुद्धिपत्र

१. पृष्ठ १४६, श्लोक १२२ : **केन कः सह सम्भुय**

२. पृष्ठ २०६, पादटिप्पणी ५ में जोड़ें :

षड्ज-मध्यम-गान्धारास्त्रयो ग्रामाः प्रकीर्तिताः।
भूर्लोकाज्जायते षड्जो भुवर्लोकाच्च मध्यमः ।। नारदीय शिक्षा १।२।६
स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो नारदस्य मतं यथा। ७

३. पृष्ठ २०७, पादटिप्पणी २ में जोड़ें :

स्वररागविशेषेण 'ग्रामराग' इति स्मृताः ।। नारदीय शिक्षा १।२।७

—०—

प्राप्य सरस्वती सुतं यदियं सुपुत्रा पुण्यतमा धरा भवेच्च सदङ्कभूषा।
भावमयं वपुस्त्वदीयं हृदये निधाय प्रार्थयते शिवस्त्वदा शिषमेष दण्डिन् ।।
सुभूमिकाविषयक्रमैर्बुधां वचसां परीक्षणैः सुकवेर्गभीरभावगुहाम्।
प्रविश्य भावमणिप्रसादनैर्विबुधां शुभाशिषो दधती प्रसादिनी जयतात् ।।

व्याख्याता विबुधैः सद्भिर्बहुधाऽयं तु दण्डिनः।
ग्रन्थस्तथाऽपि वैशिष्ट्यं प्रसादिन्या विलोक्यताम् ।।

।। श्रीदण्डयाचार्यविरचितः ।।

काव्यादर्शः

'दुष्कर' नामक तृतीय परिच्छेद

(१ यमकका लक्षण तथा भेद)

अव्यपेत-व्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः । यमकम्;

वर्णसमुदायकी अव्यवहित और व्यवहित स्वरूप वाली विशिष्ट आवृत्ति 'यमक' होती है ।

प्रसादिनी

चित्रं विचित्रसम्भारं जगच्चित्रं वितन्वती ।
गुणाढ्या मे महादेवी शिवस्य भावयेच्छिवम् ।। १ ।।

सत्त्वाहिते तु चैतन्ये विष्णुपत्नी त्रिवर्गदा ।
रजोमुख्ये च तत्रेयं वाग्देवी सृष्टिकारणम् ।। २ ।।

तमःप्रधानचैतन्या दुर्गेयं भक्तरक्षिणी ।
नाशिनी दुष्टवर्गस्य; भव्यं मे भावयन्त्विमाः ।। ३ ।।

कृत्वा नखमणीन्स्वान्ते शुचिकान्तींस्तमोऽपहान् ।
बुधैश्च विबुधैश्चैव नित्यं भक्त्यानुराधितान् ।। ४ ।।

शुचौ शुचौ रवौ पुष्ये द्वितीयेऽप्से कलानिधौ ।
प्रातरन्त्यपरिच्छेदव्याख्यानं प्रारभे शिवः ।। ५ ।।

आचार्य दण्डीने द्वितीय परिच्छेदमें अर्थालङ्कारोंके निरूपणके बाद तृतीय परिच्छेदमें (१) काव्यशरीरकी शोभा शब्दके माध्यमसे सम्पन्न करने वाले शब्दालङ्कारोंका तथा (२) उसकी शब्दार्थोभयगत शोभाकी प्राप्तिमें व्याघात करने वाले दोषोंका निरूपण किया है ।

शब्दके माध्यमसे शोभा शब्दोंकी पच्चीकारीसे निष्पादित की जाती है। इस पच्चीकारीके दो प्रकार मुख्य हैं : (क) अनुप्रास और (ख) यमक। दोनोंमें शब्दके घटक वर्णोंकी आवृत्ति होती है। (क) जब यह आवृत्ति सामान्य होती है, एकाध वर्ण तक सीमित रहती है, या एक ही वर्णकी आवृत्ति न होकर नाना वर्णोंकी उनके उच्चारणके स्थान, प्रयत्न, मात्रा आदिकी समानताके रूपमें होती है, तब **अनु** अनुगामी या अनुकूल रूपमें शोभाकारक होनेसे **प्र** प्रकृष्ट रूपमें **√अस्** रखनेके कारण **अनु+प्र+√अस्+घञ्** योग से **'अनुप्रास'** कहलाती है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतात्मक स्वरकी शोभाधायकता[1] छन्दके माध्यमसे अधिक होती है, **अनुप्रास**की दृष्टिसे कम। इस लिये काव्यशास्त्रके आचार्योंने शब्दमें शोभाका आधान करने वाले अलङ्कारोंमें स्वरसाम्य, या स्वरोंकी आवृत्तिको अधिक महत्त्व नहीं दिया है। इस दृष्टिसे व्यञ्जनके साम्य और आवृत्तिपर ही अधिक ध्यान दिया गया है। अतः 'वर्ण'के 'स्वर' और 'व्यञ्जन' दो भेद होते हुए भी 'वर्ण' शब्द भरत आदिके द्वारा 'व्यञ्जन'के लिये अधिक प्रयुक्त हुआ है। स्वतन्त्र या वर्णारूढ स्वरोंके लिये तो 'अक्षर' सञ्ज्ञाका प्रयोग हुआ है।[2]

भरतने काव्यबन्धोंमें उदार एवं मधुर शब्दोंका प्रयोग आवश्यक बताया है।[3] शब्दोंमें माधुर्य समान ललित वर्णोंके न्याससे ही सम्भव है। भरतके अनुसार काव्यको मृदु एवं ललित पदोंसे भरपूर होना चाहिये।[4] पदोंमें मृदुता कोमल वर्णोंके अधिक प्रयोगसे आती है, और लालित्य समान वर्णोंके विन्यास से, अर्थात् अनुप्राससे। आचार्य दण्डी इसे प्रथम परिच्छेदके गुण-प्रकरणमें विस्तरेण बता चुके हैं। अनुप्रासका भी भरपूर विवेचन हम वहाँ (पृष्ठ १२४-१२७में) कर चुके हैं।

भरतने अनुप्रासका निरूपण पृथक्से नहीं किया है। उन्होंने यमकको पर्याप्त विस्तारसे दिया है।

---

१. ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम्।
काव्ययोगेष्वक्षराणि यथाशोभं निवेशयेत्॥ नाट्य० १६।१२०

२. एकमात्रं भवेद्ध्रस्वं, द्विमात्रं दीर्घमिष्यते।
प्लुतं चैव त्रिमात्रं स्यादक्षरं वर्णसंश्रयम्॥ नाट्य० १६।११७

३. ये बन्धाः पूर्वमुद्दिष्टा विषमार्धसमासमाः।
उदारमधुरैः शब्दैः कार्यास्ते स्यू रसानुगाः॥ नाट्य० १६।१२१

४. मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
···भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्। १६।१२४

यमक : लक्षण—यमकका शास्त्रीय निरूपण सर्वप्रथम **भरत**के नाट्यशास्त्रमें मिलता है : शब्दका अभ्यास तो यमक होता है।[१] यहाँ 'तो' पूर्वानुवृत्त अर्थालङ्कारोंसे भेद दिखाता है कि यमक अर्थालङ्कारोंसे भिन्न शब्दालङ्कार है। **'शब्द'** 'अर्थवान् वर्णसमुदाय' होता है, जो विभक्तिप्रत्यय लगने पर 'पद' कहलाता है। अतः वह भी 'शब्द' है। पदसमुदाय 'वाक्य' कहलाता है। अतः वह भी 'शब्द' है। यह 'शब्द' वर्णोंसे घटित होता है। अतः अभिनवगुप्तके अनुसार 'वर्ण' भी 'शब्द' है। इस प्रकार भरतके 'शब्द' में वर्णसे लेकर पदसमुदायात्मक वाक्य तक समाविष्ट हैं।[२] **'अभ्यास'** आवृत्तिको कहते हैं। **'यमक'** शब्द **'यम'** (जुड़वाँ) **से** स्वार्थे 'क' प्रत्ययसे निष्पन्न है।[३] इस प्रकार एक वर्णकी आवृत्तिसे लेकर शब्द पद और वाक्यकी आवृत्ति 'यमक'के रूपमें अभिप्रेत है। इससे स्पष्ट होता है कि भरत अनुप्रास की अलगसे सत्ता नहीं मानते। अनुप्रासकी सर्वप्रथम चर्चा **दण्डी** और **भामह** के ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। भामहमें दण्डीकी अपेक्षा विकसित रूपमें उपलब्ध होती है। भामहके अनुप्रासविवरणको और आगे बढ़ाया है **उद्भट**ने।

दण्डीने भरतके **'शब्दाभ्यास'**को दो भेदोंमें बाँटा है : (क) वर्णरूप शब्द की आवृत्तिमें 'अनुप्रास' होता है और (ख) वर्णसमुदायकी आवृत्तिमें यमक।[४] दण्डीके अनुप्रासके विवरण और बादके इतिहाससे विदित होता है कि **अनुप्रास**का आरम्भिक रूप वही है, जो बादमें **'वृत्त्यनुप्रास'**के नामसे विकसित हुआ है। उसके अनन्तर **'श्रुत्यनुप्रास'** अस्तित्वमें आया। भरतके **'शब्दाभ्यास'**से दण्डीके उत्तरवर्ती लोगोंने शब्द और पदकी आवृत्तिसे भी अनुप्रासका एक अन्य प्रकार विकसित किया, जो **'लाटानुप्रास'**के नामसे विदित हुआ। **'यमक'**के अन्तर्गत जो समानार्थक (अभिन्नार्थक) शब्दोंका अभ्यास होता था, वह इस (लाटीय) अनुप्रासके नामसे विदित हुआ। बाकी जो बचा, वह 'यमक' रहा। अर्थात् (क) अभिन्नार्थक शब्दकी या (ख) निरर्थक शब्दकी (यानी शब्दके अवयव वर्णसमुदायकी) आवृत्ति होनेपर 'यमक' माना गया।

---

१. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्…। नाट्यशास्त्र० १६।५९

२. अभिनवभारती १६।५९ : तुरर्थालङ्कारेभ्यो व्यतिरेकमाह। 'शब्द'-शब्देन वाक्यं, पदं, तदेकदेशो वर्ण इति सर्वं गृह्यते।

३. यमकं यमजे, शब्दालङ्कारे, पुंसि संयमे। मेदिनीकोष १।१४२

४. काव्यादर्श १।५५ : वर्णावृत्तिरनुप्रासः। ६१ : आवृत्तिमेव सङ्घातगोचरां यमकं विदुः। 'विदुः'के कर्ताके रूपमें दण्डीको भरत अभिप्रेत हैं।

पर यह स्थिति दण्डीके पश्चात्की है। भरतके उदाहरणोंमें (१) **भिन्नार्थक**, (२) **समानार्थक**, तथा (३) **निरर्थक**, तीनों प्रकारके शब्दोंकी आवृत्ति उदाहरणोंमें उपलब्ध है :

चक्रवालयमकके उदाहरणमें[1] '**पुङ्गवैः खगैः**'में प्रथम '**खगैः**' शब्दावयव होनेसे निरर्थक है, '**खगैः । खगैः**'में दोनों भिन्नार्थक हैं। इसी प्रकार '**सञ्चिताश्चिताः**'में समानार्थक शब्दका तात्पर्यभेदसे प्रयोग है। '**चिताश्चिता**' में भिन्नार्थता है। इसी प्रकार **चतुर्व्यवसित** यमकके उदाहरण (१६।८२)में भी '**वारण**' शब्दसे 'वारण' नामक पुष्प, हस्ती, वारणक्रियायुक्त शत्रु, भिन्न-भिन्न **अर्थ** प्रतीत होते हैं। चतुर्थ पादमें 'वा रणानां' छेदसे और ही अर्थ अभिप्रेत है। इससे स्पष्ट है कि '**लाटानुप्रास**'को भरत **यमक**से पृथक् नहीं मानते।

आचार्य दण्डीने भरतके यमकलक्षणको स्पष्ट किया है। प्रथम परिच्छेद में वर्णावृत्तिको '**अनुप्रास**' कहा था, तो वर्णसङ्घातकी आवृत्तिको '**यमक**'। यमकके बारेमें यह कथन भरतके यमकलक्षणका स्पष्टतर शब्दोंमें अनुवाद ही है। अब इसके उचित अवसरपर उन्होंने भरतके लक्षणसे तीन बातें विशेषकीं हैं : (१) भरतके '**शब्द**'से पर्यवसित 'वर्णसमुदाय'का स्पष्टतया कथन किया; (२) '**अभ्यास**'के पर्याय 'आवृत्ति'का प्रयोग करके उसमें '**वि**'के योगसे 'विशिष्टता' और 'विविधता'को जोड़ा : शोभाकारक तथा विविध प्रकारके न्यासके रूपमें आवृत्ति = व्यावृत्ति; (३) इस व्यावृत्तिका एक विशेषण दिया, जो भरतने नहीं दिया था : **अव्यपेत-व्यपेतात्मा**।

यमकके मूल भेद : 'अव्यपेत०' में '**अव्यपेत**' और '**व्यपेत**'का समास है, जिसका विग्रह दो प्रकारसे हो सकता है :—(क१) **न व्यपेतः = अव्यपेतः। स च** (२) **व्यपेतश्चेति अव्यपेत-व्यपेतौ** (इतरे० द्वन्द्व) **तौ आत्मानौ यस्य, सोऽव्यपेत-व्यपेतात्मा** (बहु०)। अर्थात् जिसका स्वरूप (१) अव्यपेत है, और (२) व्यपेत है, इस तरह दो प्रकारका है, वह व्यावृत्ति। (ख)**अव्यपेतश्च व्यपेतश्च, तयोः समाहार इत्यव्यपेतव्यपेतम्, तद् आत्मा यस्याः, सा**। अर्थात् जिसका स्वरूप अव्यपेत और व्यपेतका समाहार (मिश्र) है, वह व्यावृत्ति। इस प्रकार यहाँ (१) अव्यपेतात्मक, (२) व्यपेतात्मक और (३) अव्यपेत-

---

१. 'शैला यथा शत्रुभिराहता **हता** हताश्च भूयोऽप्यनु **पुङ्गवैः खगैः**।
खगैश्च सर्वैर्युधि **सञ्चिताश्चिताश्चिता**ऽधिरूढा निहतास्तलैस्तलैः ॥'
नाट्य० १६।७४

तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ १ ॥
एक-द्वि-त्रि-चतुष्पादयमकानां विकल्पना ।

और वह पादोंके आदि मध्य और अन्तमें होता है ॥ १ ॥

एक, दो, तीन और चार पादोंमें यमकोंके (१) आदिमें, (२) मध्यमें

व्यपेतोभयात्मक, ये तीन भेद यमकके निष्पन्न होते हैं। रत्नश्रीज्ञान, वादिजङ्घाल देव और तरुणवाचस्पतिने यहाँ प्रथम दो भेद ही बताये हैं: पर आचार्य दण्डीने आगे तृतीय भेद भी बताया है: 'अव्यपेत और व्यपेतके अतिरिक्त अव्यपेतव्यपेतात्मा भेद भी है (३३)' कहकर तीन (३४-३६) श्लोकोंमें इसके उदाहरण दिये हैं। अतः त्रिविधता ही आचार्यसम्मत है। अव्यवधानसे आवृत्ति व्यवहितकी अपेक्षा अधिक श्रुतिसुख देती है, इस लिये द्वन्द्वमें अल्पाच्चतरका पूर्व प्रयोग न करके अभ्यर्हित होनेसे 'अव्यपेत'का पूर्व प्रयोग किया है। '**व्यपेत**' शब्द '**वि+अप+√इ+क्त**'से निष्पन्न है और 'व्यवहित'का पर्याय है। व्यवधान आवृत्त वर्णसमुदायसे भिन्न वर्णोंका ही होगा। अतः (१) व्यवधानसे रहित, अर्थात् वर्णसमुदायकी निरन्तर, विशिष्ट आवृत्तिसे 'यमक' निष्पन्न होता है, (२) वर्णान्तरके व्यवधानमें वर्णसमुदायकी विशिष्ट आवृत्तिसे भी यमक होता है, तो (३) इन दोनों प्रकारोंके मेलसे भी होता है। इस प्रकार दण्डीने यमकके ये तीन मूल भेद भी यहाँ लक्षणमें ही बता दिये हैं: (१) **अव्यपेतयमक**, (२) **व्यपेतयमक**, (३) **अव्यपेत-व्यपेतयमक**।

भरतने यमकके भेदोंका आधार पादके विभिन्न अवयवों 'आदि', 'अन्त' को बताकर इसके कुल दस भेद किये हैं: (१) **पादान्त**में, (२) आदि और अन्तमें **काञ्ची** (शृङ्खला), (३) विषम और सम पादोंमें **समुद्ग**, (४) एक पादके व्युत्क्रमणसे पादावृत्ति करके **विक्रान्त**, (५) पूर्वपादान्तकी अगले पादके आदिमें आवृत्ति करके **चक्रवाल**, (६) आदिमें आवृत्तिसे **सन्दष्ट**, (७) चारों पादोंके आदिके समान अक्षरोंके विन्याससे **पादादियमक**, (८) चारों पादोंके अन्तमें एक पदकी द्विरुक्तिसे **पादान्ताम्रेडित**, (९) चारों पादोंमें समान अक्षरविन्याससे **चतुर्व्यवसित**, और (१०) एक व्यञ्जनके नाना रूप वाले स्वरोंसे युक्त होनेपर **माला** नामक यमक बताये हैं[1] ॥ १ ॥

आचार्य दण्डीने भरतकी '**पादादिषु विकल्पतम्**' उक्तिका विस्तार निम्न प्रकारसे किया है: (१) एक पाद, (२) दो पादों, (३) तीन पादों और

---

१. नाट्यशास्त्र १।६२-८५ देखें।

आदिमध्यान्त-मध्यान्त-मध्याद्याद्यन्त-सर्वतः ॥ २ ॥

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः ।

या (३) अन्तमें, (४) मध्य और अन्तमें, (५) मध्य और आदिमें, (६) आदि और अन्तमें तथा (७) सब जगहोंमें होनेसे निष्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

उनके आपसमें मिश्रणसे बनने वाले भेद मात्रामें बहुत ही अधिक हैं ।

(४) चार पादोंके (१) आदिमें, (२) मध्यमें या (३) अन्तमें अथवा (४) मध्य और अन्तमें, अथवा (५) मध्य और आदिमें, (६) आदि और अन्तमें तथा (७) आदि, मध्य और अन्त तीनों जगह वर्णसमुदायोंकी त्रिविध (अव्यपेत, व्यपेत और उभयात्मक) आवृत्तिसे इन भेदोंका स्वरूप बनता है। अन्तिम प्रकारमें समूचे पादोंकी भी आवृत्ति हो सकती है ।

तरुणवाचस्पतिके अनुसार ऊपर बताये चार पादोंके आदि, मध्यप्रभृति सप्तविध स्थानोंमें अव्यवहित और व्यवहित वर्णसमुदायकी आवृत्तिसे सम्पन्न यमकोंके सामान्यतः २१० भेद निष्पन्न होते हैं । तद् यथा—(१) आदि यमक—(क) प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादोंके आदिमें यमकके **चार भेद** निष्पन्न होते हैं । (ख. अ) पहले और दूसरे, तीसरे और चौथेके आदि में सम्पन्न यमकके **तीन** भेद होते हैं । (आ) दूसरे और तीसरे, चौथे पादोंके आदिमें यमकके **दो** भेद हुए । (इ) तृतीय और चतुर्थ पादोंमें आवृत्तिसे **एक** भेद बना । इस प्रकार द्विपादादियमकके **छह भेद** बनते हैं । (ग. अ) प्रथम, द्वितीय, तृतीय पादोंके आदिमें, (आ) प्रथम द्वितीय और चतुर्थ पादों के आदिमें, (इ) प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पादोंके आदिमें, (ई) द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादोंके आदिमें, इस प्रकार त्रिपादादियमक के **चार** भेद निष्पन्न होते हैं । (घ) चारों पादोंमें आवृत्तिसे **एक** ही यमक निष्पन्न होता है । इस प्रकार आदियमकके एक पादमें ४, दो पादोंमें ६, तीन पादोंमें ४, एवं चार पादोंमें (१) कुल मिलाकर १५ भेद सम्पन्न हुए । यही सङ्ख्या (२) मध्ययमक, (३) अन्तयमक, (४) आदि-मध्ययमक, (५) आद्यन्तयमक, (६) मध्यान्तयमक तथा (७) आदि-मध्यान्तयमककी होगी । इससे इन सातोंके १०५ भेद निष्पन्न होते हैं । इन्हें (१) अव्यपेत, (२) व्यपेत[1] भेदोंमें गुणितकरनेसे २१० और (३) अव्यपेत-व्यपेतके १०५ भेद मिलानेसे यमकके कुल ३१५ भेद बनते हैं ॥ २ ॥

इन ३१५ भेदोंके परस्पर मिश्रणसे सम्पन्न होने वाले भेदोंकी गणना

१. तरुणवाचस्पतिके मतमें यही भेद दण्डिसम्मत है ।

(क) सुकरा (ख) दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन ।। ३ ।।

उनमेंसे (क) आसानीसे रचित होने वाले और (ख) कठिनाईसे रचित होने वाले कुछ भेद (आगे) देखे जा रहे हैं ।। ३ ।।

नहीं की जा सकती । अतः मिश्रणसे भी यमक निष्पन्न होते हैं, यह एक दिग्दर्शन ही समझना चाहिये ।

इसके बाद आचार्यने सभी यमकोंके (क) सुकर और (ख) दुष्कर भेद किये हैं । इन अनन्त भेदोंका उदाहरणसे प्रदर्शन सम्भव नहीं है । अतः उनमें से कतिपय भेदोंके उदाहरण आचार्यने दिये हैं । (क १) सुकर अव्यवहित पादादि यमकोंके उदाहरण ४-१८ श्लोकोंमें, (२) व्यपेत सुकर पादादियमक के २०-३२में, (३) उभयात्मक सुकर आदियमकके उदाहरण ३४-३६में दिये हैं । (ख) दुष्कर यमकोंके कतिपय उदाहरण ३९-७७ में दिये हैं ।

भामहने यमकका निरूपण दस (काव्यालङ्कार २।९-१८) श्लोकोंमें बड़े अस्तव्यस्त प्रकारसे किया है : (क) उन्होंने भरतके **सन्दष्टक** और **समुद्ग** आदि भेदोंको (१) पादोंके आदिमें, (२) दो पदोंके मध्य और अन्तमें यमक, (३) पादाभ्यास, (४) आवली, (५) सब पादोंमें यमकके रूपमें दिया है । दशम श्लोकके उत्तरार्धमें सम्भवतः ९वें श्लोकका प्रथम पाद ही स्पष्ट किया गया है, ताकि उसे (१) आदि, (२) मध्य, (३) अन्त इन तीन भेदोंके रूपमें न समझ लिया जाये ।[1] इन पाँच भेदोंके अतिरिक्त उन्होंने (१) अन्तररहित (लगातार) और (२) एक पादके अन्तरसे, एवं (३) दो पादोंके अन्तमें भी, तथा (४) सभी पादोंमें पूर्ण पादकी आवृत्तिसे भी यमक बताये हैं, जो दुष्कर होते हैं ।[2] इसके बाद १७ वें श्लोकमें उन्होंने यमकका लक्षण दिया है : सुनने में समान, अर्थोंसे परस्पर भिन्न वर्णोंको पुनः जो कहना है, वह यमक कहा जाता है ।[3] भामहका यह लक्षण सम्भवतः लिखा तो गया था उनके **लाटा-**

---

१. आदि-मध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथाऽऽवली ।
समस्तपादयमकमित्येतत्पञ्चधोच्यते ।। काव्यालङ्कार २।९
सन्दष्टकसमुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता ।
आदौ, मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव, तद् यथा ।। १०

२. अनन्तरैकान्तरयोरेवं पादान्तयोरपि ।
कृत्स्नं च सर्वपादेषु दुष्कृतं साधु तादृशम् ।। काव्यालङ्कार २।१६

३. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो, यमकं तन्निगद्यते ।। काव्यालङ्कार २।१७

नुप्राससे यमकको पृथक् करनेको, पर यह उनके अपने उदाहरणोंपर ही लागू नहीं होता। विशेषकर 'अर्थोंसे भेदकथन'का अंश। उनके उदाहरणोंमें समानार्थक पदोंकी आवृत्ति यदि है, तो अर्थरहित शब्दांश वर्णसमुदायकी आवृति भी है।[1] सम्भवतः इस दोषके परिहारके लिये परवर्ती अलङ्कार-शास्त्रियोंने 'यदि आवृत्त वर्ण सार्थक हैं, तो उनका अर्थ पृथक् होना चाहिये', यह परिष्कर किया है।[2] ऊपरी तौरपर यह त्रुटि भरतके लक्षणमें भी थी: शब्दसे सार्थक वर्ण ही अभिप्रेत होते हैं। पर भरतके उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतको यहाँ 'शब्द'का यह परिभाषिक अर्थ अभीष्ट नहीं है। उनमें सार्थक समानार्थक शब्दोंकी भी आवृत्ति है, तो निरर्थक वर्णसमुदायकी भी। दण्डीने स्पष्टतः वर्णसमुदायकी आवृत्तिमें यमक बताकर इस त्रुटिका सर्वथा परिहार कर दिया है। उन्होने यमकमें अर्थकी अपेक्षापर विचार ही नहीं किया। इस लिये दण्डीका यमक पूर्णतया शब्दालङ्कार है। भामहका यमक उसमें अर्थपार्थक्यकी अपेक्षाके कारण उभयालङ्कारकी स्थितिको प्राप्त है। वह विशुद्ध शब्दालङ्कार नहीं है। लाटानुप्रासकी कल्पना भरतके समान दण्डीके यहाँ नहीं है। उसकी स्थिति यमकमें ही समावेशसे है। इन दोनों अलङ्कारोंमें भेद परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों भामह और उद्भटने आवृत्त शब्द या पदकी समानार्थकताके कारण ही माना है। अन्यथा दोनोंमें शब्दकी आवृत्तिसे शोभाकारिता समान धर्म है। वस्तुतः शब्दकी समानार्थकतासे लाटानुप्रासमें कोई विशेष चारुत्व नहीं उत्पन्न होता। आवृत्तिका हो चारुत्व होता है। इसे यदि अलङ्कार माना भी जाता है, तो अर्थविचारके कारण ही यमकसे पार्थक्य अभीष्ट होनेसे इसे शब्दार्थो-भयालङ्कार कहना चाहिये, केवल शब्दालङ्कार नहीं। यदि यमकसे पृथक् नाम ही देना था, तो इसे '**लाटीययमक**' कहना चाहिये, '**अनुप्रास**' नहीं। अनुप्रासमें वर्णोंकी आवृत्ति अपेक्षित होती है, पूरे शब्दकी नहीं। इसी प्रकार

---

१. संसाराद्···असारात्, क्लेशान्त···प्रशान्तम्, व्याधीनां···मधीनां, ज्यायस्त्वं···नयस्त्वम् (२।१२); रमणीयेषु सङ्गता···रमणी येषु सङ्गता (१३), सितासिताक्षीं सुपयोधराधराम् सुसम्मदां व्यक्तमदां ललामदाम्। घनाघनानीलघनाघनालकां···मुत्सुकयन्ति यन्ति च (१४); समग्रशासनाः, प्रतिबद्धशासनाः। मार्गभिदां च शासनाः···तादृशासनाः (१५)।

२. काव्यप्रकाश ११७: अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्।

उद्भटद्वारा उद्भावित '**पुनरुक्तवदाभास**' अलङ्कारमें चारुत्वाधानका हेतु अर्थ की आवृत्तिका आभास है, उसके अधिष्ठान शब्द (उच्चार्य और श्रव्य वाक्) की आवृत्ति नहीं है। अतः वह न शब्दालङ्कार है, न उभयालङ्कार ही है।

इसके अतिरिक्त, भामहने यमकमें कुछ और विशेषताएँ भी वाञ्छनीय बताई हैं : यमकके शब्द प्रसिद्ध हों; वह ओजस्वी और पदोंकी सुघटित सन्धि वाला हो, प्रसादयुक्त एवं भली भाँति अर्थाभिधान करने वाला हो।[1] स्पष्ट है कि ये विशेषताएँ तो काव्यकी सामान्य अपेक्षाएँ हैं। इनका यमकसे कुछ विशेष लेना देना नहीं है।

भामहके मतमें नाना धातुओंके अर्थोंसे गम्भीर यमक कहनेको ही 'यमक' होता है, वस्तुतः तो वह 'पहेली' ही है। इसका निरूपण रामशर्माने 'अच्युतोत्तर' ग्रन्थमें किया है।[2]

उद्भटने शब्दालङ्कारोंमें **पुनरुक्तवदाभास** और **छेकानुप्रास**की उद्भावना की है और भामहोक्त **ग्राम्य** और **उपनागरिका** वृत्तियोंमें विभक्त द्विविध अनुप्रासमें एक **परुषा** वृत्ति और जोड़कर त्रिविध **वृत्त्यनुप्रास**का निरूपण करके **लाटानुप्रास**का विस्तरेण प्रतिपादन किया है। उनके लाटानुप्रासके कई उदाहरण भरतके **पादान्तयमक** (नाटचशास्त्र १६।६७), **काञ्चीयमक** (६९), **समुद्गयमक** (७१), **चक्रवालयमक** (७५) और **सन्दष्टयमक** (७७)के उदाहरणोंसे मिलते-जुलते तो हैं ही, उनका **लाटानुप्रास**का लक्षण भी **यमक**का कुछ-कुछ समेटता प्रतीत होता है : शब्दों या पदोंके स्वरूप और अर्थमें अभेद होनेपर भी फल (तात्पर्य)के भेदके कारण पुनरुक्ति लाटानुप्रास कहाती है।[3] यहाँ कुछ विचार अपेक्षित है : (१) स्वरूपके भेदमें आवृत्ति (पुनरुक्ति) सम्भव ही नहीं है, अतः उसके अभेदका कथन स्वतः प्राप्त होनेसे यहाँ अपेक्षित नहीं है। यदि इसे कहा भी है, तो यह प्राप्तका अनुवाद मात्र है, विधान नहीं है। अनुवाद लक्षणका अङ्ग नहीं हुआ करता। (२) अर्थके अभेदमें शब्दों या पदोंकी तात्पर्यभेदसे पुनरुक्तिसे **लाटानुप्रास**की निष्पत्ति सिद्ध हो

---

१. प्रतीतशब्दमोजस्वि, सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि, स्वभिधानं च यमकं कृतिनां मतम्॥ काव्यालङ्कार २।१८

२. नानाधात्वर्थगम्भीरा, यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥ काव्यालङ्कार २।१९

३. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा, पदानां वा लाटानुपास इष्यते॥ काव्या०सार १।९

जानेके कारण यहां 'अपि' ('भी') पदका प्रयोग किसी अनुक्त पदार्थका समुच्चय करता है, और वह अनुक्त पदार्थ है अर्थका भेद। अर्थात् अर्थके अभेद और भेदमें **लाटानुप्रास** निष्पन्न होता है। यह स्थिति **यमक**की है। भरतके यमकके उदाहरणोंमें दोनों प्रकारके शब्दों और पदोंका अभ्यास उपलब्ध है। अतः यमकसे लाटानुप्रासको पृथक् करनेके लिये यहाँसे '**अपि**'को हटाना होगा। तब यह भामहके यमकके ठीक विपरीत हो जायेगा। अन्तर केवल भामहके '**वर्णानां**'के स्थानपर 'शब्दों' और 'पदों'का रहेगा। भामहको 'वर्णों' से निरर्थक और सार्थक वर्णसमुदाय अभीष्ट है, जबकि उद्भटको लाटानुप्रास में सार्थक वर्णसमुदाय ही। अतः दोनों अलङ्कारोंमें मुख्यभेद अर्थके भेद और अभेदका है। इस अन्तरकी प्राप्तिमें '**अपि**' बाधक है।

वामनने (१) पादादि स्थानोंके नियमनकी बात दण्डीकी ली, और (२) भिन्नार्थताकी बात भामहकी तथा (३) पद या वर्णकी आवृत्तिमें भरतका अनुकरण किया है: जिसका अर्थ एक ही नहीं है, अर्थात् भिन्न है, ऐसा पद या (अक्षर स्थानके नियमसे, हुआ नियत स्थानमें आवृत्त हुआ) 'यमक' कहलाता है।[1] '**स्थाननियम**'की उनकी व्याख्या है: पद या वर्णकी अन्य पादमें वृत्तिसे आवृत्ति (**स्ववृत्त्या आवृत्ति**), तथा समानजातीय पद या वर्णके द्वारा पूरे स्वरूपसे या एकदेशसे अनेक पादोंकी व्याप्ति **स्थाननियम** है। एक पाद के भागोंमें ही अगर आवृत्ति है, तो वह अन्य श्लोकोंमें स्थित संस्थाननियम को अपेक्षासे स्थाननियम है।

पाद, एक और एकाधिक पादोंके आदि, मध्य और अन्त भाग, ये नियत होने वाले स्थान हैं।[2] यहाँ वामनके '**आदिमध्यान्तभागाः**'का विग्रह करके दण्डीके समान (क १) आदि, (२) मध्य, (३) अन्त, (ख १) आदि-मध्य, (२) मध्य-अन्त), (३) आदि-अन्त, (ग) आदि-मध्य-अन्त, ये सात स्थान निष्पन्न होते हैं। 'एक, अनेक पाद' कथनसे दण्डीके (क) एकपाद—(१) प्रथम, (२) द्वितीय, (३) तृतीय और (४) चतुर्थ, (ख) द्विपाद—(१)

---

१. काव्याल०सूत्र ४।१।१: पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम्। ···अनेकार्थं भिन्नार्थम्। स्ववृत्त्या, सजातीयेन वा कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियमः। यानि त्वेकपादभागवृत्तीनि यमकानि दृश्यन्ते, तेषु श्लोकान्तरस्थसंस्थाननियमापेक्षयैव स्थाननियम इति।

२. काव्यालङ्कारसूत्र ४।१।२: पादः, पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागाः स्थानानि।

प्रथम-द्वितीय, (२) प्रथम-तृतीय, (३) प्रथम-चतुर्थ, (४) द्वितीय-तृतीय, (५) द्वितीय-चतुर्थ, (६) तृतीय-चतुर्थ, (ग) त्रिपाद—(१) प्रथम-द्वितीय-तृतीय, (२) प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ, (३) प्रथम-तृतीय-चतुर्थ, एवं (घ) चारों पादोंमें एक भेद निष्पन्न होते हैं।

इन शुद्ध भेदोंके अतिरिक्त इनके सङ्करसे भी भेदोंकी उत्प्रेक्षा करनेकी राय वामनने दी है। इस प्रकार वामनके इस निरूपणपर दण्डीका प्रभाव स्पष्ट है।

वामनके उदाहरणोंमें एक बात ध्यातव्य है कि यमकके घटक दोनों अवयव (आवर्त्य और आवृत्त) सब जगह सार्थक नहीं हैं। आवर्त्य यदि सार्थक है, तो आवृत्त अंश प्रायः निरर्थक वर्णसमुदाय है। अतः लक्षणमें 'अर्थ'का समावेश उदाहरणोंके प्रतिकूल है।

इसके अतिरिक्त, वामनने एक या अधिक वर्णोंकी आवृत्तिसे जो यमक बताया है,[1] उसकी यमकता भरतके समय भले उचित होती, पर वस्तुतः तो वह अनुप्रास ही है।

भरतके मालायमकके अनुकरणमें वामनने '**पदयमकमाला**' और '**वर्ण-यमकमाला**' भी बताई हैं।

वामनने वर्णविच्छेदसे यमकके **शृङ्खला**, **परिवर्तन** एवं **चूर्ण** नामक प्रकारों में उत्कर्ष बताया है।[2] वह वैयाकरणको भले 'उत्कर्ष' प्रतीत हो, काव्यरसेच्छुको तो वेदनानिग्रहरसका सेवन करनेको बाध्य कर देगा। यही स्थिति उनके **अद्भुत** यमककी है, जिसमें विभक्तियोंके वैविध्य, एक वचन आदि सङ्ख्याओंकी, कारककी और सुबन्त और तिङन्त पदोंकी आवृत्ति विच्छेदसे होनेसे यमक निष्पन्न माना जाता है।[3] इस प्रकारके यमकके लिए भामहने

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र ४।१।२ पर वृत्ति : अक्षरयमकं त्वेकाक्षरमनेकाक्षरं च। एकाक्षरं यथा—

नानाकारेण कान्ताभ्रूराराधितमनोभुवा।
विविक्तेन विलासेन ततक्ष हृदयं नृणाम्॥

२. काव्यालङ्कारसूत्र ३-४ : भङ्गादुत्कर्षः। भङ्गो नाम वर्णविच्छेदः। शृङ्खला परिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः।

३. विभक्तीनां विभक्तत्वं, संख्यायाः, कारकस्य च।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम्॥ काव्या० सूत्र ४।१।७

ठीक ही कहा था कि यदि काव्य भी शास्त्रके समान व्याख्यासे ही समझ आने लगे, तो इससे सुधी लोग ही आनन्दित होंगे, अल्पबुद्धि (साधारण जन) तो बेचारे मारे गये ।[1]

वामनने **अनुप्रास**का निरूपण सङ्क्षेपसे भेदकथनके बिना ही किया है। उद्भटके मतमें लाटानुप्रासके माने जाने वाले उदाहरणोंको वामनने सामान्य 'अनुप्रास'के उदाहरणोंके रूपमें ही दिया है ।[2]

रुद्रटने यमकका भामहोक्त लक्षण ही अपना लिया है, अन्तर वर्णोंके क्रम की तुल्यताका समावेश करने भरका है। नमि साधुने इसका प्रयोजन **प्रतिलोम, अनुलोम, सर्वतोभद्र** नामक बन्धों और अनुप्रास आदिका यमकसे भेद करना बताया है। भिन्नार्थताका प्रयोजन पुनरुक्त और यमकमें भेद बताना है। रुद्रटको '**अन्यार्थानां वर्णानाम्**'में 'अर्थ'से 'वाच्य' ही नहीं, 'तात्पर्य' भी अभीष्ट है। यह स्पष्टतः रुद्रट द्वारा लाटानुप्रासको पृथक् अलङ्कारके रूपमें निरूपित करनेसे सम्बद्ध है। अर्थात् वे लाटानुप्रासको यमक ही मानते हैं। रुद्रटने यमकका विषय प्रायः छन्दमें, अर्थात् पद्य काव्यमें, ही बताया है ।[3]

---

१. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।
उत्सवः सुधियामेव, हन्त दुर्मेधसो हताः ।। काव्यालङ्कार २।२०

२. काव्या०सूत्र ४।१।८ : शेषः सरूपोऽनुप्रासः । पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं, तद्विधमक्षरं च शेषः । विशेषार्थं च 'सरूप'-ग्रहणम्—कात्स्न्र्येनैवावृत्तिः, कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां तु सारूप्यमिति । ९ : अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान् । १० : पादानुप्रासः पादयमकवत् । यथा—
कविराजमविज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ।
कविराजं च विज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ।।

३. तुल्यश्रुतिक्रयाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं, प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।। काव्यालङ्कार ३।१
नमिटीका : 'क्रम'-ग्रहणात्प्रतिलोमानुलोमसर्वतोभद्रानुप्रासादीनां यमकत्वनिरासः । 'मिथोऽन्यार्थानाम्'···इत्यनेन तु पुनरुक्तस्य यमकत्वव्युदासः । 'अन्यार्था' इत्यत्र 'अर्थ'-शब्दः प्रयोजनवाच्यपि ।
विजृम्भितोद्दामरसेन चेतसा निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ।
तदेव वैराग्यवतो विभागशो निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ।।

यमकके भेदोंके बारेमें रुद्रटने दण्डीका निरूपण थोड़ा इधर-उधर करके प्रस्तुत किया है : (क) पूरे पादोंकी आवृत्तिसे और (ख) पादके एक भागकी आवृत्तिसे यमकके प्रथमतः दो भेद हैं। (क) प्रथम समस्तपादजके पादावृत्तिसे ९, अर्धावृत्तिसे और श्लोकावृत्तिसे एकेक, कुल ११ भेद बताये हैं। (ख) एकदेशजके पादोंके प्रथमार्धकी आवृत्तिसे आचार्यने २० भेद दिये हैं। पादके उत्तरार्धकी अग्रिम पादके प्रथमार्धमें आवृत्तिसे ३ भेद बताए हैं। इत्यादि।

रुद्रटके ये भेद नामकरणकी दृष्टिसे कल्पनाप्रवण हैं। इसका मूल स्रोत भरतके **काञ्ची**, **शिखा**, **चक्रवाल**, **समुद्ग** और **सन्दष्ट** आदि प्रकारके यमक हैं। विविध प्रकारके बन्धोंका मूल भी इसी प्रकारके यमकोंमें निहित है।

अग्निपुराणमें एक वर्णकी पञ्चविध वृत्तियोंसे अनुप्रास बताया है। यही अन्यत्र वृत्तियोंके कारण **'वृत्त्यनुप्रास'** नामसे कहा गया है। भिन्नार्थ-प्रतिपादिका अनेकवर्णावृत्ति यमक होती है। उसके अव्यपेत (आनन्तर्य) और व्यपेत दो भेद बताये हैं। इन दोनों ही प्रकारके यमकोंके पाद और उनमें स्थानके भेदसे चार प्रकार बताये हैं। स्थानभेदसे यह सात प्रकारका होता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि अग्निपुराणमें (१) लक्षणोंके बारेमें भामहका और (२) भेदोंके बारेमें दण्डीकी दृष्टिका आश्रय मुख्य रूपसे लिया गया है। अग्निपुराणके अलङ्कारशास्त्रीने भरतोक्त १० यमकोंको श्रेष्ठ यमक बताकर उसके अन्य बहुतसे भेद बताये है।[2] यहाँ लाटानुप्रासको **'आवृत्ति'** के नामसे दिया गया है—भिन्न प्रयोजन वाले स्वतन्त्र और परतन्त्र पदकी दो प्रकारकी आवृत्तिसे 'आवृत्ति' अलङ्कार निष्पन्न होता है : (१) दोनों पदोंमें समाससे **समस्ता** आवृत्ति तथा समासाभावमें **व्यस्ता** होती है। यह **व्यस्ता** एक पादमें विग्रहसे भी निष्पन्न होती है। सम्भवतः यह भेद वामन

---

१. स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।
एकवर्णानेकवर्णावृत्तेर्वर्णगणो द्विधा ।। अग्निपुराण ३४३।१
एकवर्णगतावृत्तेर्जायन्ते पञ्च वृत्तयः।
मधुरा, ललिता, प्रौढा, भद्रा परुषया सह ।। २
अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ।। ११
यमकं साऽव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद् द्विधा। १२ इत्यादि

२. पादान्तयमकं चैव···मान्नायमकमेव च।
दशधा यमकं श्रेष्ठं, तद्भेदा बहवोऽपरे ।। अग्निपुराण० ३४३।१७

के **भङ्गवान् अनुप्रास**पर आधारित है। वाक्यकी भी आवृत्ति हो जाती है।[1]

महाराज भोज यमक और लाटानुप्रासको पृथक्-पृथक् मानते हैं। इस लिये उन्होंने भी (१) लक्षणमें भामहका और (२) भेदकथनमें दण्डीका अनुकरण किया है।[2] एक अन्तर है: अव्यपेत, व्यपेत और उभयात्मकको उन्होंने **समुद्गा**परपर्याय **अर्धाभ्यास** यमकमें सीमित माना है। दण्डीके समान साधारण भेद नहीं बताया है।[3] इसके अतिरिक्त इन्होंने कई वर्णोंकी आवृत्तिमें स्थूल और अल्पवर्णों (दो वर्णों) की आवृत्तिमें **सूक्ष्म** भेद भी माने हैं। रत्नेश्वरमिश्रने एकवर्णकी आवृत्तिको **सूक्ष्मतर** बताया है।[4] आवृत्तिकी विषय वर्णसंहतिकी विभिन्नार्थतापर **रत्नेश्वरमिश्र**का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि इससे अर्थके अभेदका अभाव अभिप्रेत है। इससे दोनों वर्णसमुदाय या एक निरर्थक भी हों, तब भी यमक रहता है।[5] अर्थात् यमकमें वर्णसमुदायकी अर्थवत्ता आवश्यक नहीं है। यदि अर्थ हो, तो वह समान नहीं होना चाहिये।

मम्मटका यमकका लक्षण रत्नेश्वरमिश्रकी इस व्याख्याका आधार है: अर्थ होनेपर अर्थके कारण भिन्न वर्णोंकी पुनः श्रुति यमक होता है। मम्मटके इस लक्षणका आधार भामहका लक्षण है। मम्मटने लाटानुप्रास और यमकमें

---

१. स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्तना द्विधा।
भिन्नप्रयोजनपदस्यावृत्तिं मनुजा विदुः॥ अग्निपुराण० ३४३।१८
द्वयोरावृत्तपदयोः समस्ता स्यात् समासतः।
असमासात् तयोर्व्यस्ता पादे त्वेकत्र विग्रहात्॥ १९
वाक्यस्यावृत्तिरप्येव यथासम्भवमिष्यते। २०

२. विभिन्नार्थैकरूपाया याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते॥ सरस्वती० २।५८

३. अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यात्, तस्य भेदास्त्रयो मताः।
व्यपेतश्चाव्यपेतश्च उभयात्मा च सूरिभिः॥ सरस्वती० २।६६

४. सरस्वतीकण्ठाभरण २।६४ तथा इसपर रत्नदर्पण: 'स्थूलं सूक्ष्मं च' इति पूर्वेणापि सम्बध्यते। बहुवर्णावृत्ति स्थूलम्। अबहुवर्णावृत्ति सूक्ष्मम्। उदाहरण १२७ पर: वर्णद्वयपर्यन्तमावृत्तिः सूक्ष्मता। सैवैकवर्णगोचरा सूक्ष्मतरा।

५. रत्नदर्पण २।५८: 'विभिन्नार्था' इत्यर्थाभेदव्यतिरेकपरम्। तेन द्वयोरेकस्य वा निरर्थकत्वेऽपि यमकमुपगृहीतं भवति।

साङ्कर्य निवारणके लिये 'अर्थ होनेपर' परिष्कार किया है। '**समरसमरसोऽयम्**' इत्यादिमें कुछ (आवर्त्य) अंश अर्थवान् हैं, तो कुछ (आवृत्त) अंश अर्थरहित हैं, अतः 'भिन्न अर्थ वाले' कहना उचित नहीं है, इस लिये 'अर्थ होनेपर' कहा है।[1] मम्मटके भी भेदनिरूपणका आधार दण्डीका निरूपण है।

आचार्य कुन्तकने भी लक्षण भामहके अनुसार और भेद दण्डी अथवा तदनुसारी वामनके अनुसार किया है। पर उन्होंने यमकमें स्थाननियमके अतिरिक्त और किसी प्रकारकी शोभाके अभावके कारण उसके भेदोंका अधिक विस्तार करना उचित नहीं समझा है।[2]

आचार्य रुय्यकने यमकमें कुछ स्पष्टता करके बहुत साधारण ढंगसे दिया है: स्वर और व्यञ्जनके समुदायकी अप्ररूढ पुनरुक्ति यमक होता है। यह वर्णसमुदायके (क) भिन्नार्थक, (ख) अभिन्नार्थक एवम् (ग) एक अंशके अर्थरहित और दूसरे अंशके सार्थक होनेके कारण सङ्क्षेपसे तीन प्रकारका होता है।[3] यह भेदकथन मम्मटके कथनका विस्तार है।

आचार्य हेमचन्द्रने (१) रुद्रटके श्रुतिक्रमैक्यके और मम्मटके वर्णोंके अर्थवान् होनेपर भिन्नार्थताके कथनको मिलाकर अपना लक्षण पूरा किया है।[4]

---

१. काव्यप्रकाश ११७ : अर्थे सत्यर्थभिन्नानां * वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्। 'समरसमरसोऽयम्' इत्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे 'भिन्नार्थकानाम्' इति न युज्यते वक्तुम्। इति 'अर्थे सति' इत्युक्तम्। *भामहके 'भिन्नानामभिधेयैः'का अनुवाद है यह। अतः 'अर्थैर्भिन्नानाम्'* (तृतीया तत्पुरुष) इष्ट है। 'भिन्ना अर्था येषाम्' (बहुव्रीहि) में 'निष्ठा' (अष्टा० २।२।३६, से 'भिन्न' का पूर्वप्रयोग प्राप्त है। आहिताग्न्यादि आकृति गण (३७) से पूर्वप्रयोगका विकल्प मानना प्रयोजनाभावके कारण उचित नहीं है।

२. समानवर्णमन्यार्थं, प्रसादि, श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्॥ वक्रोक्तिजीवित० २।६
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।
स तु शोभाऽन्तराभावादिह नाति प्रतन्यते॥ ७

३. अलङ्कारसर्वस्व ७ : स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्।
अत्र (क) क्वचिद् भिन्नार्थत्वम्, (ख) क्वचिदभिन्नार्थत्वम्, (ग) क्वचिद् एकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति सङ्क्षेपतः प्रकारत्रयम्।

४. काव्यानुशासन, ५ अध्याय, पृष्ठ २४६ : सत्यर्थेऽन्यार्थानां वर्णानां श्रुतिक्रमैक्ये यमकम्।

(२) भेदनिरूपण दण्डीकी दिशामें किया है।

काव्यमें यमकका महत्त्व: यमकके महत्त्वके बारेमें आचार्य दण्डीका यह कथन बहुत व्यावहारिक है कि यमक अनुप्रासके समान एकान्तमधुर नहीं है। अर्थात् यदि इसका उचित मात्रामें प्रयोग किया जाता है, तब तो यह अनुप्रासके समान शोभाधायक है। पर यदि यमकपर ही जोर दे दिया जाये, तो यह वैरस्यकारक हो जाता है।[1]

भामहने उस यमकसे कवियोंको कृती माना है, (१) जिसके शब्द प्रसिद्ध हों, (२) जो ओजस्वी हो, (३) जिसके पदोंकी सन्धि सुश्लिष्ट हो' (४) प्रसादगुणयुक्त हो तथा (५) जो अभिधान (उच्चारण) की दृष्टिसे सुखकर हो।[2] अर्थात् भामह भी यमकको एकान्तमधुर (केवल आनन्ददायी) नहीं मानते। इसके निबन्धनमें (i) सुखोच्चार्यता और (ii) सुखबोध्यता मुख्यतया अपेक्षित हैं।

वामनकी दृष्टि इसके विपरीत है: वे इसमें दुर्बोध्यताकारी विचलन (भङ्ग)को ही उत्कर्षका हेतु मानते हैं।[3]

रुद्रटने प्रायेण भामहका कथन ही दुहराया है। एक बात विशेष रूपसे स्पष्ट की है कि महाकाव्योंमें, अर्थात् पद्यबद्ध काव्यविधानोंमें, यमकका प्रयोग कथावस्तु (वर्ण्य विषय) को दृष्टिमें रखते हुए औचित्यको समझकर बहुतायत से करना चाहिये।[4] अर्थात् वस्तुकी प्रस्तुतिके यदि वह अनुकूल नहीं है, काव्य

---

१. आवृत्तिं वर्णसङ्घातगोचरां यमकं विदुः।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते ॥ काव्यादर्श १।६१

२. प्रतीतशब्दमोजस्वि, सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि, स्वभिधानं च यमकं कृतिनां मतम् ॥ काव्यालङ्कार २।१८

३. काव्याल०सूत्र ४।१।३-७ : भङ्गादुत्कर्षः। शृङ्खला, परिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः। वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला। सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः। पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम्। इन तीन मार्गोंमें भी वामन वर्णसमुदायके स्वरूपलोप भेदको सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं:
अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति ॥

४. इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं, सुप्रसिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ॥ काव्यालङ्कार ३।५९

की मुख्य शोभाकी मुख्यताके विपरीत है, उचित नहीं है, तो इसका प्रयोग वैरस्यकारक होनेसे हेय होगा। इस प्रकार रुद्रट भी यमकको एकान्तमधुर नहीं मानते।

भट्ट लोल्लटने रुद्रटके मन्तव्यको ही यों स्पष्ट किया है: प्रबन्ध काव्य में नदी, पर्वत, समुद्र, वृक्ष (वन), अश्व (यह रथ, गजादिका भी उपलक्षक है), नगर और शत्रुके वर्णनमें श्रम करना कविकी शक्ति और प्रसिद्धिमें फलित होता है। किन्तु यमकके अनुलोम आदि दुष्कर भेद रसके अत्यन्त विरोधी हैं। ये केवल कविका अभिमानमात्र बढ़ाते हैं कि मैं कवि हूँ। अथवा और लोगोंकी देखादेखी एक भेड़चाल है।[1] लोल्लटके इस कथनमें अनुलोम तथा तदितर प्रतिलोम आदि दुष्कर चित्रबन्धोंके साहचर्यके कारण यमक भी दुष्कर ही अभिप्रेत है। अतः सुकर यमकका यदि रसाविरोधी प्रयोग किया जाता है, तो वह हेय नहीं होगा। लोल्लटका यह आशय भी इस प्रकार दण्डी के कथनका ही स्पष्टीकरण है।

आनन्दवर्धनने भी लोल्लटके अतिरसविरोधित्वको आधार बनाकर ही यमककी काव्यमें उपयोगिताका क्षेत्र यों प्रतिपादित किया है: ध्वनिकी आत्मास्वरूप श्रृङ्गारमें, उससे भी अधिक विप्रलम्भ श्रृङ्गारमें, यमक आदि दुष्कर अलङ्कारोंका निबन्धन कवि चाहे जितना समर्थ हो, पर यह उसका मुख्य वस्तुके प्रति प्रमाद ही होगा। कहीं कोई इक्का-दुक्का यमक यदि काव्यमें स्वाभाविक रूपसे आ जाये, तो कोई दोष नहीं है। पर बहुलतासे अन्य अलंकारों के समान रसके अङ्गके रूपमें भी इनका निबन्धन नहीं करना चाहिये। विप्रलम्भश्रृङ्गारमें तो बिल्कुल नहीं। यमकके निबन्धनमें शब्दचयनमें विशेष यत्न करना पड़ता है। इससे अर्थ, वह भी रस, उपेक्षित हो जाता है। इस प्रकार

---

१. काव्यानुशासन, ५ अध्याय, यमकपर उद्धृत : तथा च लोल्लटः—

'यस्तु सरिदद्रिसागरनग*तुरगपुरादिवर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः प्रबन्धेषु॥
यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽति** रसविरोधिन्यः।
**अभिमानमात्रमेतद् गड्डुरिकाऽऽदिप्रवाहो वा॥

*शैलवृक्षौ नगावगौ (अमरकोष ३।३।१९)।

**रुद्रटीय काव्यालङ्कार ३।५९की नमिव्याख्यामें 'यदुक्तम्' कहकर उद्धृत इस श्लोकमें 'भिदो हि' तथा 'अभिधान' पाठ है।

यमकके स्थलमें रस गौण हो जाता है और यमक मुख्य ।[1]

मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यपरम्पराने आनन्दवर्धनका मत ही सङ्क्षेपसे या ब्यौरेसे प्रस्तुत किया है ।[2]

आचार्य कुन्तकने वर्णविन्यासवक्रताके अन्तर्गत प्रस्तुत यमकके महत्त्वके बारेमें भामहका अनुसरण करके इसमें (i)प्रसाद गुण, (ii) श्रुतिरञ्जकता अर्थात् कोमलशब्दोंसे विरचितता तथा (iii) औचित्यसे युक्त होना शोभावह बताया है । 'औचित्य'से कुन्तकको वर्ण्य वस्तुके स्वरूपका उत्कर्ष अभीष्ट है ।[3]

निष्कर्ष : यमकके निबन्धनमें शब्दचयनपर अधिक बल अपेक्षित होनेके कारण (क) वस्तुको सौन्दर्य प्रदान करने वाले अर्थतत्त्वोंकी बलि हो जाती है । अतः यमक हृदयग्राही न होकर वैरस्योत्पादक हो जाता है । (ख) यमकत्वकी निष्पत्तिके लिये रचनामें भाषागत काठिन्य भी आ जाता है, जिससे वह सुख-

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं, विप्रलम्भे विशेषतः ।। ध्वन्यालोक २।१५

'प्रमादित्वम्' इत्यनेनैतद् दर्श्यते—'काकतालीयन्यावेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नाऽलङ्कारान्तरवद् रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य' इति ।···यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः ।···यत्तु रसवन्ति कानिचिद्* यमकादीनि दृश्यन्ते. तत्र रसादीनामङ्गता, यमकादीनां त्वङ्गितैव । * लोचन : 'कालिदासादिकृतानि' इत्यर्थः ।

२. काव्यप्रकाश ११८ वृत्ति :···प्रभूततमभेदम् । तदेतत् काव्यान्तर्गड्डु*भूतमिति नास्य भेदलक्षणं कृतम् । काव्यानुशासन, ५ अध्याय, पृष्ठ २५७ : एतस्य च कविशक्तिख्यापनमात्रफलत्वेन पुरुषार्थोपदेशानुपायत्वात् काव्यगड्डुभूततेति भेदलक्षणं न कृतम् । अलङ्कारसर्वस्व, ७, के 'सङ्क्षेपतः' का तात्पर्य जयरथने यह बताया है : एतच्च "काव्यात्मभूतरसचर्वणाप्रत्यूहकारित्वात् प्रपञ्चयितुं न योग्यम्, इति चिरन्तनालङ्कारवन्न विभज्य लक्षितम्" इति भावः । * गड्डुः पृष्ठगुडे, कुब्जे (विश्वकोष) । गुडो गोलेक्षुपाकयोः (अमरकोष ३।३।४२) ।

३. समानवर्णमन्यार्थं, प्रसादि, श्रुतिपेशलम् ।
औचित्ययुक्तम्, आद्यादिनियतस्थानशोभि यत् ।। वक्रोक्ति० २।६
औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षः ।···यत्र यमकोपनिबन्धनव्यसनित्वेनाप्यौचित्यमपरिम्लानमित्यर्थः ।

(१. १ अव्यपेत पादादि क. एकपाद यमक)

१. मानेन मानेन **सखि, प्रणयो भूत् प्रिये जने ।**
खण्डिता कण्ठमाश्लिष्य तमेव कुरु सत्रपम् ॥ ४ ॥

१. हे सखि, प्रिय जनके प्रति इस मानसे परिचय न हो जाये । खण्डित (उपेक्षित) तू गले लगाकर उसे ही लज्जित कर ॥ ४ ॥

बोध्य नहीं रहता । (ग) पदोंकी सन्धियोंके कारण सुखश्रव्यता भी नही रह पाती । (घ) माथा मारकर यमकको समझ लेनेके बाद भी सहृदयको ऊपरी धरातलके आवृत्तिश्रवणलभ्य आरम्भिक चारुत्वके अतिरिक्त कुछ पल्ले नहीं पड़ता । यह तो बिना गिरी (गोले) या जलका नारियल है । इस लिये मम्मटने इसका महत्त्व 'सौ सुनारकी, एक लुहारकी' मुहावरेके अनुसार 'काव्यमें कूबड़' कहकर ठीक ही स्पष्ट किया है ।

इस प्रकार यमकके महत्त्वकथनकी यात्रा दण्डीके 'वह अनुप्रासके विपरीत एकान्तः मधुर नहीं है' कथनसे प्रारम्भ होकर आनन्दवर्धनके युक्तियुक्त विस्तृत विवेचनपर समाप्त हो जाती है । बादमें तो उन्हींकी बातोंको दुहराया गया है ॥ ३ ॥

आषाढशुक्लषष्ठ्यां हि मृगाङ्के सिंहगे गुरौ ।
यूलीद्वितीयघस्रे च यमकैतिह्यमीक्षितम् ॥ १ ॥
सुकरं दुष्करं वृत्तं साधयन्ती शिवा मम ।
सदसन्मार्गयोर्भूयात् कल्याणाभिनिवेशनी ॥ २ ॥
चन्द्रिकागौरवर्णेयं चन्द्रिकागौरवर्णिकाम् ।
वृत्तिं कीर्तिं च मे शश्वद् देयात् कुर्याच्च शाश्वती ॥ ३ ॥

—०—

अर्थाभापोऽमला यस्य दिव्या हरन्ति धीमलम् ।
शास्त्रालवणवाराशेरूर्मिषूत्तारिणीं तरीम् ॥ १ ॥
यमकोदाहृतिव्याख्यां प्रकुर्वे साम्प्रतं सुगाम् ।
अध्येतॄणां सदा तोषमावहेच्छास्त्रगाहिनाम् ॥ २ ॥

१. **यमकके उदाहरण**—आचार्य दण्डीने अगले पन्द्रह (४-१८) श्लोकोंमें (क) अव्यपेत सुकर आदियमकके सब १५ भेदोंके उदाहरण दिये हैं ।

१. (१. क. १.) **प्रथमपादादि अव्यपेत एकपादयमक**—चतुर्थ श्लोकके

(क २.) **मेघनादेन हंसानां** मदनो मदनोदिना ।

२. मदन (कामदेव) रति (शृङ्गारका स्थायी भाव, प्रेम तथा कामदेव

प्रथम पादमें निरन्तर **'मानेन'** वर्णसमुदायकी आवृत्ति की गई है। प्रथम 'मानेन' पद 'मान'का तृतीया एकचनान्त रूप है, तो दूसरा 'मा+अनेन'का दीर्घसन्धिसे निष्पन्न वर्णसमुदाय है। पारिभाषिक शब्दत्व अथवा पदत्व दण्डीको अपेक्षित नहीं है। 'वर्णसमुदाय' अपेक्षित है। अतः यहाँ अर्थविचार की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, और इस प्रकार यह पूर्णतया शब्दालङ्कार है। क्रियापद **'भूत्'** में निषेधार्थक 'मा' (माङ्) के योगमें √भू से लुङ्का विधान तथा भूतकरण अट्का निषेध है।[1]

यहाँ विप्रलम्भरतिका निरूपण खण्डिता नायिकाके प्रति सखियोंकी उक्तिके माध्यमसे किया गया है।

अन्य किसी स्त्रीके प्रति आसक्त नायककी प्रतीक्षा करती नायिका खण्डिता होती है।[2] वह अपने नायकके प्रति यदि मान करती है,[3] तो नायकके निर्लज्ज[4] होनेकी आशङ्का रहती है। सिखयोंने इस लिये खण्डिता नायिका को गृहागत प्रियके प्रति मान न करके उसे अपनाकर लज्जित करनेकी राय दी है, ताकि वह अपनी करनीपर लज्जा अनुभव करके भविष्यमें नायिकाके प्रति ऐसा अपराध न करे।

यहाँ आचार्यने विप्रलम्भ शृङ्गारमें भी यमकका प्रयोग सरल स्वाभाविक रूपसे किया है। अतः यह रसविरोधी कथमपि नहीं है। आनन्दवर्धनका (ध्वन्यालोक २।१५में) विप्रलम्भमें यमकनिबन्धनका सर्वथा निषेध इस प्रकार के उदाहरणको देखते हुए अतिवाद ही है ॥ ४ ॥

२.(१. क. २) **द्वितीयपादादि अव्यपेत एकपाद सुकर यमक**—इस श्लोकमें विप्रलम्भ अवस्थामें मानवती कामिनियोंके मनमें उद्दीपन विभाव मेघगर्जनाके

---

१. अष्टाध्यायी ३।३।१७५ : माङि लुङ् । ६।४।७४ : न माङ्योगे ।

२. व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमनार्ता तु खण्डितेत्यभिधीयते ॥ नाटचशास्त्र २२।२०९

३. स मानो नायिका यस्मिन्नीर्ष्यया नायकं प्रति ।
धत्ते विकारमन्यस्त्रीसङ्गदोषवशाद् यथा ॥ शृङ्गारतिलक २।४४

४. वार्यमाणो दृढतरं यो नारीमुपसर्पति ।
संचिह्नः सापराधश्च, स 'निर्लज्ज' इति स्मृतः ॥ नाटचशास्त्र २२।३०९

नुन्नमानं मनः स्त्रीणां सह रत्या विगाहते ॥ ५ ॥

३. **राजन्वत्यः प्रजा जाता भवन्तं प्राप्य साम्प्रतम् ।**
चतुरं चतुरम्भोधिरसनोर्वीकरग्रहे ॥ ६ ॥

४. **अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तमन्यैः सद्म दिवौकसाम् ।**
पदाति-रथ-नागाश्वरहितैरहितैस्तव ॥ ७ ॥

की पत्नी रति) के साथ हंसोंके मदको बढ़ाने वाली मेघोंकी गर्जनाके द्वारा टूटे हुए मान वाले स्त्रियोंके मनमें अठखेलियाँ कर रहा है ॥ ५ ॥

३. चारों समुद्रों रूपी करधनी वाली पृथ्वीका कर (हाथ, शुल्क) ग्रहण करनेपर अब चतुर आपको पाकर प्रजायें श्रेष्ठ राजा वाली[1] हो गई हैं ॥ ६ ॥

४. पैदल, रथ, हाथी, घोड़ा (चतुरंगिणी सेना) से रहित तुम्हारे कुछ शत्रुओंने जङ्गलकी राह ली, कुछने देवोंके निवास (स्वर्ग) की ॥ ७ ॥

द्वारा प्रियतमोंके प्रति रतिके उद्दीपनका वर्णन किया गया है। यहाँ द्वितीय पादके आदिमें '**मदनो**' वर्णसमुदायकी निरन्तर आवृत्तिसे यमक निष्पन्न है। श्रुत्यनुप्रासके समान ही यह यहाँ विप्रलम्भमें अपेक्षित माधुर्यको भलीभाँति व्यक्त कर रहा है। '**मनः**' शब्दमें 'चित्त' और 'मानस' सरोवर (हंसोंकी क्रीडा-स्थली) का और '**रति**' में शृङ्गारके स्थायी भाव प्रेम तथा कामदेवकी पत्नी का श्लेष (दण्डीका अभङ्गपद, उद्भटका अर्थश्लेष) है। 'सहोक्ति अलङ्कार भी शोभाकारक है। इन सबमें मुख्यता विप्रलम्भ रति भावकी है ॥ ५ ॥

३. (१. क. ३) **तृतीयपादादि अव्यपेत एकपाद यमक**—प्रकृत श्लोकमें समुद्रोंपर रसनाके आरोपसे तथा '**कर**' शब्दके (पाणि और शुल्क) अर्थ-श्लेषसे 'हाथ' अर्थके बलपर उर्वीकी नायिकाके रूपमें और भवत्पदवाच्य राजाकी नायकके रूपमें प्रतीतिके कारण **समासोक्ति** अलङ्कार है। कविका राजाके प्रति रति भाव व्यक्त होनेसे **ऊर्जस्वी** अलङ्कार व्यक्त है। तृतीय पादके आदिमें '**चतुरम्**' वर्णसमुदायकी निरन्तर आवृत्तिसे सम्पन्न यमक मुख्य अलङ्कार **ऊर्जस्वी**के अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं। इस प्रकार यह सुकर यमक भी काव्यमें शोभोत्पादक होनेसे अलङ्कार है। जकारकी आवृत्तिसे निष्पन्न अनुप्रास भी काव्यशोभा उत्पन्न कर रहा है। इस प्रकार यह उदाहरण शब्द और अर्थ, दोनों दृष्टियोंसे शोभायुक्त है ॥ ६ ॥

४. (१. क. ४) **चतुर्थपादादि अव्यपेत एकपाद यमक**—सातवें श्लोकमें

---

१. अष्टा० ८।२।१४ : राजन्वान् सौराज्ये। अमरकोष २।१।१३ : सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात् ततोऽन्यत्र राजवान्।

(१. १ अव्यपेत पादादि ख. द्विपाद यमक)

५. मधुरं मधुरम्भोजवदने वद नेत्रयोः ।
विभ्रमं भ्रमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं न्विदम् ? ॥ ८ ॥

५. हे कमलमुखी, तुम बताओ कि क्या वसन्त भ्रमरोंके भ्रमणसे नयनोंके मधुर विभ्रम (चञ्चलता) की नकल कर रहा है ? ॥ ८ ॥

आचार्य दण्डीने वर्ण्य राजाके शत्रुओंके दलबलके पूरी तरह संहारके बाद उनमें से कुछ कायर राजाओं द्वारा पलायन करके प्राण बचानेके और शूर शत्रुओं द्वारा लड़ते-लड़ते प्राणोत्सर्ग करनेके वर्णनसे विजयिराजगत उत्साहको अङ्ग बनाकर कविकी राजाके प्रति रति व्यक्त की है ।

वन और स्वर्गको **'आक्रान्त'** कहनेसे भी अर्थविशेष सूचित होता है : अरण्यमें कोई विरोध करने वाला नहीं है. इसलिये कायरोंने वनपर आक्रमण किया, वनके तृण, गुल्म, मृग आदिपर अपना गुस्सा निकाला । जो शूर थे, उन्होंने भी सुखभोगी देवताओंके घरोंपर हल्ला बोला । जिन्होंने शत्रुओंको अपने घरोंतक पहुँचने दिया, वे क्या खाक उनका मुकाबला करेंगे ? इस प्रकार प्रकृत राजाकी देवताओंसे श्रेष्ठ शत्रुओंपर विजयके वर्णनसे कविका रतिभाव और भी पुष्ट होता है ।

दन्त्याक्षरोंकी आवृत्तिसे निष्पन्न श्रुत्यनुप्रास जैसे इस भावका अङ्ग होकर काव्यमें शोभा उत्पन्न कर रहा है, वैसे ही चतुर्थ पादके आरम्भमें **'रहितै'** वर्णसमुदायकी निरन्तर सुकर आवृत्तिसे सम्पन्न यमक भी शोभाकारक है।

तृतीय पादमें चतुरङ्गिणी सेनाके अङ्गोंका क्रमभङ्ग छन्दके कारण करना पड़ा है । **'रथनागाश्व'** से लक्षणासे रथी आदिका बोध होता है ॥ ७ ॥

(१. ख) अव्यपेत सुकर द्विपादादियमक—अव्यपेत सुकर आदियमकके (ख) द्विपाद भेदके ६ उदाहरण छह (८-१३) श्लोकोंमें दिये हैं :

५. (१. ख. १) **प्रथम-द्वितीयपादादि द्विपादअव्यपेतयमक**—अष्टम श्लोकमें वर्ण्य नायिकाके प्रति वर्णयिता नायककी नायिकाके नयनों (उद्दीपन विभाव) की चाटूपमासे पुष्ट रति व्यक्त की गई है । इसके प्रथम और द्वितीय पादोंके आरम्भमें **'मधुरम्'** और **'वदने'** वर्णसमुदायोंकी निरन्तर आवृत्तिसे सुखबोध्य द्विपादयमक सम्पन्न हुआ है । अर्थप्रतीतिमें तनिक भी क्लेश न होनेसे यह यमक काव्यमें माधुर्यका आधान करता है । तृतीय पादमें पदगत तथा पाद-

६. वारणो वा रणोद्दामो **हयो वा स्मर, दुर्धरः ।**
न यतो नयतोऽन्तं **नस्तदहो विक्रमस्तव ॥ ६ ॥**
७. राजितैराजितैक्ष्ण्येन **जीयते त्वादृशैर्नृपैः ।**

६. हे कामदेव, हमें (हमारे जैसे विरहियोंको) मरण तक पहुँचाने वाले तुम्हारे (पास) क्योंकि न सङ्ग्राममें दुर्दम्य, उन्मुक्त (निर्बन्ध विचरण करता) हाथी है, और न काबूमें नहीं आने वाला अश्व ही है; अतः तुम्हारा पराक्रम अद्‌भुत है ॥ ६ ॥

७. धरती तुम्हारे जैसे राजाओं द्वारा पहले तो जीती जाती है, और

गत अनुप्रास भी रतिभावके अनुकूल माधुर्य उत्पन्न कर रहा है । इस प्रकार यह मुक्तक शब्द और अर्थ, दोनों दृष्टियोंसे इष्टार्थसे युक्त है । यमक इस इष्टार्थव्यवच्छेदमें साधक है, बाधक नहीं । अम्भोजपर वदनके आरोपसे भी सुन्दर अर्थकी प्रतीति होती है : अम्भोजपर भ्रमर भ्रमणशील हैं, तो वदनपर नेत्रोंका विभ्रम है । 'अम्भोजके तुल्य वदन वाली' व्याख्यामें वाचकलुप्ता समासोपमामें भी चारुत्व अव्याहत है । अतः इन दोनों **रूपक** और **समासोपमाका** सन्देह होनेसे भामहादिके अनुसार **सन्देहसङ्कर** एवं **रूपक**, या **उपमा** या उनके **सन्देहके चाटूपमाका** अंग होनेसे **अङ्गाङ्गिभावसङ्कर** भी है । छन्दमें अक्षरयोजना भी विभ्रमयुक्त होनेसे अर्थके अनुकूल है ॥ ८ ॥

६. (१. ख. २) **प्रथम-तृतीयपादादि द्विपाद अव्यपेतयमक**—नवें श्लोकमें कामदेवका अद्‌भुत शौर्य दण्डीके मतमें हेतुवैकल्यविशेषोक्ति तथा उद्भटके मतमें **विभावना** अलङ्कारके द्वारा बताया गया है । शत्रुओंको मौतके घाट उतारनेके लिये राजा लोग चतुरङ्गिणी सेनाकी सहायता लिया करते हैं । पर इन प्रसिद्ध हेतुओंके विना भी कामदेव वही काम कर रहा है, जो इन हेतुओंसे किया जाता है । 'वारण' और 'हय' दो ही अङ्गोंका कथन यह सूचित करता है कि जब हाथी या घोड़ा ही नहीं है, तब रथ और पैदल सेना तो कहाँ से होंगी !

यहाँ प्रथम और तृतीय पादोंके आरम्भमें वर्णसमुदायकी आवृत्ति निरन्तर की गई है । किसी क्लिष्ट कल्पनाकी अपेक्षाके विना ही सरलतासे अर्थबोध होनेके कारण यह यमक सुकर है ॥ ६ ॥

७. (१. ख. ३) **प्रथम-चतुर्थ-पादादि द्विपाद सुकर अव्यपेतयमक**—दसवें श्लोकमें कविने युद्धमें तीक्ष्णतासे उपलक्षित शौर्यके द्वारा भूमिजयसे राजाके

नीयते च पुनस्तृप्ति वसुधा वसुधा**रया** ॥ १० ॥

८. **करोति सहकारस्य** कलिकोत्कलिको**त्तरम्** ।
मन्मनो मन्मनो**ऽप्येष मत्तकोकिलनिस्वनः** ॥ ११ ॥

फिर धनकी धारसे तृप्त की जाती है ॥ १० ॥

८. आमकी बौर मेरे मनको प्रबल उत्कण्ठासे युक्त कर रही है । मत्त कोकिलकी यह अव्यक्त मधुर सुरतालापरूपी कूक भी (मेरे मनको अत्यधिक उत्कण्ठायुक्त कर रही है) ॥ ११ ॥

युद्धवीर और वसुधोपलक्षित प्रजाकी वसुधारासे तृप्तिके वर्णनसे **दानवीर** स्वरूपकी व्यञ्जना की गई है । कर्ता 'नृप' और एक कर्मकारक 'वसुधा'का भिन्न क्रियाओं 'जीयते' और 'नीयते'से सम्बन्ध होनेसे यहाँ **द्रव्य (कारक) दीपक** है । तालव्य और दन्त्य वर्णोंकी आवृत्तिसे **श्रुत्यनुप्रास** माधुर्यकारक है । प्रथम और चतुर्थ पादोंके आदिमें एकेक वर्णसमुदायकी सुकर तथा निरन्तर आवृत्तिसे **अव्यपेत द्विपादयमक** है । यह यमक मुख्य भाव द्विविध उत्साहकी अभिव्यक्तिमें कथमपि बाधा नहीं डालता । अतः यह यमक मधुर (रसाविरोधी) है ॥ १० ॥

८. (१. ख. ४) **द्वितीय-तृतीय-पादादि द्विपाद अव्यपेत सुकर यमक**—ग्यारहवें श्लोकमें आम्रमञ्जरी और कोयलकी कूक उद्दीपन विभाव तथा अत्यधिक उत्कण्ठासे युक्त करना अनुभावसे **विप्रलम्भरति** व्यक्त की गई है । कोकिलकी कूकपर सुरतालापके आरोपसे **रूपक** भी इसके अत्यधिक अनुकूल है । कण्ठ्य और दन्त्य वर्णोंकी आवृत्तिसे जन्य **श्रुत्यनुप्रास** माधुर्यका सर्जक है । द्वितीय पादमें **कलिकोत्** वर्णसमुदायकी तथा तृतीय पादमें **मन्मनो** वर्णसमुदायकी निरन्तर सुकर आवृत्तिसे जनित यमक इस माधुर्यको और पुष्ट कर रहा है । इस प्रकार यहाँ यमक **विप्रलम्भ**को उद्दीप्त ही कर रहा है । उसकी शोभाको कम नहीं कर रहा । अतः यमक अङ्ग है और विप्रलम्भरति अङ्गी ।

तृतीय पादमें आवृत्त '**मन्मनः**'को **रत्नश्रीज्ञान**ने '**मत्+मनस्**' ही समझा है । **वादी जङ्गालदेवने** 'अत्यन्त मधुर' अर्थ किया है,[1] तो **तरुण वाचस्पतिने** मथ्+√मन्‌से निष्पादित करके 'पीडाकर' अर्थमें पर्यवसित किया है । शब्द-

---

१. रत्नश्री : मत्तस्य कोकिलस्य निस्वनः=शब्दोऽप्येष मधुरो 'मन्मन उत्कलिकोत्तरं करोति' इति प्रकृतम् । वादिटीका : मन्मनोऽत्यन्तमधुरो मधुरतरोऽप्येष मत्तकोकिलनिस्वनः ।

९. **कथं त्वदुपलम्भाशा**विहताविह **तादृशी ।**
अवस्था नालमारोढुमङ्गनामङ्गना**शिनी ॥ १२ ॥**

९. तुम्हारी प्राप्तिकी आशाके इस विघातके होनेपर वैसी, अङ्गोंको नष्ट करने वाली (मरण) अवस्था सुन्दर अङ्गों वालीको कैसे न प्राप्त होवे ? ॥ १२ ॥

कल्पद्रुममें उद्धृत त्रिकाण्डशेष कोषके अनुसार **'मन्मन'** (अकारान्त पुंल्लिङ्ग) 'गद्गदध्वनि' अर्थ में है । **कृष्णमाचार्य**ने 'यह 'मुणमुण' आदिके समान अनुकरणात्मक शब्द भी हो सकता है', कहा है । **रङ्गराजरेड्डी** द्वारा उद्धृत विश्वकोषमें इसे 'रतिभाषित' अर्थमें बताया है । चिन्तामणि (शब्दकल्पद्रुममें उद्धृत) ने भी इसे प्रेमियुगलके सुरतालापका वाचक बताया है ।[1] अन्तिम अर्थ अवसरानुकूल तथा प्रमाणपुष्ट होनेसे उचित है । यह शब्द भौवादिक √**मण शब्दे** (१३।५[2]) से निष्पन्न है । 'मणित' इसीका पर्याय है ।। **११** ॥

९. (१. ख. ५) **द्वितीय-चतुर्थ-पादादि द्विपाद अव्यपेत सुकर यमक**—विरहिणी नायिकाकी सहेली नायकके आगमनके प्रति हताश नायिकाकी कष्टयुक्त अवस्था नायकको बता रही है । इस प्रकार कष्टावस्था अनुभावके प्रतिपादनसे **विप्रलम्भ** रतिकी व्यञ्जना यहाँ हुई है । इसके लिये अत्यन्त कोमल एवं मधुर रचनाकी अपेक्षा है । दन्त्य वर्णोंकी आवृत्तिसे यहाँ **श्रुत्यनुप्रास** इसे उत्पन्न कर रहा है । द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें भी कोमल वर्णसमुदायकी निरन्तर सुकर (अयत्नसाध्य) आवृत्तिसे यमक उस माधुर्यकी सृष्टि करके विप्रलम्भ रतिका उपकारी है । स्वरोंका आरोहावरोह भी मुख्य भावके अनुकूल है ।

'इह'को **रत्नश्रीज्ञान**ने **'विहतौ'**का विशेषण माना है । **वादी** जी ने अध्याहार्य **'अवसरे'**का तथा **तरुणवाचस्पति**ने अपनी तरुणाईके अनुकूल **'वसन्ते'**का उपस्थापक माना है । हमें रत्नश्रीज्ञान उचित प्रतीत होते हैं : मेरी सखी तुम्हें पानेकी बड़ी आशा लगाये बैठी है । तुम यदि यों उसकी आस तोड़ोगे, तो यह आशाविघात निश्चय ही उसे तोड़ डालेगा । उसकी हालत पहलेसे ही ऐसी-वैसी है । वह अब धीरे-धीरे मौतकी और बढ़ जायेगी । 'अङ्गनाशिनी

---

१. सुरते कर्णमूले तु निजदेशीयभाषया ।
दम्पत्योः कथनं यत्तु मन्मनं तं विदुर्बुधाः ॥

२. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिगण, भवतोषिणी, पृष्ठ ४०१-४०२ ।

१०. **निगृह्य नेत्रे कर्षन्ति बालपल्लवशोभिना ।**
तरुणा तरुणान्कृष्टानलिनो नलिनोन्मुखाः ॥ १३ ॥
(१. १ अव्यपेत पादादि ग. त्रिपाद यमक)
११. विशदा विशदामत्तसारसे सारसे **जले ।**

१०. कोँपलोसे सुशोभित वृक्षके द्वारा आकृष्ट युवाओंको कमलोंपर मँडराते हुये भ्रमर दोनों आँखें जकड़कर खेँच लेते हैं ।। १३ ।।

११. अवगाहन करते हुए, खूब मत्त सारसी-सारसों वाले सरोवरके जल

अवस्था' प्रेमकी दशवीं अवस्था है ।[1] बाकी नौ दशाएँ तो हो चुकी हैं । दसवीं की कसर है । अतः समय रहते चेत जाओ ! कोमलाङ्गी अबलाके वधका महापाप अपने सिर मत लो !

रत्नश्रीज्ञान और **वादीजी** द्वारा दिया '**तादृशीम्**' पाठभेद '**अङ्गनाम्**'का विशेषण है, जो अङ्गनाकी प्रेमपरवशताको व्यक्त करता है ।। १२ ।

१०. (१. ख. ६.) **तृतीय-चतुर्थपादादि अव्यपेत सुकर द्विपादयमक**—तेरहवें श्लोकमें कवि आचार्य दण्डीने **रति** भावके **उद्दीपन विभाव** वसन्तमें वृक्षोंके पल्लवित होने तथा कमलोंपर मँडराते भौंरोंके द्वारा तरुणोंको आकृष्ट किये जानेका वर्णन किया है । यहाँ बालपल्लवशोभी तरुसे तरुणीका नवयौवन के अङ्कुरोंसे सुशोभित देह व्यक्त होता है तथा नलिनोन्मुख भ्रमरोंसे नलिन (कमल)के सदृश मुखपर स्थित चञ्चल कजरारे नयन अभीष्ट हैं : पहले तरुणीका छरहरा खिलता हुआ शरीर तरुणोंका आकर्षण करता है, फिर उनको जकड़कर खेंच लेते हैं मुखकमलपर मँडराते नयनभ्रमर । इस प्रकार यहाँ **वस्तुसे रूपक** ध्वनित है । श्लोकके पूर्वार्धमें कण्ठ्य और दन्त्य वर्णोंकी आवृत्तिसे **श्रुत्यनुप्रास** है । उत्तरार्धके दोनों पादोंके आदिमें एकेक वर्णसमुदाय निरन्तर रूपसे आवृत्त है । अर्थावबोधमें क्षणांशकी भी बाधा न होनेसे यह यमक सुकर है ।। १३ ।।

(१.ग) **त्रिपादादि अव्यपेत सुकर यमक**—आचार्यने अगले चार (१४-१७) श्लोकोमें तीन पादोंके आदिमें निरन्तर (अव्यपेत) सुकर यमकके चार उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।

---

१. एवंविधैः कामलिङ्गैरप्राप्तसुरतोत्सवा ।
दशावस्थागतं कामं नानाभावं प्रदर्शयेत् ।। नाट्य० २२।१६०-१६१
सर्वैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि नास्ति समागमः ।
कामाग्निना प्रदीप्ताया जायते मरणं ततः ।। १६२

कुरुते कुरुतेनेयं हंसी मामन्तकामिषम् ॥ १४ ॥

१२. विषमं विषमन्वेति मदनं मदनन्दनः ।
सहेन्दुकलयाऽपोढमलया मलयानिलः[1] ॥ १५ ॥

में यह शुक्लवर्णा हंसी अपनी दुखदायी आवाजसे मुझे मौतका निवाला बना रही है ॥ १४ ॥

१२. मुझे आनन्दरहित (अर्थात् दुःखी) करने वाला मलयमारुत निर्मल चन्द्रकलाके साथ विषम (तीक्ष्ण, दुःसह) विषस्वरूप मदनका अनुचर हो रहा है ॥ १५ ॥

---

११ (१. ग. १) **प्रथम-द्वितीय-तृतीयपादादि त्रिपादयमक**—आचार्य कवि दण्डीने १४वें श्लोकमें रति भावके उद्दीपन विभावका ही वर्णन पिछले श्लोकके समान सरोवरमें अपने प्रियतमके वियोगमें दुःखी हंसीके करुणरवसे प्रियाकी याद आ जानेके कारण बेचैन प्रेमीके वर्णनके द्वारा किया है। सरोवरके जलमें मस्त सारस तो विहार कर रहे हैं, पर हंसी बेचारी अकेली बैठी रो रही है। उसका यह दुःखपूर्ण होनेसे कुरव वर्ण्य उत्तमपुरुषाभिधेय पुरुषको मृत्युका ग्रास बना रहा है। अर्थात् 'अन्य स्त्रीपुरुष जब चहुँ ओर आनन्दविहार कर रहे हैं, तब उसकी प्रिया उसके वियोगमें इस हंसीके समान रो रही होगी', यह सोचकर उस पुरुषके प्राण मुँहको आ रहे हैं। यहाँ इस आर्थ शोभाके साथ तदनुकूल शाब्द शोभा भी दन्त्य वर्णों और ओष्ठ्य मकार की आवृत्तिसे जन्य अनुप्राससे उत्पन्न हो रही है। तब अयत्नसाध्य अतएव सुकर त्रिपादादि अव्यपेत यमक इस माधुर्यको और भी पुष्ट कर रहा है।

विशन्तः प्रविशन्तो गाहमानाः, **आ** समन्ततः=पूर्णतया, **मत्ता** यौवनेन प्रेम्णा च क्षीबाः, **सारस्यश्च सारसाश्चेति** सारसा यस्मिन्, तस्मिन्। सरस इदम् सारसम्। तस्मिन्[2] ॥ १४ ॥

१२. (१. ग. २) **प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादि अव्यपेत सुकर त्रिपाद-यमक**—पन्द्रहवें श्लोकमें आदियमकके १२वें भेदका उदाहरण दिया है।

---

१. अन्वयः—मत्-अनन्दनः मलयानिलः अपोढ-मलया इन्दु-कलया सह विषमं विषं मदनम् अन्वेति।

२. सारसी और सारसके द्वन्द्व समासमें 'पुमान् स्त्रिया' (अष्टा० १।२।६७) से 'सारस'का एकशेष रहता है। 'सरस्+ङस्'से 'तस्येदम्' (अष्टा० ४।३।१२०) से अण्+सप्तमी ए० व०से निष्पन्न 'सारसे' 'जले'का विशेषण है।

१३. मानिनी मा निनीषुस्ते निषङ्गत्वमनङ्ग मे ।
हारिणी हारिणी शर्म तनतां तनुतां यतः[1] ।। १६ ।।

१३. हे कामदेव, मुझे तुम्हारे बाणोंका तूणीर (भण्डार) बनाना चाहती हुई, (मुझपर) मान किये बैठी, मोतियोंके हारसे सुशोभित, मनोहर (मेरी प्रिया) मुझ दुबला होते हुएका कल्याण करे। अर्थात् मान छोड़कर मुझे अपनाये ।। १६ ।।

इसमें भी रतिके उद्दीपन विभावका वर्णन है। मलयपवन उत्तमपुरुषवाच्य पुरुष या स्त्रीको यों तो पहले ही दुःखदायी था। पर वसन्त ऋतुकी चाँदनी रातोंके शुरू होते ही कोहरा छँट जानेके कारण निर्मल चन्द्रकलाके साथ मिलकर तो वह अत्यन्त दुस्सह विष, अर्थात् आशु प्राणहारी, अर्थात् उसके समान प्रेमकी पीरको बढ़ाकर प्राणलेवा, मदनका अनुगामी, बन रहा है। इस प्रकार यहाँ उद्दीपन विभावके द्वारा विप्रलम्भ रति प्रतिपादित है। दन्त्य वर्णोंकी बहुलतासे अनुप्रास तो माधुर्यकारक है ही, प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ इन तीन पादोंमें एकेक वर्णसमुदायकी निरन्तर एवं सरल आवृत्तिसे भी माधुर्यकी सृष्टि होती है। इस प्रकार यहाँ यमक विप्रलम्भरतिके सर्वथा अनुकूल है। प्रथम और द्वितीय पादोंमें प्रथम वर्णसमुदायमें नासिक्य ध्वनि अनुस्वार या परसवर्ण है, तो आवृत्तमें नकार है। नासिक्यत्वकी समानताके कारण ध्वनिप्रभावमें अन्तर नहीं आनेसे निरन्तरतामें बाधा नहीं आती ।। १५ ।।

१३. (१. ग. ३) **प्रथमतृतीय-चतुर्थ-पादादि अव्यपेत सुकर पादादियमक**—आदियमकके तेरहवें और त्रिपादयमकके तीसरे भेदके इस (१६वें श्लोकमें दिये) उदाहरणमें कविने मानिनी प्रियाके प्रति नायककी **विप्रलम्भ रति**का प्रतिपादन दोनों आलम्बनों तथा तनुत्व अनुभावके वर्णनसे किया है। नायककी प्रियाके स्वाभाविक सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति प्रथम '**हारिणी**'से तथा आहार्य सौन्दर्यकी द्वितीय '**हारिणी**'से की है। नायकके प्रति मानवती स्वाभाविक तथा आहार्य सौन्दर्यसे सम्पन्न नायिकाके प्रति नायकका प्रेम इतना बढ़ गया है कि उसे लगता है जैसे कामदेवके सारे बाण उसके हाथ लग गये हैं, और वह उन सबका प्रयोग नायकपर कर रही है। ऐसा लगता है मानों वह नायकको कामदेवका तूणीर ही बना देना चाहती है।

---

१. अन्वयः—अनङ्ग, मा ते निषङ्गत्वं निनीषुः, मानिनी, हारिणी, हारिणी तनुतां यतः मे शर्म तनुताम् ।

१४. **जयता त्वन्मुखेनास्मा**नकथं न कथं **जितम्** ?
कमलङ्कमलङ् **कुर्व**दलिमद्दलि मत्**प्रिये**¹ ।। १७ ।।

१४. हे मेरी प्यारी, हमें जीतते हुए तुम्हारे मुखने नहीं बोलने वाला, जलकी शोभा बढ़ाता हुआ, भ्रमरोंसे सुशोभित, पँखुड़ियों वाला कमल कैसे नहीं जीता ? (अर्थात् वह तो जीत ही लिया है) ।। १७ ।।

इससे नायक बहुत क्षीणता अनुभव कर रहा है। वह कामदेवसे प्रार्थना करता है कि कामदेव ऐसा कुछ करें कि वह मानिनी नायकके लिये कल्याण-कारिणी हो जाये। अर्थात् कामदेव नायिकापर भी अपने शरोंका ऐसे सन्धान करे कि वह मान छोड़नेको बाध्य हो जाए, जिससे कि नायकको नायिकासे मिलनका सुख प्राप्त हो।

यहाँ अनूप्राससे तो माधुर्य है ही, त्रिपादादियमक भी मुख्य भावके अनु-कूल माधुर्यकी सृष्टि कर रहा है। 'कामदेवका तूणीर बनाना चाहती हुई' कथनमें 'इव' आदिके विना उत्प्रेक्षा है। इससे नायककी अत्यन्त प्रेमविह्व-लता वस्तु व्यक्त होती है।

प्रथम **तनुताम्** तनु (विस्तारे), कर्तरि लोट्, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एक वचन, का रूप है। द्वितीय **'तनुताम्'** तनु+तल्, द्वितीया, ए० व०, में **'यतः'** (√इ गतौ, शतृ, पुंल्लिङ्ग, षष्ठी, ए० व०) का कर्म है ।। १६ ।।

१४. (१. ग ४) **द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादि त्रिपादयमक**— आदियमकके चौदहवें और पादादियमकके चौथे उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत प्रकृत श्लोकमें आचार्य कवि दण्डीने आलम्बन विभाव नायिकाके वर्णनसे रतिको प्रस्तुत किया है। यहाँ **'अस्मान्'**का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि हम जो कि तेरे मुखकी प्रशंसामें इतने मुखर हैं, उनको तुम्हारे मुखने जीतकर दास बना लिया है, तब इस जड, मूक, जलको शोभित करने वाले इत्यादि प्रकारके कमलकी तो बिसात ही क्या है ! यहाँ कमलके विशेषणोंसे मुखके पानीदार होनेके अतिरिक्त चञ्चल भ्रमरसदृश नयनोंसे और कमलकी पँखुड़ी जैसे ओठोंसे सुशोभित मुखका कमलसे साम्य व्यक्त होता है। कमलको जीतनेसे नायिका के मुखकी कमलसे अधिक शोभा व्यक्त होती है। अतः **व्यतिरेक** व्यङ्ग्य **है**। दन्त्य वर्णोंकी अधिकतासे दन्तप्रभासदृश कान्तिमान् **अनुप्राससे** यहाँ माधुर्य गुण है। कोमल वर्णसमुदायकी तीन पादोंमें आवृत्तिसे पुष्ट हो गया है।

---

१. अन्वयः—मत्प्रिये, अस्मान् जयता त्वन्मुखेन अकथं, कम् अलङ्कुर्वत्, अलिमत्, दलि कमलं कथं न जितम् ?

(१. १ अव्यपेत पादादि घ. चतुष्पाद यमक)

१५. रमणी **रमणीया मे** पाटला पाटलांशुका।
वारुणीवारुणीभूत-सौरभा सौरभास्पदम्[1] ॥ १८ ॥

इति पादादियमकमव्यपेतं **विकल्पितम्।**

(१. २ व्यपेत पादादि यमक)

व्यपेतस्यापि वर्ण्यन्ते विकल्पास्तस्य केचन ॥ १९ ॥

१५. गुलाबी रेशमी वस्त्रोंवाली, महकता गुलाबका फूल, पश्चिम दिशा-सदृश अरुणवर्ण सूर्यकी कान्तिवाली सुन्दरी मेरे रमणके योग्य है ॥ १८ ॥

इस प्रकार यहाँ पादोंके आदिमें प्रयुक्त अव्यपेत (अन्तररहित) यमकके भेद बताये गये। अब उस (पादादियमक) के व्यवधानमें प्रयुक्तके भी कुछ भेदोंका वर्णन किया जा रहा है ॥ १९ ॥

अकथम्—अविद्यमाना कथा वचनं यस्य, तत् (बहुव्रीहि)। तुम्हारे मुख के आगे कोई कमलकी बात भी नहीं पूछता है, भले ही वह कितना भी पानीको शोभायुक्त करे, या भ्रमर उसपर मँडरायें, या वह सुन्दर पँखुड़ियोंसे युक्त हो। यह आशय भी '**अकथम्**'का हो सकता है ॥ १७ ॥

१५. (१. घ.) **अव्यपेत सुकर चतुष्पादादियमक**—आदियमकके पन्द्रहवें भेदके इस उदाहरणमें नायककी **रति**की आलम्बन नायिकाके सौन्दर्यका वर्णन किया गया है। नायिकापर गुलाबके फूल[2]के धर्मसहित आरोपसे **रूपक** तथा वारुणीसे सादृश्य बतानेसे **उपमा** अर्थालङ्कार हैं। चारों पादोंके आदिमें एकेक वर्णसमुदायकी निरन्तर आवृत्तिसे यहाँ **अव्यपेत चतुष्पादादियमक** है। वह असंयुक्त एवं कोमल वर्णोंसे घटित होनेसे वर्ण्य वस्तुके सर्वथा अनुकूल है। क्लिष्ट कल्पनासे रहित है। अतः मधुर है ॥ १८ ॥

इस प्रकार १५ उदाहरणोंमें **सुकर अव्यपेत आदियमक**के १५ भेदोंके उदाहरण देनेके बाद आचार्यने **व्यपेत आदियमक**के पन्द्रह भेदोंमेंसे कुछके वर्णनकी प्रतिज्ञा इस (१९वें) श्लोकके उत्तरार्धमें की है।

व्यपेत यमकके भी **अव्यपेत**के समान १५ भेद होते हैं। दिग्दर्शनार्थ उनमें से १३ भेदोंके उदाहरण दिये हैं। इनमें (क) **एकपाद** यमकके चार तथा (ग) **त्रिपाद**का एक भेद नहीं हैं। (ख) **द्विपाद**के सब (छह) तथा (ग) **त्रिपादयमक**के

---

१. अन्वयः—पाटलांशुका, सौरभास्पदपाटला, वारुणीव अरुणीभूत-सौरभा रमणी मे रमणीया।

२. पाटला पाटलौ स्त्री स्यादस्याः पुष्पे पुनर्न ना।

१६. मधुरेणदृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना ।
सहकारोद्गमेनैव शब्दशेषं करिष्यति ॥ २० ॥

१६. मधु (वसन्त) मृगनयनियोंके (प्रियके प्रति) मान (रूठने) को मधुर, सुगन्धित आमकी बौरसे ही कथाशेष (समाप्त) कर देगा ॥ २० ॥

एकोन (तीन) भेद दिये हैं। (ख) चतुष्पादयमकके (१) चारों पादोंमें सजातीय वर्णसङ्घातकी आवृत्तिसे एक तथा (२) विभिन्न पदोंमें विविधतासे आवृत्तिसे तीन, इस प्रकार चार भेद दिये हैं। इस प्रकार आचार्यने यमककी रचनाकी यह भी एक दिशा अध्येताओंके सामने प्रस्तुत की है। यह प्रकार अन्य भेदोंपर भी लागू हो सकता है ॥ १९ ॥

१६. (२. ख. १.) **व्यपेत प्रथम-द्वितीयपादादि सुकर द्विपाद यमक**—दण्डीने (२. क) **एकपादादि व्यपेत यमकके** उदाहरण अत्यन्त सुगम तथा अन्य भेदोंके प्रदर्शनसे गतार्थ हो जानेसे नहीं दिये हैं। २०-२५ श्लोकोंमें (ख) **द्विपाद** यमकके व्यवधानयुक्त प्रकारके उदाहरण दिये हैं। २०वें श्लोकमें **रति**भावके उद्दीपन विभाव वसन्तका वर्णन युवतियोंमें रतिका उद्दीप्त होना बताकर किया है। वसन्तको मृगलोचनाओंका मानभङ्ग करनेके लिए कामदेवके अन्य बाणोंको तैयार करनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। केवल आम्रमञ्जरीके प्रकट होते ही वह उनके मानको अतीतकी कहानी बता देगा। यहाँ '**मधुरेण**' वर्णसमुदायकी आवृत्ति **प्रथम** और **द्वितीय** पादोंके आदिमें हुई है। परन्तु दोनों वर्णसमुदायोंके मध्य चार वर्णोंका व्यवधान है। अतः यहाँ **व्यपेत द्विपादादियमक** है। यह आवृत्ति सरल, सुखबोध्य और शोभाजनक होनेसे सुकर व्यावृत्ति है। कोमल और कुछ कठोर ध्वनियोंके मिश्रणसे सुश्लिष्ट वर्णविन्यास रतिभावके अनुकूल है। नासिक्य ध्वनियोंके विभक्त विन्याससे उत्पन्न गूँज श्लोकको सुश्रव्य बनाती है।

एणदृश्— 'एण' (मृग) शब्द पुंल्लिङ्ग है। किन्तु मान रमणियोंका मोहक होता है। अतः उपमेयकी अनुकूलतासे उपमेय 'एणी' है, 'एण' (पुं०) नहीं। एण्या दृशौ=एणदृशौ (षष्ठी तत्पु०)। ते इव दृशौ यस्याः, सा एणदृक्:[1] मृगीकी आँखोंके समान आँखों वाली। काव्यशास्त्रीय दृष्टिसे 'एण'से

---

१. कुक्कुटयादीनामण्डादिषु (वार्तिक ६।३।४२) से कुक्कुटयादिगणान्तर्गत 'मृगी'के पर्यायभूत 'एणी'को अण्डादिके समान शेषसम्बन्धसे सम्बद्ध 'दृश्' उत्तरपद रहते पुंवद्भाव होता है। 'एणदृश्+दृश्' स्थितिमें उपमानभूत 'दृश्'का 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (अष्टा० २।२।६४) से लोप होनेसे 'एणदृश्' होता है।

१७. करोति**ताम्रो रामाणां तन्त्रीताडनविभ्रमम् ।**
करोति **सेर्ष्यं कान्ते वा श्रवणोत्पलताडनम् ।। २१ ।।**

१८. सकलापोल्**लसनया कलापिन्याऽनुनृत्यते ।**
मेघाली नर्तिता वातैः सकलापो **विमुञ्चति ।। २२ ।।**

१७. रमणियोंका अत्यन्त ताम्र (लाल) हाथ (या तो) वीणाके (तारों के) ताडनरूपी विभ्रम (लीला) को करता है, या प्रियतमके प्रति कर्णोत्पल का ईर्ष्यायुक्त प्रहार (करता है) ।। २१ ।।

१८. हवाओंसे नचाई हुई मेघमाला सारा पानी छोड़ रही है । अपने पिच्छभारको फैलाकर मयूरी उसके अनुकरणमें नृत्य कर रही है ।। २२ ।।

गृहीत 'एणी'की तत्सम्बद्ध दृष्टिमें लक्षणासे 'एण-दृश्' शब्द निष्पन्न होता है ।। २० ।।

१७. (२. ख. २.) **प्रथम-तृतीयपादत व्यपेत सुकर द्विपादादियमक**—इस श्लोकमें **रति**की आलम्बन रमणियोंके कोमल करका तथा ईर्ष्या व्यभिचारी भावका वर्णन कविने किया है । समूचे श्लोकमें व्याप्त **अनुप्रास** तो माधुर्यकारक है ही, प्रथम पादके आदिमें स्थित वर्णसमुदायकी आवृत्ति तृतीय पादमें करनेसे भी विशिष्ट शोभा और माधुर्यकी सृष्टि हुई है । इसके अतिरिक्त यहाँ एक '**करोति**' क्रियापद दो कर्मोंका एक साथ दीपन करके दो वाक्योंको दीप्त कर रहा है । अतः **दीपक** अलङ्कार भी है ।। २१ ।।

१८. (२. ख ३.) **प्रथम-चतुर्थपादादिगत व्यपेत सुकर द्विपाद यमक**—२२वें श्लोकमें आचार्यने वर्षाकालमें मयूरियोंके अनुनृत्य (किसीके अनुकरणमें किये जा रहे नृत्य) का वर्णन किया है । पुरवैया हवाओंके द्वारा मेघमालाको इधरसे उधर करनेको कविने लाक्षणिक '**नर्तिता**'से व्यक्त किया है । '**आली**' शब्द भी 'माला', 'पङ्क्ति'के अतिरिक्त 'सखी'का भाव भी देता है । '**वात-नर्तिता**'से प्रियतमके सङ्गसुखके कारण झूमती कलापिनी सखीस्वरूपा मेघाली को नाचती देखकर उसके अनुकरणमें नाच उठती है । कर्मवाच्यके प्रयोगसे मेघालीके ऋतुप्रवृत्त नर्तनकी मुख्यता व्यक्त होती है । बरखा बहारमें सुखविभोर होकर अनुनृत्य करती मयूरीके स्वाभाविक वर्णनसे स्वभावोक्ति तो है ही, प्रियसङ्गमें सुखवर्षाका अनुभव करती रमणीका भाव भी व्यक्त होता है । यहाँ भी अनुप्रास तो माधुर्यकारक है ही, द्वितीयपादके आदिमें स्थित वर्णसमुदायकी चौथे पादके आदिमें व्यावृत्तिसे निष्पन्न व्यपेत सुकर यमक इस माधुर्यकी पुष्टि कर रहा है ।

१९. **स्वयमेव गलन्मान**कलि **कामिनि ते मनः ।**
कलिका**मद्य नीपस्य दृष्ट्वा कां नु स्पृशेद् दशाम् ?** ।। २३ ।।

१९. हे चाहने वाली, अपने आप ही नष्ट होते हुए मानकलह वाला तुम्हारा मन आज कदम्बकी कलीको देखकर किस अवस्थाको स्पर्श करेगा ? (अर्थात् अब कदम्बोंमें पहली कली चटकते ही उस (मन) की क्या हालत होगी ?) ।। २३ ।।।

एक बात यहाँ कविने बहुत उचित नहीं की है : कलाप (पिच्छसमूह) मयूरका ही अधिक भारी अतएव शोभायुक्त होता है । इस लिये कलापियों (नर मोरों) का वर्णन उचित होता, जैसाकि २४वें श्लोकमें है । मोरनियों का वर्णन उतना अच्छा नहीं लगता ।

कलापस्योल्लसनं कलापोल्लसनम्, तेन सहिता, सकलापोल्लसना, तया सकलापोल्लसनया । सकलाश्च ता आपः, सकलापः । ताः, 'विमुञ्चति'का कर्म होनेसे द्वितीया । उत्तर पद 'अप्'के प्रधान होनेसे नित्यबहुवचनान्तता है । अनु + √**नृती गात्रविक्षेपे** (दिवादि० १०), कर्मणि लट्, प्रथम पु०, ए० व० । २२ ।।

१९. (२. ख. ४) **द्वितीय-तृतीय-पादादिगत व्यपेत सुकर यमक**—२३ वें श्लोकमें प्रियासे रूठकर बैठी सुन्दरीके प्रियप्रेमवश मानरक्षा न कर पाने पर उसकी सहेलीकी चुहल इस श्लोकमें व्यक्त की गई है । जो रमणी प्रियके अपराध पर मान करके भी अपने आप ही, बिना प्रियकी चाटुकारिता, या अपराधक्षमाप्रार्थना अथवा अन्य किसी समुचित कारणके ही प्रियके प्रति रूठी न रह सकी, उसका 'कामिनीत्व' तो स्वतः स्पष्ट है । जब बिना कारण के ही उसकी यह हालत है, तो अब जब कदम्बोंमें इक्की-दुक्की कली दिखलाई देने लगी है, तब उसकी क्या हालत होगी ?

यहाँ दन्त्य तथा नासिक्य वर्णोंकी परस्पर व्यवहित अधिकतासे **अनुप्रास** तो माधुर्यका हेतु है ही, द्वितीय पादके आदिमें स्थित वर्णसमुदायकी पाँच कोमल मधुर वर्णोंके व्यवधानके बाद तृतीय पादके आदिमें आवृत्तिसे **द्विपादवर्ती व्यपेत यमक** भी इस माधुर्यको प्रगुणित कर रहा है । यह यमक झटिति अर्थसमर्पक होनेसे सुकर है, और श्लोकके मुख्य भाव रतिके पूर्णतया अनुकूल है ।। २३ ।।

२०. **आरुह्याक्रीडशैलस्य** चन्द्रकान्त**स्थलीमिमाम्।**
नृत्यत्येष चलच्चारुचन्द्रकान्त**शिखावलः**॥ २४॥
२१. **उद्धृता राजकादुर्वी ध्रियतेऽद्य भुजेन ते।**
वराहेण**ोद्धृता**[1] **याऽसौ** वराहेरुपरि **स्थिता**॥ २५॥

२०. हिलते हुए सुन्दर चन्दों (पिच्छों) के अन्त भाग वाला यह मयूर क्रीडापर्वतकी इस चन्द्रकान्त मणियोंसे बनी स्थलीपर चढ़कर नाच रहा है॥ २४॥

२१. जिस पृथ्वीका उद्धार वराहने किया था, (जो) श्रेष्ठ नाग (शेष) के ऊपर स्थित थी, आज राजाओंके समूहसे उद्धार की हुई वह पृथ्वी तुम्हारे बाहुके द्वारा धारण की जा रही है॥ २५॥

---

२०. (२. ख. ५.) **द्वितीय-चतुर्थपादादि व्यपेत सुकर यमक**—इस श्लोक में चाँदनी रातमें महलके प्रमद वनमें क्रीडाशैलकी जल चुवाती चन्द्रकान्त-मणिनिर्मित अकृत्रिम[2] उपत्यकामें उसे बारिस करता मेघ समझकर हर्षविभोर मयूरके नाचनेका वर्णन किया गया है। **स्वभावोक्ति** अलङ्कार है। मयूर द्रव्यका वर्णन चारुत्वपूर्वक करनेसे यहाँ **द्रव्यस्वभावोक्ति** है। क्रीडाशैलस्थलीके चन्द्रकान्तमणिनिर्मितताके वर्णनसे ऋद्धिवर्णननिमित्तक (दण्डीका प्रथम और उद्भटका द्वितीय) उदात्त भी यहाँ है। वर्णविन्यास कण्ठ्य, तालव्य एवं दन्त्य वर्णबहुल तथा सुश्लिष्ट है। ह्रस्व, दीर्घ वर्णोंका क्रम भी चुस्ती वाला है। न व्यञ्जनगत शैथिल्य है, न स्वरगत। बीच-बीचमें महाप्राण वर्णोंसे युक्त कोमल अल्पप्राण वर्णोंके प्रयोगसे काव्य सुश्रव्य है। द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें समान वर्णसमुदायकी सुकर उपस्थितिसे जनित यमक इस श्लोकको भरपूर माधुर्य प्रदान कर रहा है॥ २४॥

२१. (२. ख. ६.) **तृतीय-चतुर्थ-पादादिगत व्यपेत सुकर द्विपाद यमक**—प्रकृत (२५वें) श्लोकमें कविने किसी राजाके शौर्यके वर्णनसे उत्साह स्थायी

---

१. तुलना करें अवन्तिसुन्दरी, पृष्ठ ४३, पंक्ति १९ : न खल्वमहावराहो महीं समुद्धरति…। २०५, पंक्ति १५ : निर्गच्छतु वनादयं महावराह इवोद्धरन्धरामवधूताहिमकरमाधा पुरुषोतंस्तमेतम्। 'मकर'के बादके पाठका कोई अर्थ नहीं निकलता है। 'मकरबाधः पुरुषोत्तमः' या 'मकरमादिपुरुषोत्तंसः। तमेतम्…' पाठ कदाचित् उचित है।

२. मयूरको मणिनिर्मित स्थलकी प्रतीति वास्तविक स्थलके रूपमें हो रही है। अतः 'मणिनिर्मित' और 'अकृत्रिम' कहनेमें विरोध नहीं है।

व्यक्त किया है। इसमें वर्ण्य राजाका सादृश्य वराहावतार विष्णुसे और शत्रु राजाका शेष नागसे व्यक्त किया गया है। तृतीय पादके आदिमें प्रयुक्त वर्णसमुदाय 'वराहे' पाँच अक्षरोंके व्यवधानके बाद चतुर्थ पादके आदिमें आवृत्त है। अतः **व्यपेत द्विपादादियमक** है। यह यमक शब्द या अर्थ किसी भी दृष्टिसे क्लिष्ट नहीं है। झटिति अर्थसमर्पक है। अतः सुकर है।

प्रथम पादमें उद्धारका अपादान '**राजकात्**' दिया है। यदि तृतीय पादमें भी '**याऽब्धेः**' करके अपादान दे देते, तो राजा और वराहका सादृश्य और अच्छी तरह प्रकट होता। इसके अतिरिक्त, 'वराहने तो पृथ्वीका उद्धार जड जलराशिसे किया था, राजाकी भुजाने चेतन राजसमूहसे किया', इस प्रकारकी अर्थच्छटा प्रकट होनेसे राजाका वराहसे **व्यतिरेक** व्यक्त होता। 'असौ'से कोई विशेष आशय नहीं व्यक्त होता।

राजकम्—'राज्ञां समूहः' अर्थमें 'राजन्+आम्' प्रकृतिसे वुञ् प्रत्ययसे यह शब्द निष्पन्न होता है।[1]

कुछ ऐतिहासिकोंके मतमें प्रकृत श्लोकमें दण्डीने विदिशा (आधुनिक भिलसा, म०प्र०) के निकट उदयगिरिके गुहामन्दिरोंके बाहर स्थित ४००ई० में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा निर्मापित वराहमूर्तिका वर्णन किया है। इस मूर्तिमें नीचे शेषनागका भी आकार बना है और नारीरूप पृथ्वी वराहकी दंष्ट्रापर स्थित है। इस प्रकार नागको कुचलकर पृथ्वीका उद्धार करनेवाले वराहका वर्णन दण्डीने पहले भी किया है : **हरिणोद्धृता। भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति** (१।७३)। **मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः** (७४)। डॉ जयशंकर त्रिपाठीने 'नाग'से 'शेष'को न जाने क्यों नहीं समझा? अन्यथा वे प्रकृत और १।७३के वर्णनों में वर्ण्यविषयके स्वरूपमें अन्तर न बताते![2]

उक्त नारीमूर्तिके निर्माणमें चन्द्रगुप्तका आशय अपने भाई रामगुप्तकी पत्नी ध्रुवस्वामिनीका रामगुप्तसे या शकाधिपतिसे उद्धार करनेकी ओर सङ्केत करना था, यह कुछ ऐतिहासिकोंकी उद्भावना है। प्रकृत श्लोकसे

---

१. अष्टा०४।२।३९ : गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र-राज-राजन्य-राजपुत्र-वत्स-मनुष्याजाद् वुञ्। अमरकोष २।८।३-४ : अथ राजकम्॥ राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्।

२. डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्रका इतिहासदर्शन, पृष्ठ ४०६। प्रसादिनी १।७४, पृष्ठ १३९, पाददिप्पणी १ भी देखें।

२२. करेण **ते रणेष्वन्त**करेण **द्विषतां हताः ।**
करेणवः क्षरद्रक्ता भान्ति सान्ध्यघना इव ।। २६ ।।

२२. युद्धोमें शत्रुओंका अन्त करने वाले तुम्हारे हाथसे हत, खून झराते हाथी सन्ध्या कालके मेघोंके समान प्रतीत होते हैं ।। २६ ।।

भी यह आशय व्यक्त होता है : **'राजकात्'** में 'राजन् + क' (कुत्सा अर्थमें 'क'[1] प्रत्यय)से कापुरुष राजा रामगुप्त या कामुक होनेसे निन्दित शकाधिपति अभिप्रेत हो सकता है । 'उर्वी' ध्रुवस्वामिनीको व्यक्त करता है । 'ध्रुवा', 'अचला', 'उर्वी' पर्याय हैं । 'वराहि'से महावराहसमान चन्द्रगुप्तके द्वारा कुचले हुए रामगुप्त या शकाधिपति अभिप्रत प्रतीत होते हैं । इस प्रकार यहाँ कवि द्वारा शकाराति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी प्रशंसा की गई है ।

डॉ० कृष्णकुमारका यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता कि यहाँ 'वराह' चालुक्य वंशके राजचिह्नकी ओर सङ्केत करता है ।[2] दण्डी काञ्चीके पल्लव राजाओंके आश्रित थे, यह सुविदित है । यह डॉ० कृष्णकुमार भी मानते हैं । चालुक्योंका पल्लवोंसे पीढ़ियोंसे वैर था । चालुक्यों द्वारा काञ्चीपर घेरा डालनेके कारण दण्डीको अध्ययनकालमें दर-दर भटकना पड़ा था (प्रथम परिच्छेदकी भूमिका देखें) । ऐसी स्थितिमें वे शत्रु राजाकी प्रशंसामें कसीदे कहें, यह सम्भावित नहीं है ।। २५ ।।

२२. (२. ग. १.) **प्रथम-द्वितीय-तृतीयपादादिगत व्यपेत सुकर त्रिपादादियमक**—व्यपेत त्रिपादयमकके इस प्रथम उदाहरणमें आचार्य कवि दण्डीने किसी राजाका शौर्य युद्धमें उसके द्वारा मारे गए हाथियोंके[3] वर्णनसे बताया है । हाथियों (उपमेय) की समानता सान्ध्य घनोंसे बताई है । सादृश्यका निमित्त उपमेयमें तो **'क्षरद्रक्ताः'** विशेषणसे दिया है, उपमान घनोंमें वह **'सान्ध्य'** विशेषणसे गम्य है । कठोर महाप्राण वर्णोंकी वहुलता तथा बीच-बीचमें कोमल अल्पप्राण वर्णोंसे युक्त रचना उत्साह भावके अनुकूल है । **'करेण'** वर्णसमुदायकी आवृत्ति पहले तीन पादोंके आदिमें वर्णान्तरके व्यव-

---

१. अष्टाध्यायी ५।३।७० : प्रागिवात् कः । ७४ : कुत्सिते ।
२. अलङ्कारशास्त्रका इतिहास, पृष्ठ १०२ ।
३. 'करेणुरिभ्यां स्त्री, नेभे ।' (अमरकोष ३।३।५२) तथा 'करेणुर्गजयोषायां स्त्रियां, पुंसि मतङ्गजे ।' (मेदिनीकोष १५।४१) के अनुसार करेणु' शब्द उभयलिङ्ग है । यहाँ उपमान घनोंके पुंस्त्वके कारण पुंल्लिङ्ग ('हाथी' अर्थ) में अभीष्ट मानना उचित है ।

२३. परागत**रुराजीव वातैर्ध्वस्ता भटैश्चमूः ।**
परागत**मिव क्वापि** परागत**तमम्बरम्**[1] ॥ २७ ॥

२३. तूफानोंके द्वारा पर्वतके वृक्षोंके समूहके समान सैनिकोंके द्वारा शत्रु-सेना ध्वस्त कर दी गई । धूलसे व्याप्त आकाश मानों कहीं दूर चला गया था ॥ २७ ॥

धानमें होनेसे यहाँ व्यपेत त्रिपादादियमक है । सुखपूर्वक अर्थावबोध तथा सुश्रव्यताके कारण यह सुकर है ।

आचार्यने **प्रथम-द्वितीय-चतुर्थपादादि** भेदका उदाहरण नहीं दिया है। इसे अन्य भेदोंसे उपलक्षित समझें ॥ २६ ॥

२३. (२. ग. २) **प्रथम-तृतीय-चतुर्थपादादिगत व्यपेत सुकर त्रिपादादि-यमक**—सत्ताईसवें श्लोकमें आचार्य दण्डीने सम्भवतः पिछले श्लोकमें प्रकृत राजाके शौर्यका वर्णन उसकी सेनाके द्वारा घमासान लड़ाई करके शत्रुसेनाको ध्वस्त करनेका प्रतिपादन करके किया है । पूर्वार्धमें राजाकी सेनाके द्वारा परा चमू (शत्रुसेना) के ध्वंसकी उपमा प्रथम पादमें अन्धड़के द्वारा अग (पर्वत) पर स्थित, अथवा अग=अडिग मजबूत, तरुओंके ध्वंससे दी है । **भट** एवं **वात**में, **परा चमू**, और **अग-तरु-राजी**में उपमेयोपमान सम्बन्ध है । '**इव**' वाचक है । '**ध्वस्ता**' साधारण धर्म है । उत्तरार्धमें धूल द्वारा अम्बरको ढँक लिये जानेकी सम्भावना अम्बरके कहीं भाग जानेमें की है । इससे 'शत्रुसेनाका अधिष्ठान, परमाश्रय विजिगीषितव्य राजा कहीं जा छुपा है', यह आशय भी व्यक्त होता है । इस प्रकार उत्तरार्धमें वस्तुकी व्यञ्जना करने वाली **उत्प्रेक्षा** है । दोनों समकक्ष हैं, इस लिये इनकी द्वितीय संसृष्टि है ।

इस अर्थच्छायासे संवलित **उत्साह** भावकी शोभा शब्दगत **सुकर यमकसे** भी हो रही है । प्रथम पादके आरम्भमें प्रयुक्त '**परागत**' वर्णसमुदायकी आवृत्ति बहुत-से वर्णोंके बाद तृतीय पादके आरम्भमें और फिर चार वर्णोंके व्यवधानके बाद चतुर्थ पादके आरम्भमें की गई है ।

चतुर्थपादगत '**पराग**' शब्द यद्यपि प्रसिद्ध तो 'पुष्परजस्'में है, तथापि

---

१. अन्वय :—वातैः अग-तरु-राजी इव परा चमूः भटैः ध्वस्ता । पराग-ततम् अम्बरम् क्वापि परा-गतम् इव ॥

२४. **पातु वो भगवान् विष्णुः** सदा नव**घनद्युतिः** ।
स दानव**कुलध्वंसी** सदान-वर-**दन्ति-हा** ।। २८ ।।

२४. नवीन मेघके समान कान्ति (श्याम वर्ण) वाले, दानवोंके खानदानों को नष्ट करने वाले, मदजलसहित श्रेष्ठ हस्तीको मारने वाले वे (जगत्-प्रसिद्ध) षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न[2] विष्णु तुम्हारी रक्षा सदा करें ।। २८ ।।

इसका प्रयोग 'रजस्', 'धूलि'के लिये भी शास्त्रसम्मत है ।[1]

यहाँ तीनों '**परागत**'में से कोई भी सार्थक शब्द या पद नहीं है । द्वितीय '**परागत**' भी '**परागतम्**' पदका एकदेश (अवयव) ही है; सम्पूर्ण अवयवी नहीं । अतः 'अर्थभिन्न वर्णों, शब्दों या पदोंकी आवृत्ति' वाला लक्षण इस प्रकारके उदाहरणोंपर '**अर्थे सति**' परिष्कार होने तक लागू नहीं होता था । जबकि दण्डीका 'वर्णसंहतिकी आवृत्ति' वाला लक्षण सदा सर्वत्र अबाधित है ।। २७ ।।

२४. (२. ग. ३.) **द्वि-तृतीय-चतुर्थ व्यपेत त्रिपादादि सुकर यमक**—इस उदाहरणमें भगवान् विष्णुके प्रति कविकी **रति** उनसे श्रोताओंकी रक्षाकी आसीसके साथ व्यक्त की गई है । इन दोनोंमें **आशीः** (दण्डी २।३५५के मतमें एतन्नामक अलङ्कार) 'पातु'-शब्दोक्त होनेसे मुख्य है । **रति** इसकी सिद्धिका अङ्ग बन गई है । यहाँ चार अक्षरोंके समुदाय (**सदानव**) की आवृत्ति दूसरे, तीसरे और चौथे पादोंके आदिमें चार-चार अक्षरोंके व्यवधान से हुई है । किन्तु अर्थावबोधमें तनिक भी क्लेश नहीं होता । अतः यहाँ **त्रिपादादि व्यपेत यमक** और **सुकर** है । '**स-दान-वर दन्ती**'से 'कुवलयापीड' नामक **गज़** अभिप्रेत है, जिसे विष्णुने कृष्णावतारमें कंसवधसे पहले यमधाम पठाया था ।[3] विधेय क्रियापद 'पातु'का सबसे पहले प्रयोग आशीःपर बल देने को किया है ।। २८ ।।

---

१. अमरकोष २।४।१७ : परागः सुमनोरजः । ३।३।२१ : परागः कौसुमे रेणौ, स्नानीयादौ, रजस्यपि ।
२. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य, यशसः, श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीङ्गना ।।
३. हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व २९।२४-३८ :
सार्तनादं महत् कृत्वा विदन्तो दन्तिनां वरः ।
पपात स महामात्रो वज्रभिन्न इवाचलः ।। ३८

२५. कमले**स्समकेशं ते,** कमले**र्ष्याकरं मुखम्** ।
कमले**ख्यं करोषि त्वं** कमले**वोन्मदिष्णुषु**[1] ।। २६ ।।

२५. तुम्हारा सिर[2] भौंरोंके समान (काले) केशों वाला है; मुख कमल से इर्ष्या करने वाला है । तू कमला (लक्ष्मी) के समान है । किसे तुम उन्मादशील लोगोंमें नहीं लिखे जाने योग्य करती हो ? अर्थात् तुम्हें देखकर कौन न बौरा जाये ? ।। २६ ।।

---

२५. (२. घ १) **एक-जातीय सर्वपादादि व्यपेत सुकर यमक**—प्रकृत श्लोकमें आचार्यने किसीके द्वारा उसके सामने स्थित किसी सुन्दरीके सौन्दर्य की प्रशंसा कराई है । प्रथम पादमें **अलि** उपमान है, **केश** उपमेय एवं **सम** वाचक है । साधारण धर्म कृष्णता गम्य है । इस प्रकार **उपमा** है । द्वितीय पादमें मुखको कमलोंमें भी ईर्ष्या उत्पन्न करने वाला कहकर मुखकी कमलसे समता (**उपमा**) कही है । √इर्ष्य् को २।६२में उपमावाचकोंमें दिया है । अतः दण्डीके अनुसार मुखको कमलोंसे भी सुन्दर बतानेसे **व्यतिरेक** नहीं है ।

'**कमलेव**'में भी धर्मलुप्ता उपमा है । ये **उपमायें** समकक्ष हैं । अतः द्वितीय **संसृष्टि** है । प्रथम पादके आदिमें प्रयुक्त '**कमले**' वर्णसमुदाय पाँच-पाँच अक्षरोंके व्यवधानसे अगले तीन पादोंके आदिमें आवृत्त है । एक ही वर्णसमुदायकी व्यवधानसे आवृत्तिके कारण यह **एकजातीय चतुष्पादादि व्यपेत सुकर यमक** है ।

उत्तरार्धका यह अर्थ टीकाओंके अनुकरणमें किया है । पाणिनिका अनुशासन यदि तनिक ढीला किया जा सके,[3] तो यह व्याख्या प्रस्तुत है : कमला (समुद्रसे उत्पन्न लक्ष्मी) ने जैसे उसके रूपको देखकर मस्त होने वाले सुरासुरोंमें लेखों (देवों[4]) के हितकारी (विष्णु) से इतर कर दिया था, वैसे

---

१. अन्वय :—ते कम् अलेः समकेशम्; मुखं कमलेर्ष्याकरम् । त्वं कमला इव । उन्मदिष्णुषु कम् अलेख्यं करोषि ?
२. अमरकोष ३।३।५ : मारुते, वेधसि, ब्रध्ने कः; कं शिरोऽम्बुनोः ।
३. लेखेभ्यो हितो लेख्यः 'तस्मै हितम्' (अष्टा० ५।१।५) अर्थमें गवादिगणान्तर्गत न होते हुए भी 'उ-गवादिभ्यो यत्' (अष्टा० ५।१।२) से 'यत्' यदि किया जा सके । अन्यथा 'प्राक् क्रीताच्छः' (५।१।१) से 'लेखीय' रूप पाणिनिके अनुसार शुद्ध है ।
४. अमरकोष १।१।८ : आदितेया, दिविषदो, लेखा, अदितिनन्दनाः ।

२६. मुदा　रमण**मन्वीत**मुदारम**णिभूषणाः** ।
मद्भ्र**मद्दृशः कर्तु**मदभ्र**जघनाः क्षमाः**[1] ।। ३० ।।

२६. (क) बड़ी-बड़ी मणियोंके गहनों वाली, (ख) मदके कारण चञ्चल दृष्टि वाली, (ग) कटिके विशाल पुरोभागवाली, स्त्रियाँ[2] (अपने) प्रियतमको प्रमोदसे युक्त करनेमें समर्थ होती हैं ।। ३० ।।

किसे तुम्हारे रूपको देखकर मस्त होने वाले लोगोंमें लिखे जानेके अयोग्य कर रही हो ? अर्थात् किस एकको अपना कर उसे उन्मदिष्णुओंमें अलेख्य बना रही हो ?

इस व्याख्यामें '**अलेख्यम्**'में श्लेष है : (क) लेखा देवाः । तेभ्यो हितो लेख्यो विष्णुः । न लेख्यः अलेख्यः लेख्याद् भिन्नः । (ख) लेखितुं योग्यो गणनायोग्य इति यावत् । न लेख्यः अलेख्यः, गणनाया अयोग्यः । **अलेः समकेशम्**—समाः तुल्याः केशा यस्य, तत् समकेशम् (बहुव्रीहि) । यहाँ 'अलि' का सम्बन्ध समुदाय 'समकेश'से सीधे न होकर समुदायके अवयव 'सम'के द्वारा होनेके कारण[3] 'अलि' शब्दमें 'सम'के योगमें षष्ठी हुई है[4] ।। २६ ।।

२६. (२. घ. २.) **व्यपेत, सुकर, अर्धसम, चतुष्पादादि यमक**—आचार्य दण्डीने ३० वें श्लोकमें स्त्रियोंके आहार्य और स्वाभाविक सौन्दर्यका वर्णन किया है । आचार्यका क्रम अर्थपूर्ण है : (क) पहले स्त्रियोंकी समृद्धि बताते हुए उनके बेशकीमती रत्नों वाले गहनोंसे आहार्य सौन्दर्यको बताया है; फिर (ख) यौवनमदमाती चञ्चल अँखियोंका वर्णन किया है; आहार्य रूपके बाद स्वाभाविक रूपके लिये चेहरेपर नज़र पड़ना स्वाभाविक है; (ग) फिर रमणोंके लिये आकर्षणके केन्द्र कटितटका वर्णन किया है; वहाँ तक पहुँचनेके

---

१. अन्वय :—(क) उदारमणिभूषणाः, (ख) मद-भ्रमद्-दृशः, (ग) अदभ्रजघनाः रमणं मुदा अन्वीतं कर्तुं क्षमाः ।

२. जघनं स्यात् स्त्रियाः श्रोणिपुरोभागे, कटावपि । मेदिनीकोष
पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः, क्लीबे तु जघनं पुरः ।। अमरकोष २।६।७४

३. महाभाष्य २।१।१ : समासेऽप्युपसर्जनविशेषणं भवति । तद् यथा—देवदत्तस्य गुरुकुलम्; देवदत्तस्य गुरुपुत्रः; देवदत्तस्य दासभार्येति । वाक्यपदीय ३।१४।४८ तथा इसपर हेलाराजकी टीका भी देखें :
समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना ।
संस्पृश्यावयवांस्ते च युज्यन्ते तद्वता सह ।।

४. अष्टाध्यायी २।३।७२ : तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।

२७. उदितैरन्यपुष्टानामारुतैर् मे हृतं मनः ।
उदितैरपि ते दूति, मारुतैरपि दक्षिणैः ।। ३१ ।।

२७. हे दूति, मेरा मन (क) कोयलोंकी उठी तानोंने और (ख) तुम्हारी बातोंने तथा (ग) दक्षिणी बयारोंने हर लिया है ।। ३१ ।

बाद भला रमण प्रसन्न क्यों न होगा ? '**रमण**'का प्रयोग भी अवसरके अनुकूल किया है ।

श्लोकके पूर्वार्धके दोनों चरणोंके आदिमें '**सुदारम**' चार वर्णोंके समुदाय की और उत्तरार्धके दोनों चरणोंके आदिमें '**सद्रश्र**' (तीन वर्णोंके समुदाय) की व्यवहित आवृत्ति की गई है । इस प्रकार यहाँ यमक चारों पादोंमें है। तथापि पूर्वार्धमें अन्य वर्णसमुदायकी और उत्तरार्धमें अन्य वर्णसमुदायकी आवृत्ति होनेसे यहाँ **अर्धसम** चतुष्पाद **व्यपेत यमक** है । ये सब आवृत्ति सुकर हैं । उच्चारण और अवबोध, दोनों स्तरोंपर किसी प्रकारकी क्लिष्टता इनमें नहीं है । अतः कोमल रसोंकी अभिव्यक्तिमें भी साधक है, बाधक नहीं ।

अन्वीतम्—अनु + √ई + क्त (भावे) । यह √ई कुछ आचार्योंके मतमें **इट किट कटी गतौ** (भ्वा० ६।२६-३१) में प्रश्लिष्ट है।[1] सेट् अजन्त धातुओंमें अपठित होनेसे यह अनिट् है[2] ।। ३० ।।

२७ (२. घ. ३.) **व्यपेत सुकर चतुष्पादादि यमकका एक अन्य (विषम) प्रकार**—इस श्लोकमें रतिके उद्दीपन विभावोंका वर्णन किया गया है । (क) वसन्तमें आमोंमें बौर आते ही कोयलोंने मीठी तान छेड़ी ही थी कि मनमें प्रेम अँगड़ाई लेने लगा । (ख) तभी सौभाग्यसे प्रियाका सन्देश लेकर दूती आ गई । उसकी मीठी बातोंसे मन मुग्ध हो ही रहा था कि (ग) तभी दक्षिणी बयार बहने लगी । तब मन कहाँ काबूमें रहने वाला था ! इस प्रकार रतिकी एकके बाद एक उद्दीपन बस्तुओंको इस श्लोकमें प्रस्तुत किया गया है । इसके अतिरिक्त एक नामीभूत क्रियापद '**हृतं**'का सम्बन्ध

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि : इट, किट, कटी गतौ । केचित्तु··· अन्ते च 'इ-ई' इति प्रश्लिष्य 'अयति···अयांचकार' इत्याद्युदाहरन्ति । विशेषार्थ हमारी भवतोषिणी, पृष्ठ ३३४-३३६ देखें ।

२. ऊदृदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः ।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ।। भ्वादि, पृष्ठ २०३

२८. सुरा-जित-**ह्रियो यूनां** तनुमध्या**सते स्त्रियः ।**
तनु-मध्याः **क्षरत्स्वेद**-सु-राजित-**मुखेन्दवः** ॥ ३२ ॥

२८. मदिरा द्वारा जीत ली गई लज्जा वाली, पतली कमर वाली, चूते हुए पसीनेसे सुशोभित मुखचन्द्रवाली स्त्रियाँ युवाओंके शरीरपर विराजमान हैं ॥ ३२ ॥

तीन कर्ताओं **'आरुतैः'**, **'उदितैः'** और **'मारुतै'**से बतानेसे **क्रियादीपक** अर्थालङ्कार है। यहाँ सार्थक (समानार्थक) **'उदितैः'** वर्णसमुदाय प्रथम और तृतीय पादोंमें प्रदत्त है। दोनोंके बीचमें बहुतसे स्वर-व्यञ्जन वर्णोंका व्यवधान है। इसी प्रकार निरर्थक **'मारुतः'** द्वितीय पादके आदिमें है, तो सार्थक **'मारुतैः'** चतुर्थपादके आदिमें बहुतसे स्वर-व्यञ्जनोंके व्यवधानसे आवृत्त है। विषम और सम पादोंमें आवृत्तिका यह एक अन्य प्रकार यहाँ आचार्यने दिया है ॥ ३१ ॥

२८. (२. घ. ४) **व्यपेत सुकर चतुष्पादादि व्यत्यस्त यमक**—इस श्लोक में रसिकशिरोमणि कवि दण्डीने विपरीतरतिमें पुरुषपर अध्यासित रमणियों की सम्भोगकालिक अवस्थाका चित्रण किया है। यहाँ गुणन चिह्न (×) आकारके समान प्रथम पादके आदिमें दत्त वर्णसमुदाय **'सुराजित'** की आवृत्ति चौथे पादके आदिमें की गई है और द्वितीय पादके आदिमें स्थित **'तनुमध्या'** की आवृत्ति तृतीय पादके आदिमें की गई है। इनमें परस्पर पर्याप्त वर्णोंका व्यवधान है। क्लिष्टकल्पनासे रहित और सुश्रव्य होनेके कारण ये यमक सुकर हैं। पुरुषकर्म करती स्त्रियोंमें पुरुषताकी अभिव्यक्तिके लिये महाप्राण वर्ण, संयुक्त वर्ण तथा विसर्गोंका प्रयोग कविने स्त्रीत्वोचित कोमल वर्णोंके साथ-साथ किया है।

तनुमध्यासते—**आसु उपवेशने** (अदादि ११) का अधिकरण 'तनु' √आस्से 'अधि' के योगके कारण कर्म बन गया है।[1]

सुराजितह्रियः—सुरया जिता ह्रीर्यासाम् (बहुव्रीहि), ताः। **तनुमध्याः**—तनु मध्यं यासां (बहु०) ताः। **क्षरत्स्वेदसुराजितमुखेन्दवः**—क्षरंश्चासौ स्वेदः=क्षरत्स्वेदः (कर्मधारयतत्पुरुष); सुष्ठु राजितः=सुराजितः (गति-तत्पुरुष); क्षरत्स्वेदेन सुराजितः=क्षरत्स्वेदसुराजितः (तृतीयातत्पु०); मुख-

---

१. अष्टा० १।४।४६ : अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म।

इति (२) व्यपेतयमक**प्रभेदोऽप्येष दर्शितः ।**
(३) अव्यपेत-व्यपेतात्मा **विकल्पोऽप्यस्ति, तद् यथा ॥ ३३ ॥**

२९. सालं साल**म्बकलिका**सालं साऽलं **न वीक्षितुम् ।**
नालीनालीन**बकुला**नाली नालीकि**नीरपि**[1] ॥ ३४ ॥

इस प्रकार (२) **व्यपेतयमक** नामक भेद भी यह दिखला दिया है । (३) **अव्यपेत और व्यपेत**के मिश्रण वाला भेद भी है । वह जैसे—॥ ३३ ॥

२९ वह (मेरी) सखी (१) न लटकती हुई कलियोंके प्राकार वाली (अर्थात् कुसुमकलिकाच्छादित) वृक्षको नहीं देख सकती है; (२) न मौल-सिरीको छुपाने वाले भौंरोंको; और (३) न (भौंरोंसे छिपी हुई) पद्मिनियों को (देख सकती है) ॥ ३४ ॥

मेवेन्दुः=मुखेन्दुः (उपमिततत्पुरुष[2]) । क्षरत्स्वेदसुराजितो मुखेन्दुर्यासां, (बहुव्रीहि) ताः स्त्रियः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार सुकर आदियमकके (२) **व्यपेत** नामक भेदके १३ प्रभेद २०-३२ श्लोकोंमें उपलक्षित किये हैं । इसके (क) **एकपाद** यमकके चारों तथा (ग) **त्रिपादयमक**का एक (२) **प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादि**, कुल पाँच भेद नहीं दिए हैं । इस प्रकार **व्यपेत यमक**के कुल दस भेदोंके १३ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । पन्द्रहवें भेद (१ घ) **चतुष्पादादियमक**के (i) सम और (ii) द्विविध **अर्धसम** तथा (iii) एकविध व्यत्यस्त (क्रॉस्) प्रभेद यमकके अन्य भेदों में भी सम्भव हैं । अतः वे अन्यत्र तादृश विच्छित्तियोंके उप-लक्षणार्थ दिये समझे जाने चाहियें ।

इसके बाद (३) **अव्यपेत** और **व्यपेत**के मिश्रण वाले (१)**आदियमक** भेदके १५ भेदोंमें से एक **चतुष्पाद** प्रभेदके १. **अर्धसम** (३४), २. **व्यत्यस्त** (३५) एवं ३. **सजातीय** प्रकार दिए हैं । ये अन्य भेदोंके उपलक्षक हैं ॥३३॥

२९ (३. घ १) **अव्यपेत-व्यपेत अर्धसम चतुष्पाद यमक**—आचार्यने इस श्लोकमें **रति**के उद्दीपन विभाव वसन्तका और आलम्बन विभाव आली (सखी) का वर्णन किया है । (१) सखी कलियोंसे पूरी तरह आच्छादित

---

१. अन्वय :—सा आली सालम्ब-कलिका-सालं वीक्षितुं न अलम् । न आलीनबकुलान् अलीन्, नालीकिनीः अपि (वीक्षितुम् अलम्) ।

२. अष्टा० २।१।५६ : उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ।

वृक्षोंको नहीं देख सकती। इससे बहारकी रुत पूरी तरह बहारपर है, यह सूचित होता है। कलिकाओंपर 'साल' (प्राकार)के आरोपसे कलिकाओंका अत्यन्त घनत्व सूचित होता है। इससे एक बात और प्रकट होती है: वसन्तने जैसे किलेबन्दी कर ली है और सखी इससे इतनी व्याकुल, भीत हो गई है कि उधर नज़र उठाते भी डरती है। (२) मौलसिरीके पेड़ भी इतने पुष्पित हो गये हैं कि उनपर बैठे मँडराते भौंरोंसे वे छुप गये हैं; पूरी तरह ढँक गये हैं। वक्त्रीकी सखी उसे भी नहीं देख सकती। उसे ये भौंरे मदन-महीपके सेनापति वसन्तके सैनिक जो लगते है। सखी तालाबोंमें खिले कमलोंको भी नहीं देख सकती। मदमाते नशीले मौसममें प्रिय रविके कर-स्पर्शसे खिली हुई पद्ममिनियाँ आलीको अपने एकाकीपनका बार-बार भान कराकर प्रियतमकी यादकी टीसको मनमें जगा-जगा जाती हैं। कैसे देखे वह इन प्रियाकी मनभावती पद्मिनियोंको! इस प्रकार उसे उपवनभ्रमण भी बेचैन ही करता है।

यहाँ पूर्वार्धके दोनों पादोंके आदिमें व्यवधानरहित **'सालं'** वर्णसमुदायकी एवम् व्यवधानयुक्त **'सालंसालं'** की आवृत्ति है। उत्तरार्धके भी दोनों पादोंके आदिमें इसी प्रकार पूर्वार्धसे विजातीय वर्णसमुदाय **'नाली'**की बिना व्यवधान के तथा **'नालीनाली'** की वर्णान्तरके व्यवधानमें शोभाजनक आवृत्ति है। इस प्रकार इस श्लोकका पूर्वार्ध एक समान वर्णसमुदायकी आवृत्तिसे युक्त है, तो उत्तरार्ध भी समान वर्णसमुदायकी अव्यपेत और व्यपेत आवृत्तिसे युक्त है। अतः यह **अव्यपेत-व्यपेतोभयात्मक चतुष्पाद आदि-यमक** है। किन्तु यह तथा अगले कुछ भेद आजके कोमलमति विद्वानोंके लिये बहुत सुकर नहीं हैं।

'साल' शब्दके तीन अर्थ होते हैं: (१) वृक्ष, (२) 'साल' (सर्ज) नामक खास वृक्ष, (३) प्राकार।[1] प्रथम **'सालं'** पद 'वृक्ष' अर्थमें उचित है, वृक्षविशेष नहीं, क्योंकि वृक्षविशेष सालमें कलिका (या फूल) वसन्तमें नहीं, अपितु ग्रीष्ममें आती हैं। यहाँ वर्णन वसन्तका प्रचलित है, यह तृतीय पादमें स्पष्ट है। अन्य ऋतुमें इतनी पुष्पसमृद्धि सम्भव नहीं है। द्वितीय **'साल'** से 'प्राकार' अभीष्ट है। यह कलिकाओंका घनत्व सूचित करता है। **रत्नश्रीज्ञानने 'साल'** का एक अर्थ 'शाखा' किया है: लटकती हुई कलियोंसे युक्त शाखाओं वाले 'साल' नामक तरुविशेषको। **तरुणवाचस्पति**ने र-लमें अभेद मानकर **'साल=सार=श्रेष्ठ'** अर्थ किया है।

---

१. सालः पादपमात्रे स्यात्, प्राकारे, सर्जपादपे। मेदिनीकोष

३०. काऽलं काल**मनालक्ष्य**-तार-तार**कमीक्षितुम्** ।
तारताऽर**म्य-रसितं** कालं काल-**महाधनम्** ॥[1] ३५ ॥

३० जिसमें उज्ज्वल तारे बिलकुल नहीं दिखाई दे रहे हैं, जोरदार (गम्भीर) होनेके कारण मनको अच्छी नहीं लगने वाली (डरावनी) गर्जना[2] वाले, काल (मौत जैसे), काले-काले विशाल बादलों वाले काल (वर्षासमय) को कौन स्त्री देख सकती है ? ॥ ३५ ॥

नालीकिनी—नालं पद्म-दण्डोऽस्त्यस्येति नालीकम्, कमलम्, नाल+ठन् । तदस्त्यस्याम् इति नालीकिनी पद्मिनी[3] ॥ ३४ ॥

३०. (३. घ. २) **अव्यपेत-व्यपेत चतुष्पादादि व्यत्यस्त यमक**—इस श्लोकमें कविने रमणियोंके लिये अत्यन्त त्रासदायक वर्षाकालका स्वाभाविक वर्णन किया है । अतः यह **रति**का उद्दीपन विभाव है । इस मौसममें बादल इतने काले और गहरे होते हैं कि चमकने वाले तारे दिखलाई भी नहीं देते । भीरुस्वभावा रमणियोंको मेघगर्जना यों ही डरावनी होनेके कारण अच्छी नहीं लगती । पर बहुत तेज गड़गड़ाती होनेके कारण तो यह बिलकुल ही अच्छी नहीं लगती । विरहिणियोंको तो यह मौसम साक्षात् काल प्रतीत होता है । ऐसी ऋतुमें विरहिणियोंके सामने प्रेमविह्वलता और भयके मारे आँखें मूँदकर दुबककर पड़े रहनेके अतिरिक्त कोई चारा नहीं है ।

यहाँ वर्षाकालपर काल (मौत) का आरोप उद्दीपकता बढ़ाता है । **रत्नश्रीज्ञान**ने '**तारता-रम्य-रसितं**' छेद करके वर्षाकालको 'रम्य' बताया है ।

---

१. अन्वय :—अनालक्ष्य-तार-तारकं तारताऽरम्य-रसितम्, काल-महाघनं, कालं, कालम् ईक्षितुं का अलम् ?
२. स्तनितं, गर्जितं, मेघ-निर्घोषो, रसितादि च ॥ अमरकोष १।३।८
३. नाल+ठन् से 'नालिक' निष्पन्न होता है : अत इनिठनौ (अष्टा० ५।२।१२५) । अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३७) से इकारको दीर्घ : नालीक । पुष्करादिगणान्तर्गत होनेसे पुष्करादिभ्यो देशे (५।२।१३५) से इनि, ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५)से स्त्री प्रत्यय ङीप् । व्याकरणके अनुसार यद्यपि 'पद्मिनी', 'अब्जिनी', 'नालीकिनी' आदि शब्द 'पुष्करिणी' (पोखर, कमलताल) अर्थमें ही सीमित हैं, तथापि ये सरोजोंके लिये रूढ हो गए हैं : नलिन्यां तु बिसिनीपद्मिनीमुखाः (अमरकोष १।१०।३९) ।

३१. याम याम-**त्र्याधीना**यामया **मरणं निशा।**
यामयाम **धियाऽस्वात्र्या**यामया **मथितैव सा**[1] ॥ ३६ ॥

३१. तीन पहरोंके अधीन विस्तार वाली (अर्थात् तीन पहर बची हुई, अत एव लम्बी) रातके द्वारा (इसके रहते) हम मर जायें, (यह सम्भावित है)। जिसे हम बुद्धिसे पहुँचे थे (जो मनमें बसी हुई है), प्राणपीडाकारी (प्रेम-) रोगवाली वह मर ही चुकी (होगी) ॥ ३६ ॥

यह श्लोकके मुख्य भावके विपरीत है। **वादी जङ्घालदेवने** रत्नश्रीप्रोक्त व्याख्याके अतिरिक्त अरम्यता वाली व्याख्या भी दी है। **तरुणवाचस्पतिने** केवल 'अरम्य' छेद किया है।

प्रथम पादके आदिमें दत्त **'काल'** की आवृत्ति यहाँ तथा चौथे पादके आदिमें अव्यवहित रूपमें की गई है। प्रथम और चतुर्थ पादोंमें द्वितीय और तृतीय पादोंका व्यवधान भी है। इस प्रकार यह यमक **अव्यपेत** एवं **व्यपेत** दोनों प्रकार का है। इसी प्रकार द्वितीय पादके आदिमें प्रयुक्त **'तार'** की भी आवृत्ति वहीं और तृतीय पादके आदिमें अव्यवहित रूपमें होनेके अतिरिक्त दोनों पादोंके मध्य चार अक्षरोंका व्यवधान भी है। अतः यह यमक भी **अव्यपेत** और **व्यपेत** दोनों प्रकारका है। (क) प्रथम और चतुर्थ, (ख) द्वितीय और तृतीय पादोंमें व्यस्त क्रमके कारण यह यमक विशेष शोभाकारक हो गया है, परन्तु उतना सुकर नहीं है ॥ ३५ ॥

३१. (३. घ. ३) **अव्यपेत-व्यपेत चतुष्पाद सजातीय यमक**—इस श्लोक में अत्यधिक प्रेम करने वाली प्रियामें अत्यन्त अनुरक्त विरही पुरुषने मिलन न होनेके कारण अपनी और प्रियाकी अत्यन्त दुःखमय दशाका वर्णन किया है। इस प्रकार **विप्रलम्भ** रतिकी तीव्रतम पीड़ाका प्रदर्शन यहाँ किया गया है।

इसमें विरही नायक कहता है कि अभी तो रातका प्रथम प्रहर ही बीता है, तीन पहर रात बाकी है। पर यह कट नहीं पायेगी। विरहज्वाला इतनी प्रबल है कि रात बीतते-न-बीतते प्राणों की बलि ले लेगी, यह लगता

---

१. रत्नश्री : याम-त्र्याधीनायामया निशा मरणं याम। याम् अयाम्, अस्वात्र्यांया सा अधिया मया मथितैव। वादिजीने यह अन्वय भी किया हैं : स्वात्र्या धिया याम् अयाम, सा अयामया एव मथिता। तरुणवा०: धिया याम् अयाम, अस्वात्र्यायामया सा मथितैव। शेष समान है। व्याख्या देखें।

इत्यादि-पाद-यमक-विकल्पस्येदृशी गतिः ।
एवमेव विकल्प्यानि यमकानीतराण्यपि ।। ३७ ।।

पादोंके आदिमें होने वाले यमकके विकल्प (भेद) की गति (स्वरूप) ऐसी है । अन्य यमकोंके भेद भी इसी तरह किये जाने चाहियें ।। ३७ ।।

है । खैर, मेरी तो जो हालत है, सो है; मेरी प्रियाका क्या हाल होगा । शरीरसे तो हम उसके पास जा नहीं सकते; पर उसके बारेमें सोच तो सकते ही हैं । मेरे विरहमें प्राणसङ्कटकारी प्रेमव्याधि वाली वह बेचारी तो मर ही गई होगी ।

रत्नश्रीज्ञान, और **वादिजी**के अन्वयों तथा व्याख्याओंमें नायकके लिये एक बार **'याम'** बहुवचन और दो बार **'अयाम्** एवं **'मया'** में एकवचनका विक्षेपसूचक प्रयोग है । इसके अतिरिक्त **'याम् अयाम्'** का कोई बहुत औचित्यपूर्ण अर्थ इन व्याख्याओंमें नहीं निकलता । 'मुझ मूर्खने प्राणकष्टकारी पीडाको प्राप्त उसे मार ही डाला है', अर्थमें नायकद्वारा नायिकाके परित्याग की कल्पना अपेक्षित है । अतः इन दोनों आचार्योंकी व्याख्याएँ बहुत सङ्गत नहीं है । **तरुणवाचस्पति** की व्याख्या ठीक है ।

निशा—'निश्' (रात) प्राचीन प्रकृति है । भागुरि आचार्य 'निशा' को इसीका परिवर्धित रूप मानते हैं । पाणिनिने पश्चात्कालिक 'निशा' को आधार बनाकर प्राचीन रूपको शस् (द्वितीया बहुवचन) आदि विभक्तियोंमें विकल्पसे समाविष्ट किया है ।[1] अतः 'निशया', 'निशा' ।

प्रथमपादादिस्थ **'याम'** की चारों पादोंमें अव्यवहित आवृत्ति है और **'यामयाम'** की व्यवधानसे । अतः यह मिश्रात्मक यमक है । चारों पादोंमें सजातीय **'याम'** और **'यामयाम'** वर्णसमुदायोंकी आवृत्ति है, अतः यह **चतुष्पादवर्ती सजातीय यमक** है । रचनाकी दृष्टिसे यह सुकर नहीं है । ३९वें श्लोकसे तुलना करें ।। ३६ ।।

इस प्रकार आचार्य दण्डीने **पादादि** यमकके (१) **अव्यपेत** भेदके पूरे १५ भेदोंके, (२) **व्यपेत** यमकके ९ भेदोंके तथा १५वें भेद **चतुष्पाद** यमकके

---

१. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां, यथा वाचा, निशा, दिशा ।।
अष्टाध्यायी ६।१।६३ : पद्दन्नोमासहृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ।

न प्रपञ्चभयाद् भेदाः कात्स्न्र्येनाख्यातुमीप्सिताः।
दुष्करा**भिमता एव दर्श्यन्ते तत्र केचन**॥ ३८ ॥

१. **स्थिरा**यते, यते**न्द्रियो न** ह्रीयते यते**र्भवान्**।
अमायतेयतेऽ**प्यभूत् सुखा**य तेऽयते **क्षयम्**[1]॥ ३९ ॥

विस्तारभयसे भेद पूरी तरह कहना अभीष्ट नहीं है। उनमेंसे कुछ दुष्करके रूपमें अभिमत (भेद) ही दिखाए जा रहे हैं ॥ ३८ ॥

हे स्थिर भविष्य वाले, इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखने वाले आप (किसी) यतिसे हीन (कम) नहीं हैं। तुम्हारी निश्छलता भी तुम्हें क्षीण न होने वाला इतना सुख देने वाली हो गई है ॥ ३९ ॥

---

४ प्रकार और (३) **अव्यपेत-व्यपेत** भेदके १५वें भेदके ३ प्रकार उदाहरणों से प्रदर्शित किये हैं। इस प्रकार कुल ३१ उदाहरणोंमें **पादादियमक**का प्रदर्शन आचार्यने किया है। इसके बाद आचार्यका कहना है कि यह तो दिशा है विकल्पोंके प्रदर्शनकी। अन्य **पादमध्य** आदि छह विधाओंके भेदोंके उदाहरण भी इसी प्रकार समझ लेने चाहियें। आचार्य रत्नश्रीज्ञानने इनमेंसे ८ भेदोंके उदाहरण प्रदर्शित किये हैं ॥ ३७ ॥

विस्तारभयसे सब भेदोंके उदाहरण देना अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार काव्यमें माधुर्योत्पादक (क) **सुकर** यमकोंका उदाहरणोंसे प्रदर्शन करनेके बाद माधुर्यव्याघातक (ख) **दुष्कर** यमक अगले ३९ श्लोकोंमें प्रदर्शित किया है। **दुष्कर** यमकके भी सब भेदोंका प्रदर्शन विस्तारभयसे नहीं दिया है। गिने-चुने भेदोंके उदाहरण दिये हैं ॥ ३८ ॥

दुष्कर यमक : १. (३. घ. २) **अव्यपेत-व्यपेत चतुष्पाद सजातीय पादमध्य यमक**—इस श्लोकमें किसी इन्द्रियसंयमी निश्छल पुरुषका वर्णन किया गया है। यहाँ एक ही वर्णसमुदाय '**यते**' चारों पादोंके मध्यमें अव्यवहित रूपसे और '**यतेयते**' व्यवहित प्रकारसे आवृत्त है। इसकी तुलना ३६वें श्लोकसे की जा सकती है। यह उसकी अपेक्षा आसान है। **रत्नश्री**में इसे '**अव्यपेत यमक**' बताया है। सम्भवतः यह लेखकका प्रमाद है ॥ ३९ ॥

---

१. अन्वय :—स्थिरायते, यतेन्द्रियो भवान् यतेर्न ह्रीयते। अमायताऽपि ते क्षयम् अ-यते इयते सुखायाभूत्।

२. **सभासु** राजन्नसुराहतैर्**मुखैर्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः ।**
न भासुरा यान्ति सुरान्न **ते गुणाः प्रजासु** रागात्मसु **राशितां गताः**[1]॥४०

३. **तव प्रिया सच्चरिता प्र**मत्त, या, वि**भूषणं धार्यमिहांशु**मत्तया ।
रतोत्सवामोदविशेषमत्तया **न मे फलं किञ्चन कान्ति**मत्तया ॥ ४१ ॥

२. हे राजन्, सभाओंमें ब्राह्मणोंके मदिरासे अनाहत अर्थात् अदूषित, धनसे दीप्त (अर्थात् दरिद्रतासे म्लान नहीं) मुखोंके द्वारा प्रशंसित, (तुम्हें) प्रेम करनेके स्वभाव वाली प्रजाओंमें राशिके रूपमें विस्तारको प्राप्त तुम्हारे प्रशस्त उज्ज्वल गुण देवताओं तक नहीं पहुँचते, ऐसा नही है ॥ ४० ॥

३. हे प्रमादी, जो दुष्ट चरित्र वाली तुम्हारी प्रिया है, किरणोंसे युक्त (जगमग-जगमग करता) यह गहना इस स्थितिमें मिलनोत्सवके अत्यधिक आनन्दके[2] कारण मस्त उस प्रियाके द्वारा धारण किया जाये । मुझे कान्तिमती होनेसे (कोई) लाभ नहीं है ॥ ४१ ॥

---

२. (२. घ. २) **व्यपेत सजातीय चतुष्पाद मध्ययमक**—यहाँ कविने किसी राजाके दरबारमें ब्राह्मणों द्वारा वर्णित उसके गुणोंका सुरलोक तक पहुँचना बताया है। चारों पादोंके मध्यमें '**सुरा**' वर्णसमुदाय वर्णान्तरके व्यवधानमें आवृत्त हुआ है। **दुष्कर यमक**की रचना अनुष्टुप्की अपेक्षा बड़े छन्दमें अधिक अच्छी तरहसे हो सकती है। इसलिये आचार्यने दुष्कर यमक के प्रकरणमें बदल-बदलकर छन्दोंका प्रयोग किया है। यहाँ और अगले दो श्लोकोंमें **वंशस्थ** छन्द है।[3]

वर्णसङ्घातकी इस प्रकारकी आवृत्तिसे अर्थावबोधमें सुगमता नहीं रहती। अतः ये सब यमक **दुष्कर** हैं। **चतुष्पाद** यमक देनेका कारण इसमें अन्योंकी अपेक्षा आवृत्तिकी मुखरता अधिक होना है। आदियमकके पर्याप्त उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। इसलिये दुष्करयमकके प्रदर्शनके लिये उससे भिन्न भेद चुने गए हैं ॥ ४० ॥

३. (२. घ. ३) **व्यपेत सजातीय चतुष्पादान्तयमक**—अन्य किसी रमणी में आसक्त किन्तु अलङ्कार देकर प्रियाको मनानेका यत्न करते किसी पुरुष

---

१. अन्वयः—राजन्, सभासु अ-सुरा-हतैः, वसु-राजितैः महीसुराणां मुखैः स्तुताः, भासुराः, रागात्मसु प्रजासु राशितां गतास्ते गुणाः सुरान् न यान्ति न ।

२. अमरकोष ३।३।६१ : हर्षेऽप्यामोदवन्मदः । मेदिनी कोष : आमोदो गन्धहर्षयोः ।

३. **जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ । वृत्तरत्नाकर**

४. **भवादृशा नाथ, न जानने** नते **रसं विरुद्धे खलु सन्**नतेनते ।
य एव दीनाः शिरसा नतेन ते **चरन्त्यलं दैन्यरसे**न तेन ते[1] ।।४२।।

४. हे स्वामी, आप जैसे लोग झुकनेके आनन्दसे परिचित नहीं हैं। क्योंकि सन्नता (दीनता, झुकना) और इनता (स्वामित्व) परस्पर विरोधी हैं। जो लोग दीन हैं, वे झुके हुए सिरसे विचरण करते हैं ! इस लिये तुम्हें दीनताके आनन्द (कष्ट) से क्या लेना ? ।। ४२ ।।

को उसकी प्रिया उसे उपालम्भसे खेदयुक्त करनेको[2] वह आभूषण भी उसी स्त्रीको देनेको कह रही है : यह गहना पहनकर सुन्दर होकर भी मैं क्या फल पा लूँगी ? तुमने जाना तो उस कुलटाके पास ही है !

प्रथम पादके '**सच्चरिताप्रमत्त**' का अर्थ **रत्नश्रीज्ञानने** विपरीत लक्षणासे यों माना है : 'हे सच्चरितों (अच्छे आचरणों)के प्रति अप्रमत्त, अर्थात् दुश्चरित्र, परस्त्रीगामी।' पर यह तात्पर्य तो 'सच्चरिताके प्रति प्रमत्त' (**सच्चरितायां प्रमत्त**) व्याख्यासे ही आ जाता।

यहाँ चारों पादोंके अन्तमें सजातीय वर्णसमुदाय '**मत्तया**'की व्यवधानयुक्त आवृत्तिसे **व्यपेत चतुष्पाद सजातीय अन्तयमक** है। इस यमकमें प्रथम पादके 'असच्चरितेषु अप्रमत्त', 'सच्चरितेषु अप्रमत्त', 'असच्चरिता प्रमत्त', 'सच्चरिता प्रमत्त, अथवा 'सच्चरिता अप्रमत्त' आदि विविध पदच्छेदोंकी गुंजाइशके अतिक्ति कोई दुष्करता नहीं है ।। ४१ ।।

४. (३. घ. ३) **अव्यपेत-व्यपेतात्मक चतुष्पाद सजातीय अन्त-यमक**—यहाँ एक ही 'नते' वर्णसमुदायकी अव्यवहित रूपसे और '**नतेनते**' की व्यवहितरूपसे चारों पादोंके अन्तमें व्यावृत्ति हुई है। **रत्नश्रीमें** इसे '**अव्यपेतात्मक यमक**' बताया है। **चतुष्पादान्त यमक**में व्यवधानके अनिवार्य होनेके कारण सम्भवतः रत्नश्रीज्ञानने प्रत्येक पादके अन्तमें 'नते' की अव्यवहित आवृत्तिको ही मुख्यता दी है; '**नते नते**' की चारों पादोंमें व्यवहित उपस्थिति को नहीं। पर जब व्यवहित आवृत्ति है, तो उसकी उपेक्षा उचित नहीं है। **तरुणवाचस्पति**ने यहाँ '**अव्यपेत-व्यपेत**' ही बताया है। यत्नबोध्य होनेके कारण यह दुष्कर है।

---

१. अन्वयः—नाथ, भवादृशाः नतेः रसं न जानते। सन्नतेनते खलु विरुद्धे। ये एव दीनाः, ते नतेन शिरसा चरन्ति। तेन ते दैन्यरसेन अलम्।

२. दृष्ट्वा स्थितं प्रियतमं साशङ्कं सापराधमतिलज्जम्।
ईर्ष्यावचनसमुत्थैः खेदयितव्यो ह्युपालम्भैः ।। नाट्य० २२।२६४

५. **लीलास्मितेन शुचिना, मृदुनोदितेन,**
व्यालोकितेन लघुना, गुरुणा गतेन ।
व्याजृम्भितेन जघनेन च दर्शितेन
सा हन्ति, तेन गलितं मम जीवितेन[1] ॥ ४३ ॥

६. **श्रीमानमानमरवर्त्मसमानमान**-[2]

५. खेलतीसी उज्ज्वल मुस्कानसे, कोमल वाणीसे, हल्की (अतएव अस्थिर, अर्थात् चञ्चल) चितवनसे, भारी (अतएव मन्द) चालसे, विस्तीर्ण कटिपुरोभागको दिखाते हुए जो चलती है, तो मानो मुझपर) प्रहार करती है। उस (प्रहार) के कारण मेरे प्राण निकल गये हैं ॥ ४३ ॥

६. लक्ष्मीसे युक्त, नहीं समाता हुआ, स्थितिसे युक्त जो देवोंके मार्ग

सन्नतेनते—(१) षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु (भ्वादि), कर्तरि क्त, तल् =सन्न-ता, सा च इनता चेति, इतरेतरयोग द्वन्द्व; (२) सम्+नतः= सन्नतः, स च इनश्चेति, सन्नतेनौ, तयोर्भावौ सन्नतेनते ॥ ४२ ॥

५. (२. घ. ४) **व्यपेत चतुष्पादगत सजातीय मध्यान्तगत यमक**—प्रकृत श्लोकमें कविने पूर्वश्लोकमें आवृत्त 'नते' वर्णसमुदायको उलटकर 'तेन' की आवृत्तिसे यमक प्रस्तुत किया है। नायककी रतिके आलम्बन विभाव सुन्दरी की चेष्टाओं (उद्दीपन विभावों) का वर्णन करके नायककी प्ररूढ रति प्रदर्शित की है। रचना उसके अनुकूल अल्पपदसमास वाली, अनुप्रासयुक्त है। एक ही वर्णसमुदाय 'तेन' प्रत्येक पादके मध्यमें और अन्तमें व्यवधानसे व्यावृत्त हुआ है। केवल मध्य और अन्त नियत स्थानोंमें आवृत्तिके लिये पृथक् प्रयत्न अपेक्षित होनेसे ही यह दुष्कर है। अन्यथा अर्थसमर्पणकी तथा श्रव्यता की दृष्टिसे इसमें किसी प्रकारकी क्लिष्टता नहीं है। अतः यह यमक दुष्कर होते हुए भी माधुर्योत्पादक है। यहाँ 'हन्ति' द्व्यर्थक है। यहाँ और अगले श्लोकमें **वसन्ततिलका** छन्द है ॥ ४३ ॥

६. (३. घ) **अव्यपेत-व्यपेत चतुष्पाद सजातीय आद्यन्त यमक**—इस श्लोकमें दुष्कर रचनाके द्वारा जगत्के निमित्तोपादान कारण परम तत्त्वका वर्णन किया गया है। वह परम तत्त्व श्री (माया) से संवलित है; मान (ज्ञान)

---

१. अन्वयः—शुचिना लीलास्मितेन, मृदुना उदितेन, लघुना व्यालोकितेन, गुरुणा गतेन, व्याजृम्भितेन जघनेन दर्शितेन च सा हन्ति। तेन मम जीवितेन गलितम्।

२. अन्वयः—श्रीमान् अमान् स्थितिमान् यः अमरवर्त्म-समान-मानम्

मात्मानमान**त-जगत्प्रथ**मानमान**म्** ।
भू**मानमानयति यः स्थिति**मानमान-
नामानमान**म तमप्रति**मानमान**म्**[१] ।। ४४ ।।

(आकाश) के समान प्रमाण वाले, विनम्र (भक्त) लोगोंमें विस्तृत होते हुए मान (सम्मान, पूजा) वाले अपने आपको भूमा (बहुत्व) को प्राप्त कराता है, अमेय (अनन्त) नामों वाले, अनुपम मान (स्वरूप) वाले उसे प्रणाम कर ।। ४४ ।।

के साधन इन्द्रियोंसे कालावच्छिन्न ज्ञान नहीं प्राप्त करता, अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वस्तुस्वरूपका मान नहीं करता; जगत्की स्थिति तथा तदुपलक्षित सृष्टि एवं संहार वाला है, अर्थात् सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कर्ता है; अथवा स्थिर, अनश्वर है । इस प्रकारका वह आकाशके समान सबका अधिष्ठान है, वह आकाशके समान सर्व व्यापक है ।[२] उसका मान भक्त लोगोंमें वृद्धिको प्राप्त होता है । अथवा उपर्युक्त प्रकारसे विभु व्यापक उसका मान भी विनत लोगोंके हृदयमें सिमट जाता है । ऐसा वह (हृदयमें सिमटने वाला) अपने आपको विभु (भूमा) बना लेता है—'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ', अपनी इस इच्छाकी पूर्तिके लिये इस समस्त जगत्प्रपञ्चके रूपमें वह स्वयं ही प्रकट होता है । समस्त जगत्प्रपञ्च ही उस परम तत्त्वका स्वरूप होनेके कारण यह सब वही है । अतः जगत्के सारे नाम, सारा वाक्प्रपञ्च, वाग्व्यवहार, उसीकी अभिव्यक्ति है ।[३] ये सब उसीके नाम हैं । देश, काल, पात्रोंकी इयत्ताके परिसीमनके असाध्य होनेके कारण विभुके ये सब नाम भी परिमेय नहीं हैं । **विष्णुसहस्रनाम**, **शिवसहस्रनाम** आदि तो उपलक्षण हैं, एक क्षुद्रसा

१. आनत-जगत्प्रथमान-मानम् आत्मानं भूमानम् आनयति, अमान-नामानम्, अप्रतिमान-मानं तम् आनम ।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् १।६।२ : आकाशशरीरं ब्रह्म ।

३. तै० उ० २।६।१ : सोऽकामयत 'बहु स्याम् प्रजायेय' इति ।···तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।५ : सोऽवेद्, 'अहं वाव सृष्टिरस्मि; अहं हीदं सर्वमसृक्षि ।' इति । ततः सृष्टिरभवत् । ९ : ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदात्मानमेवावेद्, 'अहं ब्रह्मास्मि ।' इति । तस्मात् तत्सर्वमभवत् । १।२।५ : स ऐक्षत···स तया वाचा, तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किं च—यजूंषि, सामानिच्छन्दांसि, यज्ञान्, प्रजाः, पशून् । छान्दोग्योपनिषद् ६।२।३-४ भी देखें ।

अंश है विभुकी नामावलीका। उसका कोई प्रतिमान ही नहीं है जगत्में।[1] उसके स्वरूपकी ईदृक्ता या इयत्ताका मान किस प्रतिमानसे किया जा सकता है।[2] हे हृदय, तू उसके आगे विनत हो। अपना आपा उँडेल दे उसीमें। तत् त्वमसि। तू वही है। वही हो जा।

अन्यविध अर्थोंके लिये **रत्नश्री, वादि** और **तरुण** टीकाएँ देखें। रत्नश्रीमें तृतीय पादमें **'आनयति'** के स्थानमें **'आनमत'** पाठभेद बताया है। वादिटीका और तरुणटीकामें उसीकी व्याख्या की है। इस पाठमें चतुर्थपादके मध्यमें **'आन-मतम्'** पदच्छेद इन लोगोंने किया है: **आअनन्ति=सम्यक् श्वासोच्छ्वासौ कुर्वन्ति इति 'आनाः' प्राणिनः। तैः**[3] **मतः इति 'आन-मतः', तम्।** अर्थात् सभी प्राणी जिसे बहुत मानते हैं, उसे **आ-नमत** भली भाँति प्रणाम करो। आ + √नम् कर्तरि लोट्, मध्यम बहुवचन। **आ-नम**—आ + √नम् कर्तरि लोट्, मध्यम एकवचन।

यहाँ समान वर्णसमुदाय **'मान'** की चारों पादोंके आदिमें एकेक अक्षरके बाद तथा अन्तमें अव्यपेत आवृत्ति है। **'मान-मान'** समुदायकी भी इसी तरह चारों पादोंके आरम्भमें एकेक अक्षरके बाद और अन्तमें व्यवधानसे आवृत्ति है। इसलिये यहाँ **चतुष्पाद आद्यन्त-यमक** है। आवृत्त वर्णसमुदायके समान होनेसे यह **सजातीय** है।

रत्नश्रीज्ञान, वादीजी, तरुणवाचस्पति और रङ्गाचार्य रेड्डीने एकेक अक्षरको छोड़नेके बाद स्थित वर्णसमुदायकी आवृत्तिके कारण इसे आदिके स्थानपर मध्य स्थान मानकर **'मध्यान्तयमक'** का उदाहरण माना है। पर सोलह अक्षर वाले पादमें प्रारम्भिक एक अक्षरको छोड़कर दो अक्षरोंकी आवृत्तिसे 'पादका मध्य' कैसे हो गया? चार अक्षरोंके बाद यदि होता, या मध्यके निकट भी होता, तो 'मध्य' कहना उचित होता।

---

१. न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद् यशः॥ वा० सं० ३२।३

२. विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा॥ रघुवंश १३।३

३. रत्नश्रीज्ञान और तरुण वाचस्पतिने 'तेषां मतः' विग्रह दिया है। पर 'क्तेन च पूजायाम्' (अष्टाध्यायी २।२।१२) से षष्ठीसमासनिषेधके कारण यह उचित नहीं है। अतः 'मत' में √मन् से 'मति-बुद्धि-पूजा-ऽर्थेभ्यश्च' (अष्टाध्यायी ३।२।१८८) से वर्तमानमें क्त न करके भूत-कालमें 'निष्ठा' (अष्टाध्यायी ३।२।१०२) से क्त करके तृतीया तत्पुरुष उचित है। वादिटीका देखें।

७. सारयन्तमुरसा रमयन्ती सारभूतमुरुसारधरा तम् ।
सारसानुकृतसारसकाञ्ची सा रसायनमसारमवैति[1] ।। ४५ ।।

७. स्थिर (दृढ) बने हुए (साधन, शिश्न) को प्रवेश कराते हुए उसे (नायकको) वक्षस्थलसे (दबाकर) रमणके लिए प्रेरित करती हुई, प्रबल कामवेगको या स्थूल एवं व्यायत (खूब लम्बे) दृढ (साधन) को (वराङ्गमें) धारण करने वाली, सीत्कार आदि आनन्दध्वनियों वाली, 'सारस' नामक पक्षियोंके समान आवाज़से युक्त करधनी वाली वह (रमणी) रसायनको निस्सार (तुच्छ) समझती है ।। ४५ ।।

'आनमत' पाठमें 'मानमानमत' वर्णसमुदायकी तृतीय और चतुर्थ पादवर्ती द्विपादादि आवृत्तिसे भी यमक हो जाता है । तब यहाँ चतुष्पादाद्यन्त यमकका द्विपादादियमकसे सङ्कर होनेसे **सङ्कीर्ण यमक** है ।। ४४ ।।

७. (२. घ.) **व्यपेत चतुष्पाद अर्धसम सजातीय आदि-मध्य यमक**—रसिकदेशिक आचार्य कवि दण्डीने प्रकृत ४५वें श्लोकमें सम्भोगरत नन्दिनी[2] मृगी नायिकाका प्राञ्जल वर्णन तदनुकूल कोमल तथा उछलकूद करते वर्णविन्यासे इन्द्रवज्रा छन्दमें किया है ।

√सृ+णिच्=√सारिका प्रयोग कामशास्त्रमें सम्भोगक्रियामें शिश्नके वराङ्गमें प्रवेश-निर्गमके प्रसङ्गमें होता है । 'सार' शब्द बल, बलवान्, स्थिर, मजबूत अर्थमें है ।[3] यहाँ यह हमेशा सार (स्थिर, दृढ़) न रहने वाले, किन्तु सम्भोगावसरपर स्थिर हो जाने वाले शिश्नके लिये 'भूत' के साथ दिया है: कड़े हुए हुएको प्रवेश कराते हुए नायकको । जैसे ही नायकने सम्भोगकी यह प्रथम क्रिया सम्पादित की, मृगी नायिकाने उसे वक्षसे कसकर सटा लिया । इससे नायककी रमणेच्छा और उद्दीप्त हुई । सम्भोग (उपसृप्तक) की अङ्गभूत अवमर्दन क्रियाके निमित्त नायिकाने रत्यानन्दातिरेकवश अपने

---

१. अन्वयः—सारभूतं सारयन्तं तम् उरसा रमयन्ती, उरुसारधरा, सारसानुकृतसारसकाञ्ची सा रसायनम् असारम् अवैति ।।

२. विद्वद्भिः पूजितामेनां, खलैरपि सुपूजिताम् ।
पूजितां गणिकासङ्घैर्नन्दिनीं को न पूजयेत् ।। कामसूत्र २।१०।५२
नन्दिनी, सुभगा, सिद्धा, सुभगङ्करणीति च ।
नारी प्रियेति चाचार्यैः शास्त्रेऽन्वेषा निरुच्यते ।। ५३

३. सारो बले स्थिरांशे च, न्याय्ये क्लीबं, वरे त्रिषु । अमर० ३।३।१७१

जघनको ऊँचा किया, तो उसका सार (वराङ्ग) और विशाल उत्फुल्ल हो गया।[1] सम्भोग क्रियाकी इस हलचलमें उसकी काञ्ची रहरहकर बज-बज जाती है। उसकी करधनीकी आवाज सारसोंकी कलध्वनिके समान है। इस प्रकारके अयन्त्रित रत्यानन्दमहोदधिमें रससराबोर रागवती मृगी नन्दिनी नायिका आयुर्वेदोक्त तथा कामतन्त्रानुकूल सुभगङ्करण, वशीकरण, और वाजीकरण (वृष्य) रसायनोंको[2] निस्सार अत एव व्यर्थ, अनावश्यक समझती है। अर्थात् वह इस प्रकारकी रतिके सुखको ही अपने लिये सुभगङ्करण एवं वशीकरण तथा प्रियके लिये वाजीकरण समझती है।

रत्नश्री और **वादिटीकामें** तृतीयपादके आदिमें **'सारसाऽनु०'** पाठ धृत एवं व्याख्यात है। इस पाठसे तृतीय और चतुर्थ पादोंके आदिमें **'सारसा'** वर्ण समुदायकी व्यपेत आवृत्तिसे यहाँ द्विपाद व्यपेत यमक भी हो जाता है। सजातीय वर्ण समुदाय **'सार'** की चारों पादोंके आदि और मध्यमें व्यपेत और दुष्कर आवृत्ति है। इस प्रकार पूर्वार्धमें **शुद्ध व्यपेत पादादिमध्य यमक** है और उत्तरार्धमें **द्विपादादि व्यपेत यमकसे सङ्कीर्ण पादादिमध्य व्यपेत यमक** है। इस प्रकार समूचे श्लोकमें द्विपादादि यमकसे सङ्कीर्ण चतुष्पादादिमध्यगत व्यपेत सजातीय यमक है।

तरुणटीकामें तृतीय पादादिमें **'सारवाऽनु'** पाठ व्याख्यात है।[3] इस स्थिति में व्याख्या यों होगी : **आरवेण सीत्कारादिविरुतेनाष्टविधेन सहिता सारवा सा** (नायिका) **अनुकृताः सारसाः यया सा च काञ्ची**। नायिकाके **'सारव'** या **'सारसा'** विशेषणसे उपसृप्त नायिकाकी, 'व्रीडानाश' तथा 'समधिक-रतियोजना' अवस्थाएँ सूचित होती हैं। **'आरव'** या **'आरस'**से प्रहणनोत्तरभावी

---

१. कामसूत्र २।२।१० : प्रयोज्यं नायिका···विजने किञ्चिद् गृह्णती पयोधरेण विध्येत्···। २६ : स्तनाभ्यामुरः प्रविश्य तत्रैव भारमारोपयेदिति स्तनालिङ्गनम्। ६।१ : रागकाले विशालयन्त्येव जघनं मृगी संविशे-दुच्चरते। ८ : शिरो विनिपात्योर्ध्वं जघनमुत्फुल्लकम्। ९ : तत्रापसारं दद्यात्। ८।३ : सा (पुरुषायिता)···स्तनाभ्यामुरः पीडयन्ती···। १५ : तदेव विपरीतम् (उच्चीकृत्य) सरभसमवमर्दनम्।

२. कामसूत्र ७।१।१-४८ तथा ४९ देखें :
आयुर्वेदाच्च, वेदाच्च, विद्यातन्त्रेभ्य एव च।
आप्तेभ्यश्चावबोद्धव्या योगा ये प्रीतिकारकाः॥ ४९

३. सारवा = सनादा, अत एवानुकृतसारसपक्षिशब्दा काञ्ची यस्याः, सा।

८. नयानया**लोच**नयानयानयानयानया[1]**न्धान्वि**नयानया**यते** ।
न यानया**सीर्जि**नयानया[2]नयानयानया**स्त्वं**[3] **ज**नयानया**श्रितान्**[4] ॥ ४६ ॥

८. हे अचल भविष्य वाले, अय(मार्ग) और अनय (कुमार्ग) के विषयमें अन्धे (विवेकरहित), नीतिविरोधी लोगोंको नीति और अनीति की इस आलोचना (दृष्टि) से विनीत करो। जिनपर तुम नहीं चले हो, (उन) मार्गोंपर बुद्ध या महावीरके मार्गसे गमन करने वाले, विना यानके (पैदल)चलने वाले तुम (उन्हें) नीतिपर भलीभाँति आश्रित बनाओ ।।४६।।

आनन्दातिरेकसूचक आठ प्रकारके विरुत अभिप्रेत हैं।[5] इस पाठमें **चतुष्पादादिमध्यवर्ती सजातीय व्यपेत यमक है** । अन्यविध व्याख्याओंके लिये **रत्नश्री** आदि देखें ।। ४५ ।।

८ (३. घ. ५.) **अव्यपेत-व्यपेत चतुष्पादाद्यन्तवर्ती सजातीय यमक**—इस श्लोककी रत्नश्रीज्ञान, वादी जङ्घालदेव और तरुण वाचस्पतिने भिन्न-भिन्न प्रकारकी व्याख्यायें की हैं। रत्नश्रीज्ञान और तरुणवाचस्पतिके फलितार्थमें काफी कुछ समानता है। वादीजीने दो प्रकारसे व्याख्या की है।

सजातीय वर्णसमुदाय '**नया**' की निरन्तर तथा '**नयानया**' की व्यवहित आवृत्ति चारों पादोंके आदि और अन्तमें की गई है। प्रथम और तृतीय पादके रत्नश्रीसम्मत पाठमें तीन बार प्रयुक्त '**नया**' ('**नयानयानया**') की अन्य

---

१. यह रत्नश्रीसम्मत पाठ है। वादी : कृतिन्, तरुणा० : कृतीन्।
२. यह रत्नश्री-वादिसम्मत पाठ है। तरुण० : यान्नरा०।
३. यह रत्नश्रीसंमत पाठ है। वादि-तरुण० : नयांस्तान्।
४. अन्वयः—अ-नयायते, अयानयान्धान् अनयान् अनया नयानयालोचनया विनय। यान् न अयासीः, (तान्) नयान् जिन-यान-याः अ-यान-याः त्वम् आनयाश्रितान् जनय। तरुणवाचस्पति : विनयानयायते, कृतीन् यान् अनया नयानयालोचनया न अयासीः, अयानयान्धान्, अयानयान् तान् जिन-यान-यान् जनय। आश्रितान् आनय।
५. कामसूत्र २।८।८ : (१) गात्राणां स्रंसनं, (२) नेत्रनिमीलनं, (३) व्रीडानाशः, (४) समधिका च रतियोजनेति स्त्रीणां भावलक्षणम्। २।७।४-७ : तदुद्भवं च सीत्कृतम् तस्यार्तिरूपत्वात् तदनेकविधम्। विरुतानि चाष्टौ। हिङ्कार-स्तनित-कूजित-रुदित-सूत्कृत-दूत्कृत-फूत्कृतानि। अम्बाऽर्थाः शब्दा, वारणार्था, मोक्षणार्थाश्चालमर्थाः। ते चार्थयोगात्।

९. रवेण **भौमो** **ध्वजवर्तिवी**रने रवे**जि संयत्यतुलास्त्र**गौरवे ।
रवे**रिवोग्रस्य पुरो ह**रे**रवे**रवे**त तुल्यं रिपुमस्य भै**रवे[1] ॥ ४७ ॥

९. अनुपम (दिव्य) अस्त्रोंके गौरव वाले भीषण सङ्ग्राममें कृष्णके ध्वजमें विद्यमान वीर पक्षी (गरुड) के रवके द्वारा भूमिपुत्र (नरकासुर) भयाक्रान्त कर दिया गया। सूर्यके समान उग्र (प्रचण्ड, तेजस्वी) इस (कृष्ण) के सामने शत्रुको सिंहके सामने मेषके समान समझो ॥ ४७ ॥

आवृत्तियोंसे विलक्षण प्रकारकी आवृत्तिसे **प्रथम-तृतीयपादान्तवर्ती व्यपेत यमक** भी निष्पन्न होता है। पूर्वपादके अन्तमें और अगले पादके आदिमें प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पादोंमें **द्विपादान्तदि अव्यपेत यमक** भी है। इसकी दुष्करता तो स्वतः स्पष्ट है।

यह तथा अगले तीन श्लोक **वंशस्थ**में निबद्ध हैं ॥ ४६ ॥

९. (३. घ. ५) **अव्यपेत-व्यपेत चतुष्पादाद्यन्त सजातीय यमक**—इस श्लोकमें कविने कृष्णके ध्वजमें विद्यमान गरुडकी ध्वनि सुनकर भौमासुरके भयका वर्णन किया है।[2] विष्णु 'गरुडध्वज'के रूपमें प्रसिद्ध हैं। अतः कृष्णको भी 'गरुडध्वज' कहा जाता है। विष्णुके पर्याय कृष्णका भी अभिधान करते हैं। '**हरि**' यहाँ 'कृष्ण' और 'सिंह' अर्थोंमें है, अतः श्लेष है। कृष्णको रविके समान उग्र (प्रचण्ड) बतानेसे उपमा है। रिपुकी समानता '**अवि**' (मेष) से बताई है। इसलिये भी उपमा है। जिसके ध्वजमें विद्यमान पक्षीके रवसे भौम जैसेकी हालत पतली हो गई है, उस कृष्णकी शत्रुभयङ्करताका तो कहना ही क्या है!

यहाँ सजातीय वर्णसमुदाय '**रवे**' की आवृत्ति चारों पादोंके आदिमें और अन्तमें **व्यपेत** रूपसे तथा पूर्व पादके अन्त और अगले पादके आदिमें **अव्यपेत** रूपसे हुई है। इस **द्विपाद अन्तादि यमकके** वैचित्र्यके कारण यह यमक और हृदयग्राही बन गया है।

अवेजि—√विज्+णिच्से करण रवके कर्तृत्वकी विवक्षामें वेजन क्रियाके कर्म भौमके निमित्तसे लुङ्, प्र० ए० व०। यह धातु भय और चलन

---

१. अन्वयः—अतुलास्त्रगौरवे भैरवे संयति भौमो हरेः ध्वज-वर्ति-वीर-वेः रवेण अवेजि। रवेरिवोग्रस्य अस्य पुरो रिपुं हरेः पुरः अवेः तुल्यम् अवेत।

२. भूमिपुत्र नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका स्वामी था। गरुडवाहन श्रीकृष्ण द्वारा इसके वधके वर्णनके लिये हरिवंशपुराण २।६३ तथा श्रीमद्भागवत पुराण १०।५९ देखें।

१०. मयामयाल**म्ब्य**[1]-**कला**मयाम-यामयामया**तव्यविरा**मयामया[2] ।
मयामया**र्तिं निशया**म, यामयामयामया**मूं करुणा**मयामया[3] ॥ ४८ ॥

१०. मानरहित (अत्यन्त दीर्घ) यामों (प्रहरों) वाली, नियन्त्रित करने वाली निशासे मरणान्तक आमय (प्रेमरोग) की पीडाको प्राप्त हुआ हूँ । हे जाने योग्य स्थानोंमें विराम (निषेध) से रहित, करुणामय (मेरे मित्र), आमय (रोग) को प्राप्त मुझसे क्षय और उसके विपरीत (वृद्धि) के द्वारा आलम्बन किये जाने वाले कलानिधि (चन्द्र) से आमय (कष्ट) पाने वाली उस (प्रिया) को मिला दे ॥ ४८ ॥

अर्थोंमें तुदादि और रुधादि गणोंमें है ।[4] **अवेत**—अव + √इ (गतौ) कर्तरि लोट्, परस्मैपद, मध्यम, बहु० वचन । **हरेः पुरः**—पुरस्, पुरतस् आदि 'अतस्' प्रत्ययार्थक प्रत्ययोंसे निष्पन्न शब्दोंके योगमें (युक्त शब्दमें) षष्ठी होती है । **अवेः तुल्यम्**—तुल्यार्थक पदोंके योगमें उपमानमें तृतीया या षष्ठीका विकल्प है ।[5] अतः 'हरेः' में षष्ठी है ॥ ४७ ॥

१०. (३. घ.) **पादाद्यन्त तथा अन्तादि चतुष्पाद अव्यपेत-व्यपेत सजातीय यमक**—अत्यन्त दुष्कर इस रचनामें कविने क्या कहना चाहा है, यह निश्चित रूपसे तो वही जानते हैं । व्याख्याताओंने अपने-अपने अभिप्रायसे व्याकरणकी लाठीसे इसे हाँककर जो चाहा है, वह कहलाया है । ऊपर किया अनुवाद भी इसी दिशामें एक कदम है : न मा-मानं येषां ते **अमाः** इयत्ता-रहिताः, तादृशाः **यामाः** प्रहरा यस्याः, तया **अम-यामया**; यमनं यामः, सोऽस्त्यस्या इति यामा, तया **यामया**, निशया रात्र्या; मिनोति हिनस्ति इति **मयः** मरणकारीति यावत्, स चासौ **आमयो** रोगः प्रेमाधिरूपो **मयामयः**, तस्य **अर्तिः** पीडा, तां **मयामयार्तिम्** प्राणान्तकारिप्रेमरोगपीडामित्यर्थः; **अयाम्** प्रयातोऽहम् । अस्यां

---

१. तरुण० : लङ्घ्य । वादीजीने 'लङ्घ्य', 'लम्ब्य' में विकल्प बताया है । रत्नश्रीमें 'लम्ब्य' ही धृत और व्याख्यात है ।

२. वादिटीकामें 'मयाम्' व्याख्यात है ।

३. अन्वयः—अम-यामया यामया निशया मयामयार्तिम् अयाम् । अ-यातव्य-विराम, करुणामय, आम-या मया मयामयालम्ब्य-कला-मया-मयाम् अमूम् आमय ।

४. ओविजी भयचलनयोः (तुदादि ६, रुधादि २०) ।

५. अष्टाध्यायी २।३।३० : षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । ७२ : तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।

११. मतान्धुनानारमतामकामतामताप-लब्धाग्रिमतानुलोमता ।
मतावयत्युत्तमता-विलोमतामताम्यतस्ते समता, न वामता[1] ॥ ४९ ॥

११. पूर्णतः आनन्दमग्न, अथवा रमते राम विरक्त पुरुषोंको प्रिय, निष्कामताको पीछे छोड़ती हुई, उत्तमता (श्रेष्ठता) की विपरीतता अर्थात् श्रेष्ठत्व-विघातक वामताको नहीं प्राप्त करने वाली, अथवा नष्ट करने वाली, बिना क्लेशके प्राप्त श्रेष्ठताके अनुकूल स्वभाव वाली समता (सर्वत्र समभाव वाली दृष्टि) श्रेष्ठताके प्रतिकूल भावकी कामना नहीं करते हुए, अथवा ग्लानि-हर्ष आदि भावोंसे रहित, अथवा सांसारिक दुःखोंसे दुःखी न होते हुए तुम्हारी बुद्धिमें गतिशील है, वर्तमान है । वामता नहीं ॥ ४९ ॥

रजन्यां प्रियाविरहज्वालावलीढस्य मे प्राणा अवश्यं संशयमापन्ना इत्यर्थः । यातव्ये=प्रियां प्रति मद्दशासन्देशार्थं गन्तव्ये कर्मणि विरामोऽवसानं 'न' इति निषेधो यस्य न, सोऽयातव्यविरामः तस्य सम्बुद्धौ **अयातव्यविराम** अवश्यङ्गामिन् हे मयि **करुणामय** मे सखे, 'अम रोगे' (चुरादिः), अमनम् आमो रुजा, तं यातीति आम-याः, तेन **आम-या; मया** तव सख्याऽनेन जनेन; मयः क्षयः, अमयो वृद्धिः, ताभ्याम् आलम्ब्यः आश्रयितव्यश्चासौ कलामयश्चन्द्रः आमयो रुजाकरो यस्याः सा **मयामयालम्ब्य-कलामयामया** ताम् **अमूम्** मम प्रेयसीम् मद्विरहे समुद्दीपितकन्दर्पकष्टाम्, **आमय** गमय, सम्भजय । **अम गत्यादिषु** (भ्वादिः), हेतुमण्णिच्, कर्तरि लोट्, मध्यम, ए० व० ।

यहाँ कविने सजातीय '**मया**' वर्णसमुदायकी आवृत्ति समूचे श्लोकमें नियत स्थानपर कुल मिलाकर १६ बार की है । पादके आदि और अन्तमें अव्यवहित और व्यवहित रूपसे होनेके कारण यहाँ **अव्यपेत-व्यपेतात्मक आद्यन्त चतुष्पाद यमक** है । '**मयामया**' सजातीय वर्णसमुदायकी आवृत्ति पादान्त और पादादिमें निरन्तर होनेसे **चतुष्पाद अव्यपेत अन्तादि यमक** भी है । तृतीय पादके अन्तमें '**याम**'की अनुलोम और प्रतिलोम आवृत्ति भी है । इस प्रकार यह श्लोक विविध दृष्टियोंसे दुष्कर यमकोंसे सङ्कीर्ण है ।। ४८ ।।

११. (३. घ.) **व्यपेत चतुष्पादादि-मध्यान्त तथा अव्यपेत चतुष्पादान्तादि सजातीय सङ्कीर्ण यमक**—इस श्लोकमें कविने किसी पुरुषमें योगियोंसे भी

---

१. अन्वयः—आ-रमतां मताम् अकामतां धुनाना, उत्तमता-विलोमतां धुनाना, अताप-लब्धाग्रिमताऽनुलोमता समता अताम्यतः—(क) अग्लायतः, (ख उत्तमताविलोमताम्) अकाङ्क्षतो वा—ते मतौ अयति । (आ-रमतां मताम् अकामतां धुनाना) वामता न (अयति) ।

अधिक सर्वत्रसमभाव दृष्टि बताई है। यहाँ **'अताम्यतः'** पद 'काङ्क्षा' और 'ग्लानि' अर्थ वाली √**तम्**से[1] शतृ, नञ् तत्पुरुषसे पुं०, षष्ठी ए०व०में निष्पन्न है। अतः इसका सम्बन्ध **'उत्तमता-विलोमताम्'** से केवल 'काङ्क्षा' अर्थमें होगा। 'ग्लानि' अकर्मक क्रिया है। अतः इस अर्थमें यह स्वतन्त्र ही रहेगा। ग्लान्यर्थक यह पद समतासे अपेक्षित प्रतिद्वन्द्वी 'हर्ष' का भी उपलक्षक है। 'अताम्यतः' की ग्लान्यर्थतामें द्वितीयान्त पदका सम्बन्ध या तो निकटस्थ **'अ-यती'** (अगच्छन्ती) से होगा, या **'धुनाना'** से। यह अन्तर्हितण्यर्थक 'कम्पन' अर्थमें क्र्यादि गणमें पठित है : **धूञ् कम्पने**। इससे कर्तरि शानच्, स्त्री० प्रथमा ए० व० में **'धुनाना'** निष्पन्न है। **अयति**—√इ (भ्वा०[2]) कर्तरि लट्, प्रथम ए० व०।

यहाँ सजातीय वर्णसमुदाय **'मता'** चारों पादोंके आदि, मध्य और अन्त में नियताक्षर सङ्ख्याके बाद आवृत्त है। अतः **सजातीय चतुष्पादाद्यन्त व्यपेत त्रिस्थान यमक** है। पादान्तमें पठित सजातीय **'मता'** वर्णसमुदायकी आवृत्ति अगले पादके आदिमें विना व्यवधानके होनेसे यहाँ **सजातीय चतुष्पादान्तादि द्विस्थान यमक** है। ये दोनों परस्पर सङ्कीर्ण हैं।

सभी प्राचीन टीकाकारोंने यहाँ **व्यपेत यमक** माना है। पर **अव्यपेत** आवृत्तिका अपलाप करना अशक्य है। **भोजराज**ने इस विशेषताको अन्य भेद **व्यपेत**का उच्छेद न करते हुए **सूक्ष्म अव्यपेत** भेद बताया है।[3] आचार्य दण्डीने भी ५१ वें श्लोकमें इन वैचित्र्य-प्रकारोंको **'उक्तान्तर्गत सन्दष्टयमक'** कहा है। अतः ये विशेष उपेक्षणीय नहीं हैं।

रत्नेश्वर मिश्रने इस श्लोकमें वृत्तका औचित्य बहुत महत्त्वपूर्ण बताया है[4]॥ ४९॥

---

१. आख्यातचन्द्रिका ३।३।१७४ : अथ ग्लानौ च ताम्यति॥ ११७॥ काङ्क्षायामपि।

२. सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि ६।२९-३१ : इट किट कटी गतौ।···केचित्तु··· अन्ते च '√इ+√ई' इति प्रश्लिष्य 'अयति, इयाय, इयतुः···' इत्या-द्युदाहरन्ति। भवतोषिणी, पृष्ठ ३३३ देखें।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण २।१२९ (उदाहरण) : अन्यभेदानुच्छेदेन सूक्ष्मं यथा—'मतां धुनाना···न वामता।।' अत्र 'व्यपेतानुच्छेदेनैव पादसन्धि-ष्वव्यपेतमुत्पद्यते' इत्यस्थान-यमकमिदं सूक्ष्मावृत्तेः 'सन्धिसूक्ष्माव्यपेतम्' उच्यते।

४. रत्नदर्पण २।१२९ : अत्रापि वृत्तौचिती सर्वस्वायते।

१२. कालकाल**गल**कालकाल**मुख**कालकाल-
कालकाल**पन** कालकाल**घन**कालकाल।
कालकाल**सित**कालका ल**लनि**कालकाल-
कालका ल**गतु** कालकाल**कलि**कालकाल[१] ॥ ५० ॥

१२. काले (नाग) के काल (परम शत्रु), गलेमें काल चिह्नसे युक्त (नीलकण्ठ), काल (वर्ष) के मुख (वर्षा) कालमें बोलने वाले, काली (शिखा) सिरपर धारण करने वाले (शिखी) मयूरोंके बोलनेके काल (वर्षा ऋतु) में काले मेघों वाला काल (वर्षा ऋतु) जिसके लिए मौत जैसा है, इस प्रकारके (तथा) कालोंमें काल (सब समयोंमें श्रेष्ठ ऋतुराज), कलियाँ और उनपर मँडराते भ्रमरोंका समूह जिसके लिये काल (अत्यन्त कष्टदायी) है, इस प्रकारके हे मित्र, कालक (लहसुनिया या तिलचिह्न) से सुशोभित मुखसे भूषित लाडली विलासिनी आ लगे (तुमसे संयुक्त हो) ॥ ५० ॥

१२. (३. घ.) **आदि-मध्यान्तवर्ती चतुष्पाद अव्यपेत-व्यपेत सजातीय त्रिस्थानयमक**—इस श्लोकमें कविने ख, **घ**, **प**, **म**, **स** का एकेक बार **त**, **ग** का दो बार और **न**का तीन बार प्रयोग करके शेष वर्णविन्यासमें **क** और **ल** वर्णोंका प्रयोग किया है। ये वर्ण भी प्रथम और तृतीय पादोंमें एकेक बार '**ल**' को और चतुर्थ पादमें '**कलि**' को छोड़कर समूचे श्लोकमें २४ बार '**काल**' वर्णसमुदायके रूपमें अव्यवहित और नियत (दो-दो) वर्णोंके व्यवधान में आवत्त हुए हैं। स्वर भी 'अ', 'आ', 'इ' और 'उ' ही आये हैं। इस प्रकार यह यमक अत्यन्त दुष्कर है। वामनोक्त अत्यधिक आवृत्तिके कारण दूषित यमकके उदाहरणके रूपमें त्रिपुरहर भूपालने यह श्लोक उचित ही उद्धृत किया है।[३]

---

१. रत्नश्री आदि तीनों टीकाओंमें यही पाठ धृत एवं व्याख्यात है। कामधेनु ४।१।७ में उद्धृत इस श्लोकमें 'पन'की जगह 'घ' एवम् आगे 'घन'की जगह 'पन' पाठ है।

२. अन्वयः—कालकाल-गलकाल-कालमुखकालकाल-कालकालपन-काल-काल घनकाल-काल, कालकाल-कलिकाऽऽल-काल, कालकालसित-कालका, आल-कालकालका ललनिकाऽऽलगतु।

३. आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम्।
दुष्येच्चेन्, न पुनस्तस्य युक्ताऽनुप्रासकल्पना॥
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४।१।७ में छठे श्लोकपर कामधेनु:
यथा दण्डिनोक्तम्—'कालकाल···कलिकालकाल।' इति

इतिहासविदोंके मतमें इस श्लोकमें आवृत्त **कालकाल** शब्द काव्यादर्श (२।२७७) में **राजवर्मणः** से सूचित **राजसिंह**, **राजसुन्दरवर्मा** और **अत्यन्तक** विरुदोंसे प्रसिद्ध काञ्चीपति पल्लवनरेश **नरसिंहवर्मा द्वितीय** (राज्यकाल ७००-७२८ ई०) का ही एक विरुद है।[1] दण्डीने अवन्तिसुन्दरी कथामें भी **कालकाल**का यमक दिया है।[2]

इस दृष्टिसे चतुर्थ पादके अन्तमें पठित **कालकाल** नरसिंहवर्माका विरुदसे सम्बोधन हो सकता है। **कलिकालकाल** पद 'कलि (युद्ध) में काल (स्वयं मृत्युका अथवा कालसदृश पराक्रमी शत्रु) का भी काल' अर्थमें विशेषण सम्बोधन हो सकता है। **ललनिकासे** ललनासे भी अधिक लाडली विजयश्री अभिप्रेत हो सकती है। वह वर्षाकालमें युद्ध न हो पानेके कारण राजाको न पानेसे दुःखी है। उसके बाद शीतकालमें प्रयाण अभियानके चलते भी विरहिणी ही है। वसन्तके आते-आते कालकाल द्वारा शत्रुविनाश किये जानेपर विजयश्रीरूपी ललनिका (अत्यन्त चहेती ललना) आ लगे, तुम्हारे पास चली आए। इस प्रकार कवि द्वारा आशीः प्रकट की गई है।

प्रायः सभी टीकाकारोंने इसकी व्याख्या विविध प्रकारसे की हैं। हमने भी उनमें एक और जोड़ दी है।

> **तत्त्वं त्वस्य कविर्वेत्ति, कल्पनोल्लासिनो वयम्।**
> **युक्ताऽर्थाऽक्लिष्टकल्प्या च व्याख्या सद्भिः प्रगृह्यताम्॥ १॥**
>
> **नेयत्ता कविभावानां, दारिद्र्यं तद्बुधेषु न।**
> **विविधैर्विविधं तस्मात् कव्यभिप्राय उच्यते॥ २॥**

६५५३६ भेदों[3] वाली षोडशाक्षर अष्टि वृत्तजातिके र, न, र, न, र गण और लघु अक्षरविन्यास वाले किसी छन्दका प्रयोग कविने इस श्लोकमें किया है। यति ६, ६, ४ पर अभीष्ट लगती है॥ ५०॥

---

१. डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त काव्यादर्शः, भूमिका, पृष्ठ ३६; श्री नीलकण्ठ शास्त्री, ए हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया, पृष्ठ ४६०। प्रसादिनी २।२७७; पृष्ठ २३७ भी देखें।

२. पृष्ठ १११, पंक्ति २१ : प्रवृत्तकालकालरात्रिभुजलतायमानया···।

३. पञ्चषष्टिसहस्राणि, सहस्रार्धं च सङ्ख्यया॥ नाट्य० १४।६७,
षट्त्रिंशच्चैव वृत्तानामष्टौ निगदितानि च। ६८

१. सन्दष्ट-यमक-**स्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः ।**
उक्तान्तर्गतमप्येतत् स्वातन्त्र्येणात्र कीर्त्यते ।। ५१ ।।

(१) दो पादोंमें अन्त और आदि स्थान 'सन्दष्टयमक' का स्थान होता है। यह यद्यपि उक्त उदाहरणोंमें आ चुका है, तथापि यह स्वतन्त्रतासे बताया जा रहा है ।। ५१ ।।

यमकके अन्य विशिष्ट भेद—(१) **सन्दष्ट यमक** : आदिमध्यादि सात स्थानोंके आधारपर **अव्यपेत** आदि त्रिविध यमकका प्रदर्शन ४२ उदाहरणोंमें करनेके बाद आचार्यने यमककी स्थानगत अन्य विच्छित्तियोंका निरूपण अगले प्रकरणमें किया है। **भरत**ने इस प्रकारकी विच्छित्तियोंको उनके द्वारा लोकमें उपलब्ध आकारविशेष धारण कर लिये जानेके कारण उन आकारों वाले नाम दिये हैं : **काञ्ची, समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल, सन्दष्ट** एवम् **माला यमक**।[1] भरतका जो **चक्रवाल यमक** है, उसे ही दण्डीने **सन्दष्ट यमक** नामसे दिया है। यह संज्ञा '**सम्**+√**दंश्**+**क्त**' से 'सन्धान' अर्थमें निष्पन्न अभीष्ट है : जहाँ एक पादका अन्त दूसरे पादके आदिसे आवृत्तिके द्वारा जुड़ा हो, वह '**संदंश**' यमक होता है। इस प्रकार आवृत्ति अव्यवधानमें ही सम्भव है। यमकका यह स्वरूप भरतके '**चक्रवाल**' यमकमें मिलता है।[2] भरतका '**सन्दष्ट**'का स्वरूप स्पष्ट नहीं है : आदिमें दो पाद जहाँ अक्षरोंसे समान हों, वह सन्दष्ट बताया है।[3] परन्तु उदाहरणमें चारोंपादोंके आदिमें दो-दो पद समान हैं एवं द्वितीय पादके आदिके दो पदोंको छोड़कर शेष भागकी आवृत्ति चतुर्थ पादमें

१. पादान्तयमक[1] चैव, काञ्चीयमकमेव[2] च ।
समुद्गयमकं[3] चैव विक्रान्तयमकं[4] तथा ।। नाट्यशास्त्र १६।६३
यमकं चक्रवालं[5] च, सन्दष्टयमकं[6] तथा ।
पादादि-यमकं[7] चैव, आम्रेडितमथापि[8] च ।। ६४
चतुर्व्यवसितं[9] चैव, मालायमकमेव[10] च ।
एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम् ।। ६५ ।।

२. पूर्वस्यान्तेन पादस्य परस्यादिर्यदा समः ।
चक्रवच् 'चक्रवालं' तद् विज्ञेयं नामतो, यथा ।। नाट्य० १६।७४
शैला यथा शत्रुभिराहता हता, हताश्च भूयोऽप्यनुपुङ्खगैः खगैः ।
खगैश्च सर्वैर्युधि संचिताश्चिताश्चिताधिरूढा निहताः फलैः फलैः ।। ७५

३. आदौ द्वौ यत्र पादौ तु भवेतामक्षरैः समौ ।
'सन्दष्टयमकं' नाम विज्ञेयं तद् बुधैर्यथा ।। नाट्यशास्त्र १६।७६

हुई है ।[1] यदि यही **सन्दष्ट यमक** है, तो **पादादियमक**[2] क्या होगा ? तब इसमें अन्तर केवल चारों पादोंमें विजातीय (सन्दष्ट) और सजातीय (पादादि) शब्दाभ्यासका होगा, जो अवान्तर भेद है : यह मुख्य भेदका निमित्त नहीं हो सकता । अतः अन्तादि नियत स्थानमें अव्यपेत आवृत्तिके इस भेदको दण्डीने सँडसीके समान दोनों पादोंको पकड़नेके कारण '**सन्दंश**' नाम दिया है । **रुद्रट** ने '**संदंश**' और '**सन्दष्टक**'को परस्पर भिन्न माना है : प्रथम पाद और तृतीय पादके आदिमें समान वर्ण होनेपर '**संदंश**' है एवं द्वितीय पादकी आवृत्ति चौथे पादमें होनेपर '**सन्दष्टक**' यमक होता है । रुद्रटकी **सन्दष्टक** की अवधारणा भरतपर आधारित है । उन्होंने भरतके निरूपणके अन्य भेदोंसे साङ्कर्यका परिहार करके उनके उदाहरणके द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें शब्दाभ्यासके आधारपर अपना **सन्दष्टक यमक** बनाया । रुद्रटके (क) **सन्दंश** और (ख) **सन्दष्टक**में आवृत्तिकी (क) प्रथम-तृतीयपादवर्तिता और (ख) द्वितीय-चतुर्थपादवर्तिता, अर्थात् (क) विषमपादवर्तिता और (ख) समपाद-वर्तिताके अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है । सँडसीके (क) पुच्छभागमें आवृत्ति होनेसे '**संदश**' और (ख) मुखभागमें आवृत्ति होनेसे '**सन्दष्टक**' भेद रुद्रटने माना है । (ग) मध्यभाग—द्वितीय-तृतीय पादों—में आवृत्तिसे रुद्रटने '**गर्भ-यमक**' माना है ।[3]

दण्डिप्रोक्त **सन्दष्ट** यमक पीछे ४६-५० श्लोकोंमें **अव्यपेत-व्यपेत** यमकके विभिन्न भेदोंमें नाना रूपोंमें आ चुका है । तद् यथा—४६वें श्लोकके रत्नश्री-

---

१. **पश्य-पश्य** रमणस्य मे गुणान् **येन-येन वशगां करोति माम्** ।
येन-येन दिनमेति दर्शनं, **तेन-तेन वशगां करोति माम्** ।। नाट्य० १६।७७

२. आदौ पादस्य यत्र स्यात् समावेशः समाक्षरः ।
'पादादि-यमकं' नाम तद् विज्ञेयं बुधैर्यथा ।। नाट्य० १६।७८
विष्णुः सृजति भूतानि, **विष्णुः** संहरते प्रजाः ।
विष्णुप्रसूतं त्रैलोक्यं, **विष्णु**र्लोकादिदैवतम् ।। ७९

३. (क) **सन्नारीभरणोमाय**माराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ।। काव्याल० ३।५९ :
(ख) इदं च येन स्वयमात्मभोग्यतां **समस्तकाञ्चीकमनीयताकुलम्** ।
नितम्बबिम्बं कथमस्तु नो नृणां स **समस्तकाञ्चीकमनीयताकुलम्** ।।
(ग) यो राज्यमासाद्य भवत्यचिन्तः **समुद्रतारम्भरतः सदैव** ।
समुद्रतारं भरतः स दैव प्रमाणमारभ्य पयस्युदास्ते ।। ८

उपोढरागाऽप्यबला मदेन सा मदेनसा **मन्युरसेन** योजिता ।
न योजिताऽऽत्मा**नमनङ्ग**तापिताऽङ्गतापि ता**पाय ममास नेयते** ।।५२।।

(यौवनके अथवा मदिराके) मदके कारण बढ़े हुए प्रेमभाव वाली भी वह अबला मेरे अपराधके द्वारा क्रोधके रससे युक्त कर दी गई है। कामदेव के द्वारा तपाये हुए अङ्गोंसे युक्तता वाली होते हुए भी वह अपने आपको (मुझसे) युक्त नहीं कर रही (मानके कारण मुझसे दूर-दूर रह रही) है। मुझे परे करने वाली (रूठी हुई वह प्रिया) मुझे इतना कष्ट देने वाली हो गई है ।। ५२ ।।

सम्मत पाठमें प्रथम-द्वितीय, तृतीय-चतुर्थ पादोंके बहुवर्णावृत्तिसे सन्धानके रूपमें है। ४७वेंमें चारों पादोंके द्विवर्णावृत्तिसे सन्धानके रूपमें है। ४८वें श्लोकमें चारों पादोंके बहुवर्णावृत्तिसे सन्धानके कारण **सन्दष्ट यमक** है। ४९वें में **आदि-मध्यान्त व्यपेत यमक**के साथ **चतुष्पादान्तादि**के द्विवर्णावृत्तिसे सन्धानके कारण है, तो ५०वेमें इसी प्रकारके यमकके बहुवर्णावृत्तिसे सन्धानके कारण **अव्यपेत सन्दष्ट** यमक है। **महाराज भोजने** दण्डीके इस प्रकारके यमकोंके आधारपर अन्य भेदोंके अनुच्छेद और उच्छेदसे सूक्ष्म, स्थूल भेदोंकी कल्पना की है[1] ।। ५१ ।।

उदाहरण—५२वें श्लोकमें प्रदत्त **सन्दष्ट यमकके** इस उदाहरणमें आचार्यने अन्य स्त्रीके सम्भोगचिह्न आदिसे युक्त होनेके कारण नायिकाके प्रति अपराधी किसी नायककी मानवती नायिकाके मानके कारण होने वाले कष्टका वर्णन किया है।

मन्यु-रसेन—मन्यु (क्रोध) रौद्ररस नहीं है, उसका स्थायी भाव है। तथापि शृङ्गाराङ्ग क्रोध अन्य क्रोधोंसे भिन्न है। वह नायकको प्रियाकी अन्य ही शोभाका दर्शक होनेके कारण आनन्ददायी है। इसलिये इसका रसत्व औपचारिक है।[2] नायिकाके मानके कारण नायकके तापका आधिक्य प्रेमकी अधिकता सूचित करनेके कारण मन्युकी रसताका पोषक है।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २।१२९-१३१ देखें।

२. वादी जीने इसे भिन्न प्रकारसे कहा है : यद्यपि क्रोधो रौद्ररसस्य स्थायिभावो, न रसः, तथाऽप्यभेदोपचारात् कार्यकारणयोः कथञ्चिदेकत्वपरिणामात् क्रोधोऽपि रस एवेति मन्युरसस्य क्रोधव्याख्याने न दोषः।

२. **अर्धाभ्यासः** समुद्गः **स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः ।**
३. **पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा; व्यज्यते स निदर्शनैः** ।। ५३ ।।

(२) आधेकी आवृत्ति समुद्ग होता है । इसके तीन भेद माने गये हैं ।

(३) पादकी आवृत्ति भी अनेक प्रकारकी होती है । उसे उदाहरणोंसे व्यक्त किया जा रहा है ।। ५३ ।।

प्रथम **'योजिता'** पद √युज् + णिच् + क्त (कर्मणि) से है तथा द्वितीय **'योजिता'** √युज् + णिच् से आदिकर्ममें कर्तृवाच्यमें क्तसे है : योजितवती ।[1]

ममासनेयतेका पदच्छेद टीकाकारोंने **मम आस न इयते** (अथवा **नेयते**) किया है । **आस** को **अस भुवि** (अदादि) से कर्तरि लिट्, प्रथम, ए० व० में व्युत्पादित किया है । इसमें दो दोष हैं : (१) सामान्य भूतार्थक 'क्त' के प्रकरणमें तदुत्तरवर्ती क्रियाको परोक्ष भूतकालमें रखना कालैकवाक्यताकी दृष्टिसे अनुचित है । (२) आदादिक √अस् + लिट्में (क) वेदमें या (ख) अनुप्रयोगमें ही प्रयुक्त होती है । (ग) अन्यत्र लोक में √अस् के स्थानमें √भू का ही प्रयोग शिष्टसम्मत है । दण्डी जैसे सावधान और समर्थ आचार्यसे शिष्टविरुद्ध एवं एकवाक्यताविरुद्ध प्रयोगकी अपेक्षा नहीं की जा सकती । अतः **√असु क्षेपणे** (दिवादि) से कर्त्रर्थमें 'ल्यु' प्रत्ययसे स्त्री०में **'असना** = क्षेपणी', दूर हटाने वाली, व्याख्या निर्दोष एवं प्रसङ्गानुकूल है । **चतुर्थ** पादमें इसके पूर्व **'अपि'** भी इसी व्याख्यामें अनुकूल है । अन्यथा 'अनङ्गतापिताङ्गता होते हुए भी मुझे इतना ताप नहीं **देती'**, यह विपरीत **अर्थ** निकलता है । यदि **'नेयते** = **न इयते** = **अनियते** = अपरिमिताय' अर्थ भी कर लें, तब भी **'अपि'** से क्या वैपरीत्य अभीष्ट है ?

यहाँ प्रथमपादान्तगत **'मदेन सा'** द्वितीयपादान्तगत **'न योजिता'** तृतीय-पादान्तवर्ती **'ङ्गतापिता'** बहुवर्णसमुदाय निरन्तर अगले पादमें आवृत्त होकर दो पादोंको जैसे सँडसीसे पकड़ लेते हैं; उन्हें जोड़ देते हैं । इसके अतिरिक्त प्रकारका कोई यमक यहाँ नहीं हैं । इसलिये यह शुद्ध **चतुष्पाद अव्यपेत सन्दष्ट यमक** का उदाहरण है । **'तापितापाय'** में मृदुवर्णोंकी आवृत्तिसे विप्रलम्भ **रति**के अनुकूल **अनुप्रास** यहाँ माधुर्योत्पादक है । छन्द **वंशस्थ** है ।। ५२ ।।

(२) **समुद्ग यमक**—'समुद्ग' शब्द 'सम्पुटक' (दोने) का पर्याय है । इस सजावटी यमककी परिकल्पना **भरत**ने इस प्रकार की है : जो वृत्त

---

१. वादिटीका : 'न योजिता' इत्यादि कर्तरि क्तः । अष्टा० ३।४।७१ : आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च ।

२. १ **ना स्थेयस्सत्त्वया वर्ज्यः** परमायतमानया ।
नास्थेयस्स त्वयाऽऽवर्ज्यः परमायतमानया[1] ।। ५४ ।।

(२.१) अत्यधिक कठोरहृदया (हठीले स्वभाव वाली), अत्यधिक दीर्घ मान (रुठने) वाली तेरे द्वारा विश्वास करने योग्य वह पुरुष ठुकराये जाने योग्य नहीं है (उसे ठुकराना नहीं) । (अपितु) खूब प्रयत्न करती हुई (तेरे) द्वारा आकृष्ट किये जाने योग्य है ।। ५४ ।।

(छन्दोबद्ध रचना, श्लोक) सारा ही एक अर्धालीसे समाप्त किया जाता है, वह '**समुद्ग यमक**' कहलाता है ।[2] भरतने इसके भेद नहीं बताये हैं । दण्डीने **समुद्ग** यमकका लक्षण तो भरतोक्त लिया है, किन्तु भेद अपनी तरफसे तीन बताये हैं । **सन्दष्ट यमक**, जैसा कि हम देख चुके हैं, दण्डीको **अव्यपेत** रूपमें ही अभीष्ट हैं । **रुद्रटने** उसके (१) **अव्यपेत** और (२) **व्यपेत** रूपोंके भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं : (१) **गर्भ यमक** एवं (२) **सन्दंश** तथा (३) **सन्दष्टक** यमक । इसके विपरीत **समुद्गयमक**के दण्डीने (१) **व्यपेत**, (२) **अव्यपेत** और (३) **व्यपेताव्यपेत** तीन भेद दिये हैं । रुद्रटने **समुद्गयमक**के लक्षण और उदाहरण भरतके समान ही दिये हैं ।[3]

तिरपनवें श्लोकके उत्तरार्धकी व्याख्या **समुद्ग यमक**के तीन उदाहरणों (५४-५६ श्लोकों) की व्याख्याके बाद (पृष्ठ ७० पर) देंगे ।। ५३ ।।

(२.१) **प्रथम-तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ-पादावृत्ति व्यपेत समुद्ग यमक**—प्रस्तुत श्लोकमें कविने प्रियकी किसी बातपर नाराज़ होकर रूठी बैठी मानिनी हठीली नायिकाको उसकी ग़लतफहमी दूर करती हुई सहेलीने मान छोड़कर प्रियको अपनानेकी उचित सलाह दी है ।

---

१. अन्वयः—स्थेयस्सत्त्वया, परमायतमानया त्वया आस्थेयः स ना न वर्ज्यः । परम् आयतमानया आवर्ज्यः ।।

२. अर्धेनैकेन यद् वृत्तं सर्वमेव समाप्यते ।
'समुद्गयमकं' नाम तज्ज्ञेयं पण्डितैर्यथा ।। नाट्य० १६।७०
'केतकीमुकुलपाण्डुरदन्तः शोभते प्रवरकाननहस्ती ।
केतकीमुकुलपाण्डुरदन्तः शोभते प्रवरकाननहस्ती ।। ७१

३. अर्धं पुनरावृत्तं जनयति यमकं समुद्गकं नाम । काव्याल० ३।१६
ननाम लोको विदमानवेन मही न चारित्रमुदारधीरम् ।
न नामलोऽकोविदमानवेन महीनचारित्रमुदारधीरम् ।। १७

२.२ नरा जिता माननया समेत्य न राजिता मान-नयासमेत्य ।
विनाशिता वैभव-तापनेन विनाशिता वै भवतापनेन[1] ।। ५५ ।।

(२.२) वैभव (विभुत्व, प्रभुत्व) को सन्तप्त करने वाले, घेरने वाले आपके द्वारा सम्मान (कीर्ति) से संयुक्त होकर जीते हुए लोग मान (गर्व) और नीतिके आस (आक्षेप, निषेध) को पाकर शोभासम्पन्न नहीं रहे हैं। या तो इधर उधर भगाये गये, या पक्षी (गीधों) के द्वारा खा लिये गये ।। ५५ ।।

यहाँ (क) प्रथम, तृतीय पादोंमें एक ही वर्णसमुदाय है, (ख) द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें भी उससे भिन्न किन्तु एक ही वर्णसमुदाय प्रयुक्त है। इस प्रकार दोनों आवृत्तियाँ एकेक पादसे व्यवहित हैं। पूरे श्लोककी दृष्टिसे पूरे पूर्वार्धकी आवृत्ति उत्तरार्धमें की गई है। अतः यहाँ श्लोकार्धका अभ्यास (आवृत्ति) होनेसे **समुद्ग यमक** का प्रथम प्रकार है ।। ५४ ।।

(२.२) **प्रथम-द्वितीय, तृतीय-चतुर्थ पादवर्ती अव्यपेत समुद्ग यमक**—प्रस्तुत श्लोकमें कविने किसी राजाके प्रतापका वर्णन किया है। यहाँ और अगले श्लोकमें उपेन्द्रवज्रा छन्द है।

विनाशिताः—दो बार प्रयुक्त यह शब्द दो प्रकारसे व्युत्पन्न है : (१) वि+√नश्+णिच्+क्त, पुं०, प्रथमा, ए० व०। यहाँ √नश् वैदिक और लौकिक (पँजाबी आदि) भाषाओंमें प्रसिद्ध 'भागना' अर्थमें है। पाणिनीय धातुपाठके 'अदर्शन' का यह (अनात्यन्तिक अदर्शन) तात्पर्य भी लिया जा सकता है। (२) विना=वि पक्षी, तृतीया, ए० व०, अशिताः— **√अश् भोजने** (क्र्यादि)+क्त (कर्मणि)। **भवतापनेन**—तरुण वाचस्पतिने **'भवताऽपनेन'** छेद करके 'अपनेन' को **पन कौटिल्ये** से अच् प्रत्ययसे निष्पन्न बताया है।[2] किन्तु √पन् सब धातुपाठोंमें व्यवहार और स्तुति अर्थोंमें ही उपलब्ध है। अतः वादी जङ्घालदेवकृत व्युत्पत्ति ही उचित है।

इस श्लोकमें भी श्लोकार्धोंमें अभ्यास है : पूर्वार्धके दोनों और उत्तरार्धके दोनों पादोंमें समान वर्णसमुदाय प्रयुक्त हैं। यह आवृत्ति निरन्तर—(१)

---

१. अन्वयः—वैभव-तापनेन आपनेन भवता माननया समेत्य जिता नरा माननयासम् एत्य न राजिताः। विनाशिता वै विनाऽशिताः ।।
२. अपनेन=अकुटिलेन, 'पन कौटिल्ये' इत्यस्मात् पचाद्यच्।
३. वादिटीका : आपनेन—आप्नोति=व्याप्नोति··· आपनः, , तेन (विना)।

(२.३) **कलापिनां चारुतयोपयान्ति** वृन्दानिलापोढघनागमानाम् ।
वृन्दानि लापोढघनागमानां **कलापिनां चारुतयोपयान्ति** ।। ५६ ।।

(२.३) लापों (केकाओं) के द्वारा बादलोंकी व्याप्ति सूचित करने वाले मयूरोंकी केकाएँ तथा समूह जा रहे हैं । लाप (कलरव) के द्वारा मेघोंके गमन (प्राप्ति) के विपरीत भाव अर्थात् उनके विनाशके सूचक जलमें बोलने वालों (हंस, कारण्डरव, बतखु आदि पक्षियों) के झुण्ड सुन्दरतासे आ रहे हैं ।। ५६ ।।

प्रथम पादकी द्वितीय पादमें और (२) तृतीय पादकी चतुर्थ पादमें—हुई है, में इसलिये यहाँ **अव्यपेत द्विपाद यमक है** । **रुद्रटने** (i) प्रथम पादकी द्वितीय पादसे आवृत्तिमें **'मुख'**, (ii) तृतीयकी चतुर्थमें आवृत्तिसे **'पुच्छ'** एवम् (iii) इन दोनोंके युगपत् प्रयोगसे **'युग्मक'** यमक माना है ।[1] रुद्रटने दण्डीके ही भेदोंको पृथक्-पृथक् सञ्ज्ञाएँ देकर व्यवस्थित किया है । किसी नवीन प्रकार की उद्भावना नहीं की है ।। ५५ ।।

(२.३) **प्रथम-चतुर्थ व्यपेत, द्वितीय-तृतीय अव्यपेत समुद्ग यमक**—इस श्लोकमें कविने 'बरखा बिगत, शरद ऋतु आई' का व्यञ्जक वर्णन किया है ।

यदि इसी वर्णविन्यासको केवल एक अर्धालीके रूपमें कहा जाता, तो यहाँ भिन्नपद (शब्द-) श्लेष होता । श्लिष्ट पदोंको आवृत्तिसे पृथक्-पृथक् कहनेसे **श्लेषका** क्षेत्र नहीं रहा, **यमकका** निष्पन्न हो गया । यहाँ प्रथम पादके और चतुर्थ पादके मध्य दो पाद हैं, अतः **व्यपेत यमक** है । द्वितीय पाद की तृतीय पादमें आवृत्ति निरन्तरतासे हुई है, अतः **अव्यपेत यमक** है । एक श्लोकमें दोनों सम्पन्न होनेसे यह **उभयात्मक यमक** है ।

वादी जी और तरुण वाचस्पतिने मयूरोंके चारुतासे उपयान (आगमन) तथा हंसोंकी आरुतियोंके अपयान (प्रयाण) के रूपमें व्याख्या की है । यह प्राकृत क्रमके विपरीत होनेके कारण उचित नहीं है : शरद् ऋतु होनेपर हंसों का भारतमें आगमन तथा वसन्तागमनपर यहाँसे प्रयाण होता है । मयूरोंकी केकाएँ वर्षाकालमें प्रस्फुटित होती हैं तथा वर्षाकालकी समाप्तिके साथ शरदके

---

१. (i) पर्यायेणान्येषामावृत्तानां　　सहादिपादेन ।
मुख-सन्दंशावृतयः क्रमेण यमकानि जायन्ते ।। काव्याल० ३।३
(ii) अन्योन्यं पश्चिमयोरावृत्या पादयोर्भवेत्पुच्छः । १०
(iii) मुख-पुच्छयोश्च योगाद् युग्मकमिति पादजं नवमम् ।। १३

आगमनपर समाप्त हो जाती हैं । मतभेद 'मयूरोंके विगमको पहले कहा जाये, या हंसोंके आगमनको', इसपर हो सकता है । हंसोंके आगमनकी पूर्वता पीछे २।३३२ में बताई जा चुकी है। **कलापिनां च आरुतयः** पदच्छेद अभीष्ट[1] होनेके कारण **'च'** वाले वाक्यका क्रम (स्थान) दूसरा ही उचित है : हंस आए, मयूर गये ।। ५६ ।।

तिरपनवें श्लोकके उत्तरार्धमें प्रोक्त (३) **पादाभ्यास यमकके**—

(i) **एक पादकी एक बार** आवृत्तिसे छह भेद होते हैं : (क) **प्रथम** पादकी (१) द्वितीय पादमें, (२) तृतीय पादमें और (३) चतुर्थ पादमें एक बार आवृत्तिसे **तीन** भेद होते हैं; (ख) **द्वितीय** पादकी (१) तृतीय और (२) चतुर्थ पादमें एक बार आवृत्तिसे **दो** भेद होते हैं; (ग) **तृतीय** पादकी **चतुर्थ** पादमें आवृत्तिसे **एक** भेद होता है । इनमें से **तीन** (क १, ख १, ग १) **यमक अव्यपेत** होते हैं और शेष **तीन व्यपेत** होते हैं । इन छह भेदोंके उदाहरण ५७-६२ श्लोकोंमें दिये हैं ।

(ii) **एक पादकी दो बार** आवृत्तिसे **चार** भेद बनते हैं : (क) **प्रथम** पादकी (१) द्वितीय-तृतीय पादोंमें आवृत्तिसे **अव्यपेत,** (२) द्वितीय, चतुर्थ पादोंमें आवृत्तिसे **व्यपेत,** (३) तृतीय-चतुर्थ पादोंमें आवृत्तिसे अव्यपेत, कुल **तीन** तथा (ख) **द्वितीय** पादकी तृतीय, चतुर्थ पादोंमें[2] आवृत्तिसे **एक अव्यपेत** ।

(क १-२, खके) उदाहरण ६३-६५ में दिए हैं ।

(iii) **एक** (प्रथम) **पाद** की **तीन बार** आवृत्तिसे एक **अव्यपेत चतुष्पाद यमक** भेद होता है । उदाहरण ६६वें श्लोकमें दिया है ।

अन्तिम भेदको (५) **महायमक** भी कहते हैं (श्लोक ७०) । जो दो प्रकारका होता है : (१) समूचे पादमें एक ही वर्णसमुदाय होता है, जो शेष तीन पादोंमें दुहराया जाता है । (२) इससे भी उत्कृष्ट एकाकार **चतुष्पाद यमक** वह होता है, जिसके प्रथम पादमें भी वर्णसमुदायकी आवृत्ति की होती है । इस प्रकार आवृत्तियुक्त पादकी तीन बार आवृत्ति करनेसे अत्युत्कृष्ट **त्रिवाराभ्यास पादावृत्ति यमक** निष्पन्न होता है । इसका प्रदर्शन ७१वें श्लोक में किया है ।।

---

१. 'च' से युक्त परवर्ती होता है । अतः 'चारुतया' छेदके अनन्तर 'कला-पिनां च आरुतयः' कहना उचित है ।

२. तरुण वाचस्पतिने ६५वें श्लोककी व्याख्यामें इसे 'त्रिपादावृत्ति' कहा है । पर वहाँ आवृत्त पाद एक है और आवृत्तियाँ दो हैं । अतः इसे 'पादका द्विरभ्यास' कहना उचित है । 'त्रिपादावृत्ति' कहना उचित नहीं है ।

३.१ नमन्दयावर्जितमानसात्मया न मन्दयाऽऽवर्जित-मान-सात्मया ।
उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं मया समालिङ्ग्यत जीवितेश्वरः[1] ॥५७॥

२. सभासुराणामबलाविभूषिता **गुणैस्तवारोहि मृणालनिर्मलैः ।**
सभासुराणामबलाविभूषिता **विहारयन्निर्विश सम्पदः पुराम्**[2] ॥५८॥

३. १ दयासे रहित (कठोर) हृदय वाली, अभागिन (या मन्दबुद्धि), अपनाए हुए मानसे एकाकार बनी हुई मेरे द्वारा झुकता हुआ (अपराधकी क्षमा माँगता हुआ) प्राणेश्वर (उसके) वक्षस्थलपर दोनों पयोधरोंको (दबाकर) फैलाते हुए आलिङ्गित नहीं किया गया ॥ ५७ ॥

२ तुम्हारे कमलनालके समान शुभ्र गुणोंके द्वारा रमणियों (अप्सराओं) से विभूषित देवताओंकी सभा आरूढ हुई है। इस प्रकारके तुम अलङ्कृत रमणियोंको विहार कराते हुए शोभासम्पन्न शत्रुओंसे विजित नगरियोंकी सम्पदाओंका भोग करो ॥ ५८ ॥

---

१. (३. i. क १) **अव्यपेत, द्वितीयपादवर्ती, प्रथमपादाभ्यास यमक**—कोई मानवती नायिका अपराध क्षमा करानेके लिये अवनत अपने प्रियतमके प्रति मान रखे रहनेपर पछता रही है। यहाँ पूरा प्रथम पाद द्वितीय पादमें दुहराया गया है। अतः यहाँ **अव्यपेत पादाभ्यास** यमक है। कविने विप्रलम्भरतिकी अभिव्यक्तिके लिये वंशस्थ छन्दका प्रयोग किया है। **'उपास्तीर्ण-पयोधर-द्वयम्'** क्रियाविशेषण है। इस समस्त पदकी उपसर्जनीभूत 'उपास्तीर्ण' क्रिया (समुदायके अवयव) से 'उरस्' का आधाराधेय भाव सम्बन्ध समुदायके माध्यमसे है।[3] ५७-६१ श्लोक वंशस्थ छन्दमें निबद्ध हैं ॥ ५७ ॥

२. (३. i. क २) **तृतीयपादवर्ती व्यवहित प्रथमपादाभ्यास यमक**—इस श्लोकमें कविने किसी राजाकी प्रशंसा करते हुए उसे आशीः दी है।

प्रथम पादके **'अबला विभूषिता'** पदोंकी व्याख्या वादीजी, तरुणवाचस्पति और रत्नेश्वर मिश्रने यों की है : जिसमें 'बल' नामक दानव विद्यमान नहीं है, क्योंकि उसे इन्द्रने मार डाला था, इसलिये इन्द्र 'बलभिद्' कहे जाते हैं।

---

१. अन्वयः—दया-वर्जित-मानसात्मया, मन्दयाऽऽवर्जित-मान-सात्मया मया नमन् जीवितेश्वरः उरस्युपास्तीर्ण-पयोधरद्वयं न समालिङ्ग्यत ।

२. अन्वयः—मृणाल-निर्मलैस्तव गुणैः अबला-विभूषिता सुराणां सभा आरोहि । स विभूषिता अबला विहारयन्भासुराणां पुरां सम्पदः निर्विश ।

३. २९वें श्लोकमें 'अलेः समकेशं ते' पर टीका, पृष्ठ ४०, देखें ।

३ कलङ्कमुक्तं तनु-मद्ध्य-नामिका **स्तनद्वयी च त्वदृते न हन्त्यतः ।**
न याति भूतं गणने भवन्मुखे कलङ्कमुक्त तनुमद्धयनामिका[1] ।।५९।।

३ मधुर वाणी, शरीरके मध्य भाग (कमर) को झुकाने (लचकाने) वाले अर्थात् पृथुल दोनों स्तन तुम्हें छोड़कर किसे नहीं घायल करते ? इसलिये आप जैसोंकी गिनतीमें अनामिका (चिटलीसे दूसरी अँगुली) कलङ्कसे रहित शरीरधारी भूतको नहीं पाती ।। ५९ ।।

इस प्रकार देवसभा **'अ-बला'** है । विभु=प्रभु इन्द्र, बृहस्पति आदि उसमें (उषित) रहते हैं, इसलिये देवसभा **'विभूषिता'** है ।

'अबला'की यह व्याख्या उचित नहीं है : इन्द्र-शत्रु 'बल' देवसभामें कभी रहा नहीं, जो कि देवसभाको अब उसके मरनेके बाद 'अविद्यमानबला= अबला' कहा जाये । देवसभामें अबलायें=अप्सरायें अलबत्ता रहतीं हैं । राजाको भी नगरियोंमें अबलाओंको विहार करानेको कहा है । इससे धरती की अबलाओंका स्वर्गकी अबलाओंसे सादृश्य व्यक्त होता है । यह एक अतिरिक्त काव्यसौन्दर्य है 'अबला=रमणी' व्याख्यामें, जो 'अबला=बलासुर-रहिता' व्याख्यामें नहीं है ।

आरोहि—आ+√रुह्+णिच्, कर्मणि लुङ्, प्रथम ए० व० ।

प्रथम वाक्य कर्मवाच्यमें है एवं द्वितीय कर्तृवाच्यमें । वामनके अनुसार यहाँ मार्गभेदके कारण **वैषम्य** दोष है, जो शाब्द **समता** गुणका विपर्यय है[2] ।। ५८ ।।

३ (३. i. क. ३) **चतुर्थपादवर्ती व्यवहित प्रथमपादाभ्यास यमक**—इस श्लोक में किसी जितेन्द्रिय (कामजयी) महापुरुषकी अद्वितीयता बताई है । यहाँ प्रथम

---

१. अन्वयः—कलम् उक्तं, तनु-मद्धयनामिका स्तनद्वयी च त्वदृते कं न हन्ति ? अतः हि अनामिका भवन्मुखे गणने कलङ्क-मुक्तं तनुमद् भूतं न याति ।

२. काव्यालङ्कारसूत्र ३।१।१२ : मार्गाभेदः समता । वृत्ति : 'येन मार्गेणोपक्रमस्तस्यात्याग' इत्यर्थः ।···विपर्ययस्तु यथा—
प्रसीद, चण्डि, त्यज मन्युमञ्जसा; जनस्तवायं पुरतः कृताञ्जलिः ।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ।।
यहाँ दो प्रकारका मार्गभेद है : (१) पूर्वार्धके तीनों वाक्य कर्तृवाच्यमें हैं; उत्तरार्धमें भाववाच्य है; (२) पूर्वार्धमें असमासा रचना है, उत्तरार्धमें दीर्घसमासा और अल्पसमासा । त्रिपुरहर भूपालने प्रथम मार्गभेद माना है, अभिनवगुप्तने द्वितीय ।

४ **यशश्च ते दिक्षु रजश्च सैनिका** वितन्वतेऽजोपम दंशिता युधा ।
वितन्वतेजोऽपमदं शितायुधा **द्विषां च कुर्वन्ति कुलं तरस्विनः**[1] ॥६०॥

४ हे अजन्मा (विष्णु)के समान, कवचधारी, तीखे आयुधों वाले अर्थात् शूर, शत्रुपर तेजीसे झपटने वाले सैनिक युद्धके द्वारा दिशाओंमें तुम्हारा यश और धूल फैला रहे हैं। और शत्रुओंके कुल (खानदान अथवा समूह)को शरीर-रहित, तेजके अभावसे युक्त और नष्ट हुए गर्व वाला कर रहे हैं ॥ ६० ॥

पादके चौथे पादमें दुहराये वर्णसमुदायके मध्य दो (द्वितीय और तृतीय) पादोंका व्यवधान है। समूचे पादकी आवृत्ति होनेसे यह 'पादाभ्यास' यमक है। रत्नेश्वरमिश्रने (रत्नदर्पण २।१४४में) 'तनुमधि=शरीरमधिकृत्य' व्याख्या की है। पर शरीरवाची 'तनु' तो नित्यस्त्रीलिङ्ग है। अतः उचित नहीं है। रुद्रटने इस भेदको **'आवृत्तियमक'** नाम दिया है ॥ ५९ ॥

४ (३. i. ख. १) **अव्यवहित द्वितीयपादाभ्यास यमक**—इस श्लोकमें आचार्य कवि दण्डीने किसी राजाके सैनिकों द्वारा घमासान युद्धसे उसकी कीर्तिके विस्तार और शत्रुओंके प्राणपरित्याग और तेज और गर्वके नाशका वर्णन किया है। यहाँ घटनाओंका क्रम उचित नहीं है : पहले घमासान युद्धका, फिर शत्रुमरण और बच रहे शत्रुओंके तेजोनाश और मानभञ्जनका तथा फिर राजाकी कीर्तिका वर्णन उचित होता। वादी जङ्घालदेव और तरुण वाचस्पतिने 'तरस्विन्'का अर्थ 'वेगवान्' किया है। सैनिकोंके प्रसङ्गमें 'वेगवान्' अर्थकी अपेक्षा 'शूर' अर्थ[2] अधिक उचित है। यहाँ द्वितीय पादकी आवृत्ति तृतीय पादमें की गई है। अतः **अव्यपेत द्वितीयपादाभ्यास यमक** है। रुद्रटने श्लोकके गर्भ (मध्य) में उपस्थितिके कारण इसे **'गर्भयमक'** नाम दिया है ॥ ६० ॥

---

१. अन्वयः—अजोपम, दंशिताः, शितायुधाः, तरस्विनः सैनिकाः युधा दिक्षु ते यशश्च रजश्च वितन्वते। द्विषां कुलं च वि-तनु, अतेजः, अप-मदं च कुर्वन्ति।

२. अमरकोष ३।३।१२८ : वेगि-शूरौ तरस्विनौ। 'तरस्'का मूल अर्थ 'वेग' है। वेग बिना बलके सम्भव नहीं है। अतः 'तरस्वान्', 'तरस्वी'का परिनिष्ठित अर्थ 'बलवान्'से होते-होते 'शूर' हो गया है। हैमकोष : तरो जवे बले। अमरकोष २।८।१०२ : द्रविणं तरः-सहो-बल-शौर्याणि, स्थाम, शुष्मं च ॥ शक्तिः, पराक्रमप्राणौ।

बिभर्ति भूमेर्वलयं भुजेन ते भुजङ्गमोऽमा स्मरतो मदञ्चितम् ।
शृणूक्तमेकं स्वमवेत्य भूधरं भुजङ्गमो मा स्म रतो मदञ्चितम्[1] ।। ६१ ।।
स्मरानलो मान-विर्वाधितो यः, स निर्वृतिं ते किमपाकरोति ?
समन्ततस्तामरसेक्षणे न समन्ततस्तामरसे क्षणेन[2] ।। ६२ ।।

५ सर्प (शेषनाग) तुम्हारी भुजाके साथ (मिलकर) भूगोलको धारण करता है । (इस बातको) स्मरण करते हुए मुझसे एक अच्छी बात सुनो—एक (अकेली) अपनी भुजाको पृथ्वीका धारक समझकर प्रसन्न हुए तुम प्रभूत गर्व मत करना ।। ६१ ।।

६ हे अपनेको म्लान करनेपर तुली हुई, कमलसदृश लोचनों वाली, तुम्हारा कामाग्नि (कामपीडा) मान करनेसे बढ़ गया है । सब तरफसे समान रूपसे (एक साथ) फैला हुआ वह क्षण भरमें तुम्हारे धैर्य (सुस्थिति)को क्यों नहीं दूर कर रहा है ? अर्थात् इस अवस्थाको प्राप्त करके भी तुम मान क्यों नहीं छोड़ रही ? ।। ६२ ।।

---

५ (३. i. ख. २) **व्यवहित द्वितीयपादाभ्यास यमक**—इस श्लोकमें कविने किसी राजाकी प्रशंसा व्याजस्तुतिसे की है । यहाँ द्वितीयपादकी आवृत्ति तृतीय पादके व्यवधानसे चौथे पादमें की गई है । रुद्रटने इसे '**सन्दष्टक**' नाम दिया है । माघने इस यमकका प्रयोग बहुत किया है ।। ६१ ।।

६ (३. i. ग) **तृतीयपादाभ्यास अव्यपेत यमक**—प्रियतमके किसी अपराधपर अत्यन्त तनी हुई मानवती नायिकाके प्रति उसके प्रति हितैषी किसीका कथन **उपेन्द्रवज्रा** छन्दमें निबद्ध प्रकृत श्लोकमें कविने दिया है । रमणी अत्यन्त सुन्दर है । उसके नयन तामरस (तामरस=जल में [illegible] तेसे कमल)के समान झूमने वाले हैं । अथवा ताम=चाहतके रससे सराबोर, प्रेमाल है । अथवा प्रियविरहके कारण उनका रस=पानी ताम=म्लान हो गया है, रोते-रोते सूख गया है । वह स्वयं भी तामरसा है : कमलका फूल है, उस जैसी कोमल तथा सुन्दर है । पर अब वह ताम=म्लानतामें रस अनुभव

---

१. अन्वयः—भुजङ्गमः ते भुजेन अमा भूमेर्वलयं बिभर्ति । स्मरतः मत् अञ्चितमेकमुक्तं शृणु । स्वं भुजं भूधरम् अवेत्य रतः चितं मदं मा स्म गमः ।

२. अन्वयः—तामरसे, तामरसेक्षणे, यः स्मरानलः, मान-विर्वाधितः समन्ततः समं ततः, स क्षणेन ते निर्वृतिं किं न अपाकरोति ?

७ प्रभावतो नामन, वासवस्य प्रभावतोऽनामन, वाऽऽसवस्य ।
प्रभावतो नाम न वा सवस्य **विच्छित्तिरासीत् त्वयि विष्टपस्य'** ॥६३॥

७ हे तेजोदीप्त इन्द्रको तेजके या यज्ञके कारण नीचा दिखाने वाले तथा लोगोंको पीडासे मुक्ति दिलाने वाले (राजन्), तुम जब लोकके शासक हो, तब निश्चय ही सोमयागोंका (कभी) विच्छेद नहीं हुआ ॥ ६३ ॥

कर रही है, अपनेको सुखानेपर उतरी हुई है। **'तामरसे, तामरसेक्षणे'** इन विशेषताओंसे युक्त सुन्दरियोंके सम्बोधनके एक वचन हैं। स्मरपर अनलका आरोप होनेसे **रूपक** है। कमल-कोमल-कायाके लिये प्रेम ही आग है। तुम्हारे इस मानने उसे हवा दे दी है : मान स्मराग्निका उद्दीपक हो गया है। तुम प्रेमज्वरसे अङ्गारेके समान दहक रही हो। पर हो तुम बड़ी हठीली ! प्रियके प्रति उद्दाम प्रेम, उसका अपराध, वसन्त, यौवन आदि सब उद्दीपनोंके एक साथ एकत्र उपस्थित हो जानेसे खूब फैला हुआ वह प्रेमाग्नि भी तुम्हारे धैर्य अथवा हठ, क्षण भरमें क्यों नहीं भङ्ग कर पा रहा है ? यही मुझे आश्चर्य है ! बावली, छणभरकी भी देर न कर। मान छोड़। प्रियतमके सङ्गसुखसे कामज्वरकी पीड़ाको दूर कर।

व्याख्याभेदके लिए वादी, तरुणवाचस्पति, रत्नेश्वर मिश्र प्रभृतिकी टीकायें देखें।

यहाँ पूरे तृतीयपादकी आवृत्ति चतुर्थ पादके रूपमें की गई है। तृतीय-पादावृत्ति पादाभ्यास यमकका और भेद सम्भव नहीं है। श्लोकके अन्तमें आवृत्तिके कारण रुद्रटने इसे **'पुच्छ यमक'** नाम दिया है ॥ ६२ ॥

७ (३.ii. क.१) **द्वितीय-तृतीय-पादावृत्त प्रथमपादाभ्यास अव्यपेत यमक**— इस श्लोकमें कविने अपने वर्ण्य राजाको इन्द्रसे दो कारणोंसे अधिक बताया है : इन्द्र की प्रसिद्धि (१) वीरके रूपमें है; (२) शतक्रतुके रूपमें है कि सौ अश्वमेध यज्ञ करनेसे मनुष्य इन्द्र बन जाता है।[2] प्रकृत राजा (१)

---

१. अन्वयः—प्रभाव-तः, न वा आसवस्य, प्रभा-वतः वासवस्य नामन, अनामन, अतो नाम त्वयि विष्टपस्य प्रभौ न वा सवस्य विच्छित्तिः आसीत् ।

२. वेदमें इन्द्रका 'शत-क्रतु' नाम प्रसिद्ध है। वहाँ इसका अर्थ इष्ट था : शतं क्रतवः कर्माणि, धियः=सङ्कल्पा वा यस्य, स शतक्रतुः। हस्ते वज्रं भरति, शीर्षणि क्रतुम् (ऋ० २।१६।२), हृत्सु क्रतुं वरुणो, अप्स्वग्निं, दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ (ऋ० ५।८५।२)। ब्राह्मण कालमें क्रतु

८ परम्पराया बलवारणानां, परम्पराया बलवारणानाम्।
धूलीः स्थलीर्व्योम विधाय रुन्धन् परम्पराया बलवा रणानाम्[1] ।।६४।।

८ सेनाओंको खूब रोकने वाले सेनाङ्ग हाथियोंकी उत्कृष्ट परम्परा (लम्बी कतारों) की धूलको स्थली (टेकड़ी, धरतीका टुकड़ा) बनाकर आकाशको रोकते हुए, युद्धोंके बलको प्राप्त तुम शत्रुके विपरीत गये हो ।। ६४ ।।

कोश और दण्डके तेजरूपी प्रभावमें[2] इन्द्रको नीचा दिखाने वाला है। इन्द्रको अपने कई शत्रुओंके विनाशके लिये पार्थिवोंकी सहायता लेनी पड़ी, पर यह राजा अकेला ही शत्रुविजय करता है। इसके आगे तो 'इन्द्र बापुरो रंक' है। (२) इन्द्रके तो सौ ही यज्ञ हैं; यह राजा तो अविच्छिन्न रूपसे यागपर याग किये जा रहा है; उनकी अभीसे इयत्ता कैसे बताई जाये। इन्द्र तो अधीनस्थोंके लिये आमन=रुजाकारक भी हो जाता है, पर यह राजा अपने अधीनस्थोंको आधिव्याधिसे मुक्त रखनेके कारण 'अनामन' है। उसे 'नामन' और 'अनाम' कहनेसे विरोध अलङ्कार है।

यहाँ प्रथम पादकी दो बार (दूसरे और तीसरे पादोंके रूप में) अव्यवहित आवृत्ति हुई है ।। ६३ ।।

८ (३. ii. क. २) **द्वितीय-चतुर्थपादावृत्त प्रथमपादाभ्यास अव्यवहित-व्यवहित यमक**—प्रकृत श्लोकमें कविने किसी राजाके समरशौर्यका वर्णन उपेन्द्रवज्रा (प्रथम, द्वितीय-चतुर्थ पादोंमें) और इन्द्रवज्रा (तृतीय पाद) की उपजातिमें निबद्ध किया है। बलवा (रणानाम्)—बलं चतुरङ्गिणीं सेनां वृणोति इति वा, वाति इति वा।

रत्नश्री और वादी जीने यहाँ (३. ii. क. ३) द्वितीयपादव्यवहित

कर्मार्थक होनेके कारण यज्ञ (विशेष कर्म) अर्थमें रूढ हो गया। पुराणों में आकर यज्ञ करके इन्द्रपदप्राप्ति बताई गई और 'शतक्रतु' नाम इस प्रकार इन्द्रके लिये रूढ हो गया: अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः।···शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ।।···चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम्। वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ।। (श्रीमद्भागवत ४।१९।१,२,११)। निरुक्तके पाँच अध्याय, पृष्ठ २६५ भी देखें।

१. अन्वयः—परं बल-वारणानां बल-वारणानां परायाः परम्परायाः धूलीः स्थलीः विधाय व्योम रुन्धन् रणानां बल-वाः परं पराऽयाः।

२. स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्। अमरकोष २।८।२०

६ **न श्रद्दधे वाचमलज्ज, मिथ्या** भवद्विधानामसमाहितानाम् ।
भवद्विधानामसमाहितानां　भवद्विधानामसमाहितानाम्[1] ॥ ६५ ॥

६ हे निर्लज्ज, असंयतचित्त, अत्यन्त विषम शत्रु, दोगले-पनसे युक्त आप जैसे लोगोंकी विषम (बिगड़े हुए) नागके समान प्रपञ्चशील संसारमें भेदभाव (फूट) वालोंकी मिथ्या वाणीका मैं विश्वास नही करता ॥ ६५ ॥

प्रथमपादाभ्यास यमक माना है।[2] तरुण वाचस्पतिने प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ (पादवर्ती तृतीयपादव्यवहित) यमक बताया है। हमने अर्थानुकूलताके कारण यह (तृतीयपादसे व्यवहित) पाठ उचित माना है। तरुण वाचस्पतिने द्वितीयपादव्यवहित त्रिपादावृत्तिका उदाहरण पाठान्तरोंमें खोजनेकी राय दी है। अर्थात् 'धूली:०' आदि पादको द्वितीय या तृतीय पादके रूपमें रखनेके पाठभेदसे ये भेद प्राप्त हो जाते हैं। रङ्गाचार्य रेड्डीका यहाँ कहना है कि द्विरावृत्तिके तीन उदाहरण अपेक्षित हैं; पर तृतीय उदाहरण उपलब्ध नहीं है; न ही टीकाकारोंने इसका कुछ विवरण किया है; अतः बहुत समयसे तृतीय उदाहरण विच्छिन्न हो गया लगता है। पर इन दोनोंका यह कथन उचित तब होता, जब दण्डीने सब भेदोंके उदाहरण दिये होते। उनकी प्रवृत्ति उपलक्षणपरक है; यह दृष्टि समूचे ग्रन्थमें व्याप्त है। यमकके ही कितने ही भेदोंके उदाहरण उन्होंने नहीं दिये हैं।

वादि-तरुण-टीकाओंमें '**व्योम्नि**' धृत, व्याख्यात है। इस पाठमें '**रुन्धन्**' के कर्मका अध्याहार अपेक्षित है। '**व्योम**' पाठमें कोई अतिरिक्त कल्पना अपेक्षित नहीं है। अतः रत्नश्रीधृत 'व्योम' ही उचित है ॥ ६४ ॥

६ (३. ii. ख) **द्वितीय पादका द्विपादाभ्यास अव्यपेत यमक**—प्रकृत श्लोकमें कविने किसी मिथ्यावादीके प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया है। यहाँ द्वितीय पादकी दो बार (तृतीय और चतुर्थ पादोंमें) आवृत्तिसे यमक निष्पन्न है। द्वितीय पादकी दो बार आवृत्ति, स्पष्ट है, अव्यपेत ही होगी। तरुण वाचस्पतिने इसे 'प्रथम पादके विना त्रिपादावृत्ति' का उदाहरण बताया है। पर आवृत्ति तो द्वितीय पादकी है, और दो बार है। अतः यहाँ 'त्रिपाद-यमक' तो है, 'त्रिपादावृत्ति' या 'त्रिपादावृत्ति यमक' नहीं है। वे तो अगले श्लोकमें दिये हैं ॥ ६५ ॥

---

१. अन्वयः—अलज्ज, अ-समाहितानाम्, असमाहितानाम्, भवद्-द्विधानां भवद्विधानाम् असमाहितानां भव-द्विधानां मिथ्या वाचं न श्रद्दधे।

२. 'धूली···रुन्धन्'को द्वितीय पाद बनानेसे यह भेद बननेसे सब भेदोंके उदाहरण बन जाते हैं।

सन्नाहितोमानमराजसेन सन्नाहितोऽमानम राजसे न।
सन्नाहितोऽमानम राजसेन सन्नाहितोमानमराजसेन[1] ॥ ६६ ॥
सकृद्, द्विस् त्रिश्च योऽभ्यासः पादस्यैवं प्रदर्शितः।

१० हे रजोगुणियोंसे भिन्न (सात्त्विक) लोगोंके स्वामी (उनमें अग्रगण्य), अमित लक्ष्मीसे सम्पन्न, अम (अमित) और अनम (नहीं झुकने वाली) तथा शोभायुक्त सेना वाले, (अङ्गमें) स्थापित उमा (पार्वती) और आ-नम (ईषद् झुके हुए, वक्र) राजा (चन्द्र) के कारण स्वामित्वसे युक्त (अर्धनारीश्वर और चन्द्रशेखर शिवके समान राजन्), अहितों (शत्रुओं) को सन्न (विपद्ग्रस्त) करने वाले, सन्नाह (कवच) से युक्त होते हुए, मानको प्राप्त सत्पुरुष तुम शोभासम्पन्न नहीं हो, ऐसा नहीं है ॥ ६६ ॥

इस प्रकार पादकी (i) एक बार, (ii) दो बार और (iii) तीन बार आवृत्ति दिखला दी है।

---

१० (३. iii) **प्रथम पादका त्रिपादाभ्यास अव्यपेत यमक**—प्रकृत श्लोकमें कविने किसी राजाका गौरवयुक्त वर्णन किया है। यहाँ प्रथम पादकी आवृत्ति अगले तीन पादोंमें हुई है। इससे यह अव्यपेत यमक है। दुष्करता तो स्वतः स्पष्ट है। इसे भरतने 'चतुर्व्यवसित' यमक नाम दिया है और रुद्रटने 'पङ्क्तियमक' नाम दिया है[2] ॥ ६६ ॥

(३) **पादाभ्यास यमकका उपसंहार**—तिरपनवें श्लोकके उत्तरार्धमें प्रतिपादित (३) पादाभ्यासयमकके (i) एक बार, (ii) दो बार और (iii) तीन बार आवृत्तिसे प्रतिपादित ११ भेदोंमें से निम्नलिखित १० भेदों को उदाहरणोंसे प्रदर्शित किया गया है : (i) एक (प्रथम) पादकी एक बार आवृत्तिसे निष्पन्न सभी छह भेदोंके उदाहरण ५७-६२ में, (ii) एक पादकी दो बार आवृत्तिके कारण सम्पन्न चार भेदोंमेंसे तीनके उदाहरण ६३-६५में और (iii) एक पादकी तीन बार आवृत्तिसे सम्पन्न एक भेदका उदाहरण ६६वें श्लोकमें दिया है। इस प्रकार कुल ११ भेदोंमेंसे १० भेदोंके उदाहरण आचार्यने

---

१. अन्वयः—अ-राजसेन, अमान-म, अमानम-राज-सेन, आहितोमाऽऽनम-राज-सेन, सन्नाहितः, सन्नाहितः, मानं हितः, सन्ना (त्वं) न न राजसे।

२. सर्वे पादाः समा यत्र भवन्ति नियताक्षराः।
चतुर्व्यवसितं नाम विज्ञेयं तद् बुधैर्यथा ॥ नाट्य० १६।८२
सर्वैः सार्धं युगपत् प्रथमस्य तु जायते पङ्क्तिः ॥ काव्याल० ३।१०

४. **श्लोकद्वयं तु युक्तार्थं** श्लोकाभ्यासः **स्मृतो, यथा** ।। ६७ ।।
विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणा भीता पृथ्वीयमतुलाऽऽश्रिता ।। ६८ ।।

(४) युक्त (एक-दूसरे के अनुरूप, या परस्पर सम्बद्ध) अर्थ वाले दो श्लोक श्लोकको आवृत्ति (वाला यमक होता) है ।। ६७ ।।

(दुष्टोंको) विनीत करने (और सज्जनोंको सन्मार्गपर ले जाने) वाले, गोल और पुष्ट भुजाओं वाले, अमित्रों (शत्रुओं)को सु (भलीभाँति) उखाड़ने वाले आपके द्वारा भयरहित हुई, यह अनुपम पृथ्वी अधिष्ठित है ।। ६८ ।।

प्रस्तुत किये हैं। (ii. क. ३) प्रथम पादकी तृतीय चतुर्थ पादोंमें (द्वितीय पादसे व्यवहित) आवृत्ति का उदाहरण नहीं दिया है। ६४वें श्लोकका रत्नश्री और वादिटीकासम्मत पाठ यदि माना जाता है, तो (ii. क. २) प्रथम पादकी दूसरे और चौथे पादोंमें आवृत्ति वाला उदाहरण नहीं है। ६४वें श्लोकके द्वितीय या तृतीय पादको इधर उधर करके पढ़नेसे इसीमें दोनों भेद निष्पन्न हो जाते हैं।

(४) **श्लोकाभ्यास यमक**—जिस प्रकार **पादाभ्यास** या **अर्धाभ्यास** यमक में अभ्यस्त पादोंका अर्थ परस्पर युक्त होता है, मुख्य प्रतिपाद्यसे उसकी एकवाक्यता होती है, वैसे ही यहाँ भी जाति या वृत्तमें निबद्ध चतुष्पदीरूप श्लोकको आवृत्तिसे '**श्लोकाभ्यास**' नामक यमक सम्पन्न होता है। आवृत्त श्लोकका अक्षरानुपूर्वीसाम्य '**आवृत्ति**' कहनेसे तथा प्रकरणसे स्वतः प्राप्त है। युक्तार्थता भी पादाभ्यास आदिके समान स्वतः प्राप्त है। अतः '**युक्तार्थं**' विशेषणसे यहाँ कोई अपूर्वका विधान नहीं किया है। इसे प्राप्तका 'स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थ किया अनुवाद' ही कहा जा सकता है। यदि यह विधेय माना जाता है, तो **पादाभ्यास** और **अर्धाभ्यास** यमकोंमें भी इसे दिया जाना चाहिये। यमकमें अर्थानुसन्धानकी अपेक्षा दण्डीने बताई ही कहाँ है? तरुण वाचस्पतिने इससे पदभेदसे पाठकी व्यावृत्ति मानी है[1]। 'पदभेदसे पाठ' से 'विषम वर्णानुपूर्वी वाला पदभेद' तो यमकविरोधी होनेसे सम्भव नहीं है। यदि सभङ्ग शब्दश्लेषके समान पदभेद अभिप्रेत है, तो वह तो होता ही है ।।६७।।

श्लोकाभ्यासयमकमें आवर्त्य श्लोक—प्रकृत श्लोकमें कविने अपने वर्ण्य राजाके अमित तेजका वर्णन किया है। राजाके मुख्य कर्तव्य होते हैं : दुष्ट-दमन, भुजबलसे शत्रुओंका उच्छेद। इस प्रकार निर्भय (निष्कण्टक) पृथ्वी (राज्य) समृद्धिसे स्वतः अतुलनीय हो जाती है ।। ६८ ।।

---

१. युक्तार्थं परस्परसम्बद्धार्थम्। अनेन पदभेदपठितं व्यावर्तयति।

विनायकेन भवता वृत्तोपचित-बाहुना।
स्वमित्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वी यमतुलाऽऽश्रिता ।। ६९ ।।
५. **एकाकारं चतुष्पादं** तन्महायमकाह्वयम्।
तत्रापि[1] दृश्यतेऽभ्यासः, सा परा यमक-क्रिया ।। ७० ।।

विगत हुए नायकों (सामन्त, सेनानायकों) वाले, समाप्त हो चुके (वृत्त) पुष्ट भुजाओंसे युक्त पुरुषों वाले, अपने परित्यागकर्ता मित्रों वाले शत्रुके द्वारा यमराजके तराजूके रूपमें अभिमत (शत्रुको मौतके पलड़ेके समान प्रतीत होती) पृथ्वीको आपने अधिष्ठित किया है ।। ६९ ।।

एक (समान) आकार (वर्णविन्यास) वाला चार पादों का समूह (पीछे बताया) है। वह 'महायमक' नाम वाला होता है। उस (एकाकार पाद) में भी आवृत्ति देखी जाती है। वह सर्वोत्कृष्ट यमकरचना होती है ।। ७० ।।

श्लोकाभ्यास यमकमें आवृत्ति श्लोक—प्रकृत श्लोकमें पिछले श्लोक की ही आवृत्ति की गई है। अर्थ भिन्न है। यदि आवृत्ति नहीं की जाती है, तो इन दो अर्थोंकी प्रतिपत्ति **श्लेष**के द्वारा हो जाती है। इस प्रकार यह यमक श्लेषके आश्रय पदोंकी आवृत्तिका नाम है और श्लेषका परिपन्थी है।

वृत्तोपचितबाहुना—√वृत्+क्त='वृत्त' शब्द 'गोल', 'मृत', 'समाप्त' आदि नाना अर्थों में है। उपचिताः पुष्टा बाहवो येषाम्, ते, वृत्ताः उपचित-बाहवो यस्य, तेन। वादी जी, तरुण वाचस्पति आदिने 'बाहु' शब्दको बाजू जैसे भाई-बन्दोंका उपलक्षक माना है।[2]

स्वमित्रोद्धारिणा—उज्जहतीति उद्धानि—उद्+√हा+क या विच्।[3] स्वमित्राणि उद्धानि यस्य, स स्व-मित्रोद्धः, स च अरिः स्वमित्रोद्धारिः, तेन। **अभीता**—अभि+√इ+क्त (कर्मणि)+टाप् ।। ६९ ।।

५. **'महायमक'**—(३. iii) **त्रिपादाभ्यासयमकका विशिष्ट भेद :** प्रथम पादकी तीन बार आवृत्तिसे चतुष्पदी रूप पूरा पद्य वर्णसमुदायकी

---

१. रत्नश्रीमें 'तस्यापि' पाठ धृत व्याख्यात है। इसके अनुसार महायमककी आवृत्ति प्राप्त होती है, जिसमें एकाकार आठ पाद होंगे। पर दण्डीने आगे जो उदाहरण दिया है, उससे इसकी पुष्टि नहीं होती। भोजके कथनसे भी यहाँ 'तत्रापि' पाठकी ही पुष्टि होती है। भोज और दण्डीमें पर्याप्त एकवाक्यता है। आगे टीका देखें।

२. उपचितं (चितासमीपे) वृत्ताः (स्थिता) बाहवो (ज्ञातयो) यस्य, तेन। 'बाहु'-शब्दो लक्षणया ज्ञातिषु प्रयुक्तः। 'हत-ज्ञातिना' इति यावत्।

३. 'आतश्चोपसर्गे' (अष्टा० ३।१।१३६) से 'क' या 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (३।२।७५) से 'विच्'।

दृष्टिसे एक ही आकार वाला है। इस भेदको काव्यशास्त्री 'महायमक' कहते हैं। आवृत्त होने वाले एक ही पादमें अव्यपेत या व्यपेत प्रकारकी एक बार या अधिक बार आदि, मध्यादि स्थानोंमें आवृत्ति करके इस एकाकार चतुष्पादरूपी महायमकको और भी उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। इस प्रकार महायमकके दो प्रकार हैं : (१) एक पादकी तीन बार आवृत्तिसे युक्त सादा चतुष्पाद यमक; (२) आवृत्त होने वाले पादमें भी पादांशकी आवृत्ति होती है। यह दूसरा भेद अत्युत्कृष्ट यमक होता है।

महाकवियोंने प्रथम प्रकारके यमकका तो इक्का-दुक्का प्रयोग किया है,[1] पर दूसरे भेदका प्रयोग हमें सुलभ नहीं हुआ। भरतमें भी 'चतुर्व्यवसित' नाम से और रुद्रटने 'पङ्क्ति' नामसे अभिहित इस महायमकके प्रथम प्रकारपर लागू होने वाला उदाहरण ही दिया है।[2] महाराज भोजने एकाकार चतुष्पाद यमक और श्लोकाभ्यास यमकको 'महायमक' नाम दिया है।[3] श्लोकाभ्यास यमक को 'महायमक' बतानेमें भोजका मत दण्डीसे पृथक् है। एकाकार चतुष्पाद यमकमें भोजने पादको पुनः अभ्यासके योग्य भी बताया है। इस अंशमें भोजने दण्डीका अनुकरण किया है। उनके आशयको विस्पष्ट रूपसे प्रस्तुत किया है रत्नेश्वर मिश्रने : एकाकारता दो प्रकारसे होती है—(१) चार आवृत्तियोंसे, (२) आठ (अर्थात् पादार्धोंकी) आवृत्तियों से।[4] उत्कृष्ट

---

१. किरातार्जुनीय १५।१२ : विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।
भट्टिकाव्य १०।१९ : सर्वयमकम्—बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः ।

२. सर्वे पादाः समा यत्र भवन्ति नियताक्षराः ।
'चतुर्व्यवसितं' नाम विज्ञेयं तद् बुधैर्यथा ।। नाट्य० १६।८२; ८३ : काव्यालङ्कार ३।१२ : सभाजनेनोपरि सावारणानामयमेव कालः···।। पूरितासौ···।।

३. एकाकारं चतुष्पादं महायमकमुच्यते ।
श्लोकाभ्यासश्च, तत्राद्यं पुनरभ्यासमर्हति ।। सरस्वती० २।६७

४. द्विविधमेकाकारं भवति—(१) एकमावृत्तिचतुष्केण, (२) अपरमावृत्त्यष्टकेन। तदिदमुक्तम्—'आद्यं पुनरनावृत्तम्'* इति। प्रतिपादमवान्तरावृत्तिभेदेनैवाष्टकनिर्वाहात्। * यहाँ 'अनावृत्त' से मूलविरोधी तथा भोजके चतुर्थपादके अनुकूल सप्तम अक्षरके लघु न होनेके कारण भोजोक्तिको उद्धृत नहीं किया गया है। अपितु यह अपने 'एकं०' कथन का स्पष्टीकरण है कि इस प्रथम भेदमें अवान्तर आवृत्ति नहीं होती।

स-मानयाऽसमानयाऽसमानयासमानया ।
समान-यास-मानया समानयासमानया ।। ७१ ।।

मानवती, अनुपम, असम (विषम कामदेव) की अनीतिके कारण विषम (सङ्कटापन्न) प्राणों वाली (अर्थात् विप्रलम्भके कारण अत्यन्त कष्टावस्थाको प्राप्त), समान कामजन्य खेद और मान वाली इस प्रियासे मुझे मिला दे हे मेरे ऐसे अद्भुत (मित्र) ।। ७१ ।।

महायमक (एकाकार चतुष्पाद यमक) का उदाहरण भोजने दण्डी वाला (७१वाँ श्लोक) ही दिया है। भट्टिके व्याख्याता जयमङ्गलने **एकाकार चतुष्पाद यमक** (प्रथम भेद) को **'सर्वयमक'** कहा है तथा **श्लोकाभ्यास यमक** को **'महायमक'** ।[1] स्पष्ट ही यह भोजानुसृत परम्पराके अनुकूल है ।

रत्नश्रीज्ञानने एक पादकी तीन बार आवृत्ति वाले **पादाभ्यास यमकसे** आन्तरिक आवृत्तिसे निष्पन्न एकाकार पादकी तीन बार आवृत्तिसे सम्पन्न चतुष्पाद महायमकको पादके भीतरकी आवृत्तिके कारण भिन्न माना है ।[2] अर्थात् वे इन दोनोंको पृथक्-पृथक् मानते हैं । तरुण वाचस्पतिने एकाकार चतुष्पाद यमकके ऊपर बताये प्रथम भेदको **'महायमक'** माना है और आवृत्ति-गर्भित पादकी तीन बार आवृत्ति (अर्थात् आठ पादार्धों) वाले यमकको **'पर यमक'** माना है ।

इन सबमें भोज और रत्नेश्वर मिश्रकी व्याख्या ही युक्तियुक्त है ।।७०।।

(३. iii. २) **आवृत्तिगर्भित महायमक**—प्रकृत श्लोकमें किसी पुरुषकी रूठी हुई प्रियाके प्रति विप्रलम्भरति का चित्रण किया गया है । वर्ण्य पुरुषने उसे अत्यन्त प्रेम करने वाली इसलिये विरहकृश किन्तु प्रियकी किसी ग़लती पर मानकरके बैठी हुई प्रियाको मनाकर उससे मिलानेकी प्रार्थना अपने किसी नर्मसचिव मित्रसे की है ।

---

१. जयमङ्गला १०।१९ : 'सर्वयमकम्' इति चतुर्णामपि पादानां सदृशत्वात् । २०-२१ : 'महायमकम्' इति श्लोकस्यैकस्य द्वितीयेन श्लोकेन यमितत्वात् ।

२. रत्नश्री २।७० : एकाकार-चतुष्पादत्वं प्रत्येकं सर्वतो यमक-योगाद् विनाऽभ्यासादपि सम्भवतीत्याह—'तस्यापि' इत्यादि । तस्यापि= महायमकस्यापि न केवलं समूहादेः, अभ्यासः त्रिपादावृत्तिर्दृश्यते ।···अत एवेदं त्रिपादाभ्यासाद् भिद्यते । तत्र प्रत्येकं पादेषु सर्वतो यमकाभावात् केवलं पाद-यमक-मात्रं त्रिरभ्यस्यते ।

६. धराधराकारधरा धराभुजाम्भुजा महीं **पातु**महीन**विक्रमा**: ।
  क्रमात् **सहन्ते** सह**सा** **हता**रयो रयोद्धुरा **मान**धुरा **वलम्बिनः**[1] ।।७२।।

६. पृथ्वीको धारण करने वाले (शेष नाग)का आकार धारण करने वाली, हीनसे इतर (श्रेष्ठ) पराक्रमसे युक्त, बलसे अथवा वेगसे शत्रुओंको नष्ट कर चुकी, वेगसे अग्रगामी, मानरूपी धुरी वाली, (लोगों के लिये) आश्रय वाली पृथ्वीपतियोंकी भुजाएँ पृथ्वीकी रक्षा शास्त्रोचित मार्गसे करनेमें समर्थ हैं ।। ७२ ।।

यहाँ प्रथमपादकी **अव्यपेत** आवृत्ति अगले तीन पादोंमें की गई है । इस-लिये यह **त्रिरावृत्त प्रथम पादाभ्यास अव्यपेत यमक** है । आवृत्त पादके आठ अक्षरोंमें भी चार वर्णों (अक्षरों) **'समानया'** की एक बार अव्यवहित आवृत्ति हुई है । इस कारण यह साधारण महायमकसे उत्कृष्ट है । त्रिरावृत्त पादाभ्यास यमकका ही दूसरा नाम **'महायमक'** है । पादके आदिम दो अक्षरों **'समा'** की पादके मध्यमें **व्यपेत** आवृत्ति है । पादमध्यगत **'नया'** की पादान्तमें **व्यपेत** आवृत्ति है । पादादिगत चार अक्षरों **'समानया'** की पादान्तमें **अव्यपेत** आवृत्ति है । इस प्रकार सारे श्लोकमें **'व्यपेताव्यपेतयमक'** स्थित है । इस अव्यपेतव्यपेतावृत्तिगर्भित महायमककी रचना शब्द-शिल्पी कवि कलाकारोंके लिये एक दुष्कर चुनौती है । दण्डीने इस चुनौतीका सरस उत्तर इस उदाहरणसे सफलतापूर्वक दिया है । **महाराज भोज**ने भी इस उदाहरणसे ही काम चलाया है ।। ७१ ।।

(६) **यमक-सङ्कर**—प्रकृत श्लोकमें कविने पृथ्वीकी रक्षा करनेमें समर्थ भुजाओंकी विशेषता बताकर **उत्साह**का उद्दीपन विभाव प्रस्तुत किया है । कविने वीरोंकी भुजाओंका वर्णन स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर जाते हुए किया है : पहले भुजाओंका स्थूल आकार बताया है कि वे पृथ्वीको धारण करने वाले का आकार धारण करती हैं । अर्थात् इन्हें देखनेसे ही लगता है कि ये धरा-धारणसमर्थ हैं । 'धराधर' का दूसरा अर्थ है : शेष नाग । उसका आकार है स्थूल एवं लम्बा । भुजाएँ भी स्थूल एवं लम्बी हैं । इस विशेषणमें **श्लेष** और **लुप्तोपमा** है । भुजाओंके स्थूल आकारको देखनेके बाद **'अहीनविक्रमाः'** से उनकी पराक्रमशालिताकी प्रतीति बताई है : ये भुजाएँ अत्यन्त पराक्रमी हैं । इनका पराक्रम शत्रुओंके विनाशसे सिद्ध हो चुका है । युद्धस्थलमें शत्रुओंपर

---

१. तरुण० : विक्रमात् । वादी : धीरधुरावलम्बिनः ।

लपालप चलने वाली भुजाएँ जैसे मानको वहन करने वाला अक्षदण्ड हैं। लोगोंको इनका बड़ा सहारा मिलता है। निश्चय ही धराका भोग (पालन और सुखलाभ) करने वाले लोगोंकी भुजायें ऐसी होती हैं।

यहाँ (१) 'धरा' शब्दकी आवृत्ति प्रथम पादके आदिमें और (२) मध्यमें **अव्यवहित** रूपसे दो बार हुई है। (३) 'धराधरा' की व्यवहित रूपसे हुई है। (४) प्रथमपादान्तके **'भुजाम्'** की, द्वितीय पादान्तके **'क्षमा'** की, तृतीयपादान्तके **'रयो'** की अगले पादोंके आदिमें **अव्यपेत** आवृत्तिसे भरतका **'चक्रवाल'** तथा दण्डीका **'सन्दष्ट'** यमक (द्र० श्लोक ५१-५२) निष्पन्न हुआ है। (५) द्वितीय पादके मध्यमें स्थित **'मही'** की मध्यमें ही दो अक्षरोंके व्यवधानसे आवृत्तिसे **पादमध्य व्यपेत यमक** है। (६) तृतीय पादके प्रथम भागके अन्तमें स्थित 'सह' की मध्य भागमें एकाक्षर व्यवहित आवृत्ति है, तथा यदि ह्रस्व, दीर्घमें वर्णभेद न मानें, तो (७) मध्यके **'सह'** की पादान्तके आदिमें **'साह'** के रूपमें **अव्यवहित** आवृत्ति है। (८) चतुर्थ पादके आदिभागके अन्तकी ओर स्थित **'धुरा'** की पादमध्यमें अक्षरद्वयव्यवहित आवृत्तिसे **आदि-मध्य व्यवहित** यमक है। इस प्रकार यहाँ एक पद्यमें ८ यमकोंका मिश्रण है। इनमेंसे १-३ में परस्परोपकार्योपकारक भाव सम्बन्धसे अङ्गाङ्गिभाव **सङ्कर** है। ६-७ में निरपेक्षता है। चारों पादोंमें वर्तमान होनेसे ४ **सन्दष्ट** यमक सबमें चारुत्वकी दृष्टिसे मुख्य है। शेष यमक परस्परसङ्कीर्ण और परस्पर तुल्यबल हैं। अतः श्लोकमें अधिक प्रभाव **सङ्कीर्ण** और **असङ्कीर्ण** यमकोंकी संसृष्टिका है। इस प्रकार यह श्लोक तृतीय श्लोकोवत **सम्भेदयोनि** यमकोंका उदाहरण है।

मानधुरा वलम्बिनः—मानस्य धुरः=मानधुराः, मान+धुर्+अ (समासान्त)[1]+टाप्, प्रथमा बहुवचन। भुजाओंपर मानधुराओंका आरोप है। 'धुर्' नित्य स्त्रीलिङ्ग है, अतः 'मानधुराः' भी स्त्रीलिङ्ग है। उपमेय 'भुज' स्त्री-पुं-लिङ्ग है : भुजा, भुज।[2] 'अव' के आदिम 'अ' का भागुरिके मत में लोप होनेसे 'वलम्बिनः' है। अन्य लोगोंने 'मानधुरावलम्बिनः' को समस्त पद माना है। पर इससे अर्थमें कोई विशेष शोभा नहीं आती। दोनोंको पृथक् करनेसे 'भुजा मानधुरा' **रूपक** या वाचकलुप्ता **उत्प्रेक्षा** निष्पन्न हो

---

१. अष्टाध्यायी ५।४।७४ : ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे।

२. अमरकोष २।६।७९-८० : द्वौ परौ द्वयोः ॥ भुजबाहू, प्रवेष्टो, दोः स्यात्। मेदिनी ८।१२-१३ : अथो भुजा ॥ द्वयोर्बाहौ करे।

७. आवृत्तिः प्रातिलोम्येन पादार्ध-श्लोक-गोचरा।
यमकं प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥ ७३ ॥

७. (पद्यके १) पाद, (२) अर्धाली एवं (३ पूरे) पद्यको विषय बनाने वाली उलटे क्रमसे (वर्णोंकी) आवृत्ति प्रतिलोम (उलटा) होनेके कारण 'प्रतिलोम' कहलाती है ।। ७३ ।।

जाती है तथा भुजाओंका आश्रयदातृत्व गुण अतिरिक्त कहा जाता है। नित्य-स्त्रीलिङ्ग पदका उपमेय किसी भी लिङ्गका पद हो सकता है। अतः 'भुजाः' पुंल्लिङ्ग भी हो सकता है। अथवा '०धुराः' के स्त्रीलिङ्ग विशेष्य और 'वलम्बिनः' के पुंल्लिङ्ग विशेष्यके रूपमें 'भुजाः' को 'भुजा' और भुजों' का एकशेष मानकर दोनोंसे अन्वित किया जा सकता है। अथवा रुद्रटोक्त लिङ्गश्लेष भी हो सकता है ।। ७२ ।।

७. **प्रतिलोम यमक**—पीछेके उदाहरणोंमें दिये यमकोंमें वर्णोंकी आवृत्ति अनुलोम क्रमसे होती है। इस दृष्टिसे वे सब **अनुलोमयमक** हैं। इनके विपरीत जब पद्यके वर्णसमुदायकी प्रतिलोम (उलटे) क्रमसे आवृत्ति की जाती है, तब यह **प्रतिलोम यमक** होता है। यह आवृत्ति (क) पद्यके सबसे छोटे अंश पादसे लेकर (ख) पद्यके अर्ध तथा (ग) पूरे श्लोकमें व्याप्त होती है। अतः यह यमक (क) **पादप्रतिलोम** (ख) **पद्यार्धप्रतिलोम** और (ग) **श्लोकप्रतिलोम** यमक नामक तीन भेदोंमें निष्पन्न होता है। स्पष्ट है कि यह यमक दुष्कर होता है।

विशुद्ध तकनीकी दृष्टिसे यदि देखा जाये, तो **प्रतिलोम** यमकके भी पदके (i) अन्त, (ii) मध्य और (iii) आदि प्रभृति स्थानोंमें प्रतिलोम आवृत्तिसे यमक निष्पन्न हो सकते हैं। पर वे उतने हृदयावर्जक नहीं होंगे। अतः लगता है दण्डीने उन्हें नहीं बताया है। महाकवि भारवि और माघने तीनों प्रकारके **प्रतिलोम यमकों**का प्रयोग किया है।

प्रतिलोम यमकका इतिहास— यह **भरत**में उपलब्ध नहीं है। पादादि प्रभृति स्थानोंमें शब्दका अभ्यास अनुलोम होना चाहिये, या प्रतिलोम, यह यद्यपि भरतके लक्षणमें उक्त नहीं है, तथापि उन्होंने यमकके सब दश भेदोंके उदाहरण **अनुलोम** आवृत्तिके ही दिये हैं, **प्रतिलोम** आवृत्तिका एक भी स्थल नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि भरतको **प्रतिलोम यमक** अभीष्ट नहीं हैं।

भामहने यमकके भेदोंमें **प्रतिलोम**का विधान तो किया ही नहीं है, वे काव्यमें **दुष्कर** अलङ्कारोंके अत्यन्त विरोधी हैं। अतः न केवल **प्रतिलोम** यमक, अपितु **चित्रबन्धों**के समर्थनकी आशा भामहसे नहीं है।

उपलब्ध काव्यशास्त्रियोंमें दण्डी ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने नानाविध **दुष्कर** अलङ्कारोंका सुन्दर, व्यवस्थित और परिमार्जित निरूपण इन्हें अलङ्कार की सम्भव गरिमा प्रदान करते हुए किया है ।

काव्यशरीरमें शब्दालङ्कारोंको महत्त्व देकर संस्कृत काव्यमें पच्चीकारी को कलाके स्तरकी ओर उन्मुख करने वाले महाकवियोंमें भारवि, माघ और भट्टिके नाम उल्लेख्य हैं : **भारविने** (१) न केवल **दुष्कर** यमकोंका पर्याप्त प्रयोग किया है, अपितु (२) **प्रतिलोम** यमकके भी तीनों भेदोंका सुन्दर प्रयोग किया है ।[1] इससे प्रतीत होता है कि भारविसे पूर्वके महाकवियों और काव्य-शास्त्रियोंमें यमकके ये भेद प्रसिद्ध हो चुके थे । दण्डीने उनका प्रसिद्ध स्वरूप ही निरूपित किया है। (३) भारविने विविध प्रकारके दुष्कर बन्धोंका तथा एकाक्षर, द्व्यक्षर, और अतालव्यादि दुष्कर श्लोकोंका भी प्रणयन किया है ।[2]

भारवि इस पच्चीकारीके ज्ञात प्रथम कलाकार महाकवि हैं । **माघ** तो उनके नक़लची हैं । **भारवि** और **माघने** (१) यमकों, चित्रबन्धों और एकाक्ष-रादिका प्रणयन एक ही प्रकरणमें मिश्रित रूपमें किया है ।[3] (२) **माघ** तक

१. (क) वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे ।
यात किं विदिशो जेतुं तुञ्जेशो दिवि किं तया ॥ किराता० १५।१८

(ख) ननु हो मथना राघो घोरा नाथमहो नु न ।
तयदातवदा भीमा माभीदा बत दायत ॥ २०

(ग) निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा ।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ॥ २२
तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ॥ २३

२. किरातार्जुनीय, एकाक्षर पाद १५।५, एकाक्षर श्लोक १४, द्व्यक्षर श्लोक ३८, निरौष्ठ्य श्लोक ७, २९, आद्यन्तयमक ३७, पादादियमक १०, पादाद्यन्तयमक ३१, पादान्तादियमक ८, द्वि-चतुर्थपादयमक ३५, शृङ्खलायमक ४२, समुद्गयमक १६, महायमक ५२, पादप्रतिलोम १८, अर्धप्रतिलोम २०, श्लोकप्रतिलोम २२-२३, गूढचतुर्थपाद ४, अर्थ-त्रयवाचक ४५, गोमूत्रिकाबन्ध १२, सर्वतोभद्र २५, अर्धभ्रमरक २७ ।

३. शिशपालवध एकाक्षरपाद १९।३, द्वि-चतुर्थपादाभ्यास यमक ५, १७, १९, २१, २५, ३१, ३८, ४२, ४८, ५०, ५२, ५४, ५६, ६४, ७४, ७६ ७८, ८०, ८२, निरोष्ठ्य श्लोक ११, सन्दंशयमक १३, विषमपादादि-

आते-आते इन अलङ्कारोंमें तुलनात्मक उत्तमाधमत्वकी दिशा निर्धारित हो चुकी थी : उन्होंने **चित्रबन्धों**को सर्वाधिक विषम (काव्यको दुरूह बनाने वाला) बताया है।[1] माघके इस कथनका एक फलितार्थ और भी है : वे आनन्दमात्र प्रयोजन वाले काव्यमें दुष्कर विधानसे बिषमता लाना उचित नहीं समझते। भले ही भारविकी प्रतिद्वन्द्वितामें उन्होंने अपने ही काव्यको विषम बनानेसे बचनेका प्रयास नहीं किया : **अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता।**

महाकवि **भट्टि**ने अपने महाकाव्य 'रामचरित' के दशम सर्गमें **अनुप्रास** और **यमक** शब्दालङ्कारों तथा **दीपक** आदि अर्थालङ्कारोंका प्रशस्त प्रदर्शन किया है। उसमें उन्होंने (१) **यमक**के २० भेदोंके उदाहरण दिये हैं, जो भरत और भामहके भेदोंसे अधिक एवं भिन्न प्रकारके हैं, किन्तु दण्डीकी चिन्तनपरम्पराके अनुकूल हैं।[2] (२) भट्टि दुष्करतामें एकाकार चतुष्पाद,

---

समपादान्त यमक २३, सर्वताभद्रबन्ध २७, मुरजबन्ध २९, श्लोक प्रतिलोम ३३-३४, ९० पादादि व्यपेत यमक ३६, पादप्रतिलोम ४०, अर्धप्रतिलोम ४४, ८८, गोमूत्रिकाबन्ध ४६, समुद्गयमक ५८,११८, प्रथम-तृतीय-पादादि यमक ६०, सजातीय चतुष्पादाद्यन्तादि व्यपेत यमक ६२, द्व्यक्षर श्लोक, ६६, ८४, ८६, ९४, ९८, १००, १०२, १०४, १०६, १०८, अर्धभ्रमक ७२, विषमान्त समान्त यमक ९२, गूढ चतुर्थपाद ९६, अतालव्य श्लोक ११०, विषमपादमध्य समपादान्त सजातीय यमक ११२, एकाक्षर श्लोक ११४, अर्थत्रयवाची ११६, चक्रबन्ध १२०।

१. विषमं सर्वतोभद्र-चक्र-गोमूत्रिकाऽऽदिभिः।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद् बलम्॥ माघ १९।४१

२. भट्टिकाव्य, विषमपाद यमक १०।१०, समपाद यमक २, पादान्त अव्यपेत चतुष्पादयमक ३, पादादि अव्यपेत चतुष्पादयमक ४, पादमध्याव्यपेत चतुष्पाद यमक ५, चक्रवाल यमक ६, समुद्ग ७, काञ्ची ८, यमकावली (अव्यपेत आदियमक अन्तयमक माला) ९, पादाद्यन्त विजातीय चतुष्पाद यमक ११, तृतीय चतुर्थ पाद (जयमङ्गल—मिथुन-) यमक १२, चतुष्पादादि (वृन्त) यमक १३, चतुष्पादान्त सजातीय (पुष्प-) यमक १४, एकपादादि-मध्य-व्यपेत विजातीय १५, प्रथम चतुर्थपादाभ्यास १६, एकपादमध्यान्त यमक १७, द्वि-तृतीयपादाभ्यास (गर्भ) यमक १८, महायमक (सादा) १९, श्लोकाभ्यास २०-२१, प्रथम पादादि अव्यपेत चतुर्थपादान्त अव्यपेत विजातीय यमक २२।

अपरनाम **महायमक**, के सादे भेद **श्लोकाभ्यास** यमकसे आगे नहीं बढ़े हैं।[1] (३) **प्रतिलोम, गत-प्रत्यागत** प्रकारकी आवृत्तियाँ उन्होंने नहीं दी हैं। (४) उन्होंने **चित्रबन्ध** तो दिये ही नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि शास्त्र-काव्यप्रणयन प्रयोजन होनेसे व्याकरणज्ञानकी अत्यन्त अपेक्षाके कारण व्याख्यागम्य काव्य लिखते हुए भी महाकवि भट्टि निबन्धनकी दृष्टिसे काव्य को व्याख्यागम्य बनाना उचित नहीं समझते थे।

इस विषयमें **दण्डीका** चिन्तन बिल्कुल स्पष्ट एवं युक्तियुक्त है : (१) वे **यमकको** एकान्तमधुर नहीं मानते, यह पीछे (१।६१, पृष्ठ १२४में) कहा जा चुका है। (२) उन्होंने सुकर, दुष्कर यमकों और चित्रबन्धोंको न केवल आन्तरिक क्रमिक विकासके साथ प्रस्तुत किया है, अपितु यमक और चित्र-बन्धोंके पौर्वापर्यसे भी इनका आपेक्षिक वैषम्य सूचित किया है। अर्थात् दण्डी शब्दालङ्कारोंमें (१) अनुप्रासको माधुर्यकारक मानते हैं; (२) सुकर यमक भी काव्यमें माधुर्यकी पुष्टि करता है; (३) दुष्कर यमक जितना दुष्कर होता है, काव्यमें माधुर्यका उतना विघातक होता है, (४) चित्रबन्ध तो काव्यमें वैषम्यकारक ही होते हैं।

आचार्य रुद्रटने इस दिशामें चिन्तनका विकास यों किया है : (१) उन्होंने '**यमक**' के अन्तर्गत **अनुलोम** वर्णावृत्ति ही ली है।[2] **प्रतिलोम** आवृत्ति को उन्होंने **चित्रबन्धोंमें** सम्मिलित किया है।[3] (२) दण्डीको केवल अव्यपेत **प्रतिलोम** आवृत्ति अभीष्ट है, यह उनके (७४-७७) उदाहरणोंसे स्पष्ट है।

---

१. बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रो··· ।। भट्टिकाव्य १०।१९
अभियाता वरं तुङ्गं भूभृतं रुचिरं पुरः।
कर्कशं प्रथितं धाम ससत्त्वं पुष्करेक्षणम् ।। २०-२१

२. तुल्य-श्रुति-क्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकं, प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।। काव्याल० ३।१
नमिसाधुटीका : 'क्रम'-ग्रहणात् प्रतिलोमानुलोम-सर्वतोभद्रानुप्रासादीनां यमकत्वनिरासः। न हि तेषु तुल्य-श्रुति-सद्भावेऽपि तुल्य-क्रमो विद्यते।

३. भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र, तच्चित्रम् ।।काव्याल०५।१
तच्चक्रखड्ग···अनुलोमप्रतिलोमैरर्धभ्रमसुरजसर्वतोभद्रैः। २-३
···भेदैर्विभिद्यमानं सङ्ख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम्। ४

पर रुद्रटने **व्यपेत प्रतिलोम** आवृत्तिका उदाहरण दिया है।[1] (३) काव्यमें यमक औचित्य और सुबोधता होनेपर, अर्थात सुकर होनेपर, ही ग्राह्य (मधुर) होता है, यह पीछे (पृष्ठ १६में) कहा जा चुका है।[2] (४) इससे दुष्कर यमककी माधुर्यविरोधिता स्वतः प्राप्त है। (५) जब दुष्कर यमक ही काव्यको अग्राह्य बनाता है, तो **सुदुष्कर** चित्रबन्ध तो माधुर्यके लिये सुतराम् माहुर हैं, यह स्वतः स्पष्ट है। (६) रुद्रटने **मात्राच्युतक** आदि तथा **पहेलियों** को कवियोंके खेलकी चीज बताया है।[3]

प्रायः दण्डीके अनुयायी **महाराज भोजने यमक**के **प्रतिलोम**भेदके विषयमें आचार्य रुद्रटका अनुसरण किया है: उन्होंने इसे गतिके प्रतिलोमनियमके कारण सम्पन्न **'चित्र'** नामक शब्दालङ्कारके अन्तर्गत माना है। इसे उन्होंने **'गत-प्रत्यागत'** नाम दिया है। उदाहरण दण्डीके न देकर भारवि (सरस्वती० २।३००, किराता० १५।२२) तथा माघके (सरस्वती० २।२९९, ३०१-३०२, ३०५, शिशु० १९।४४, ३३-३४, ९०) दिये हैं। भोजने गत-प्रत्यागतके दण्डी और रुद्रटके भेदोंसे अन्य भी **अक्षरगत** (२।३००), **भाषान्तरगत** (३०३-३०४), **अर्थानुगत** (३०५) भेद किये हैं।

दण्डीने प्रतिलोमपठित काव्यको चित्राकारबन्धमें निष्पन्न न होनेके कारण **चित्रबन्ध** नहीं माना है, अपितु प्रतिलोम आवृत्तिके कारण **'यमक'** ही बताया है। जिस प्रतिलोम आवृत्तिसे किसी प्रकारका चित्रबन्ध बन जाता है, उसे वे **'यमक'** न कहकर **चित्र** ही कहते हैं। उदाहरणार्थ **सर्वतोभद्र**के चारों पादोंमें पूर्वांशकी प्रतिलोम आवृत्ति होती है, तथा **'सर्वतोभद्र'** नामक वेदीका आकार भी निर्मित होता है। तो उन्होंने इसे (८०, ८२ श्लोकोंमें)

---

१. वेदापन्ने स शक्ले रचितनिजरुगुच्छेदयत्नेऽरमेरे,
देवासक्तेऽमुदक्षो बलदमनय दस्तोदद्दुर्गासवासे।
सेवासर्गादुदस्तो दयनमदलवक्षोदमुक्ते सवादे,
रेमे रत्नेऽयदच्छे गुरुजनितचिरक्लेशसन्नेऽपदावे ॥ काव्याल० ५।१७

२. इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ॥ काव्याल० ३।५९

३. मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिकाकारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीडामात्रोपयोगमिदम् ॥ काव्याल० ५।२४

(क) **याऽमताश कृतायासा, सा याता कृशता मया ।**

रमणारकता तेऽस्तु　　स्तुतेता करणामर ।। ७४ ।।

(क) हे अमत (अनिष्ट, अनुचित) आशा वाले, जो कृशता आयास (क्लेश) करने वाली (होती है), वह मैंने पा ली है । हे करणों (इन्द्रियों) के लिये (मृत-समान) रमण (आनन्ददायी कान्त), तुम्हारी स्तुत (प्रशंसा) से इत (युक्त) आरकता (आगन्तृत्व) होवे ।। ७४ ।।

'सर्वतोभद्र' नामसे **चित्रबन्धों**में परिगणित किया है, **यमक**में नहीं । यही कारण है कि **प्रतिलोम यमक**में उन्होंने पूरे पादसे कमकी आवृत्ति नहीं मानी है । वर्णोंके पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी अदूरता दण्डीके अनुसार **अनुप्रास** में अपेक्षित होती है, **यमक**में नहीं । अन्यथा अत्यधिक व्यवधान वाले प्रथमादिचतुर्थ-पादान्तयमक कैसे निष्पन्न होंगे ? इसे यदि अपेक्षित माना भी जाये, तो प्रतिलोमयमकमें भी अनुलोम पठित वर्णोंका पूर्वानुभवसंस्कार उनके प्रति-लोमपाठमें विचित्र अवश्य लगता है, पर तिरोहित नहीं हो जाता । अतः किसी प्रकारका चित्र निबन्धन न होनेके कारण पाद, अर्ध और श्लोककी प्रतिलोम आवृत्तिको **'चित्र'** में शामिल करना उचित नहीं है । इसका उचित स्थान **यमक** ही है, जो इसे दण्डीने दिया है ।

बादके आचार्योंने इस विषयमें कोई नई बात नहीं कही है ।। ७३ ।।

(७. क) **पादप्रतिलोम यमक**—**'यामताश कृतायासा०'** (७४) श्लोकमें विषम पादोंमें जिस क्रमसे वर्णविन्यास किया गया है, सम पादोंको प्रतिलोम क्रमसे यदि पढ़ा जाता है, अर्थात् सम पादके अन्तिम अक्षरको आदिम और इस प्रकार उलटे पढ़ते-पढ़ते आदिम अक्षरको अन्तमें पढ़ा जाता है, तो विषम पादका वर्णविन्यास उपलब्ध हो जाता है । अनुलोम और प्रतिलोम, परस्पर सम्बद्ध हैं । इसलिये इस भेदको **'अनुलोम-प्रतिलोम'** भी कहते हैं । अनुलोमसे प्रतिलोमकी प्राप्ति अनिवार्य नहीं है । जबकि प्रतिलोमसे अनुलोमकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है । इसलिये इस भेदमें प्रतिलोमता ही महत्त्वपूर्ण है । यही कारण है कि दण्डीने इस भेदके असाधारण धर्म प्रतिलोम आवृत्तिके आधार पर ही लक्षण और सञ्ज्ञाका विधान किया है । भोजने **'गत-प्रत्यागत'** सञ्ज्ञाका प्रयोग किया है ।

कविने प्रकृत दुष्कर यमकमें कोमल विप्रलम्भ **रति** निबद्ध की है । **'अमताश'**, **'आरकता'**, **'स्तुतेता'**, **'करणामर'** पदोंकी सुपारियोंको तोड़कर

(ख) **नादिनोमदना धीः स्वा, न मे काचन कामिता ।**
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना ।। ७५ ।।

(ख) मुझ प्रणव नादकी भावना वालेकी अपनी बुद्धि मदनसे रहित है । (मुझे) कोई एषणा नहीं (शेष रही) है । इन्द्रियोंके दमनको खण्डित करने वाले कामके द्वारा अपने (कामके) अधीन रहने वाली कालिख (मुझे) नहीं है ।। ७५ ।।

चुभलानेके बाद अनुलोम-प्रतिलोम पाठकी चर्वणासे जन्य रसके आस्वादके आगे रति बाुरी बहुत उपेक्षित हो जाती है । अतः इस प्रकारके यमक माधुर्यविरोधी हैं ।

यह प्रतिलोम विन्यास भिन्नार्थकी प्रतीति कराता है । पर अभिन्नार्थक भी हो सकता है । जैसे—माघके एक श्लोकमें पादको अनुलोम और प्रतिलोम पढ़नेसे एक ही वर्णविन्यास तनिकसे क्रमभेदसे उपलब्ध होता है ।[1] दोनों पाठोंमें इसलिये अर्थ एक ही प्रकट होता है । यह विधा दण्डीके **पादप्रतिलोम यमक**के उदाहरणसे भिन्न प्रकारकी है ।। ७४ ।।

(७. ख) **श्लोकार्ध प्रतिलोम यमक**—७५वें श्लोकमें आचार्य दण्डीने किसी प्रणवनादाभ्यासी पाशुपत योगीके आत्मतोषका वर्णन किया है । दण्डीके कालमें **तन्त्र एवं योगके राजयोग** तथा **हठयोग** मार्गोंके मिश्रणसे कई शैव, शाक्त, वैष्णव साधनामार्ग प्रचलित थे । उसके अनुसार प्रणव (ओङ्कार) का अजपा जप (इसे 'अजपा गायत्री' भी कहा जाता था) किया जाता था । इसके अविच्छिन्न सन्तानसे मूलाधार चक्रमें सुषुम्णामें एक अमूर्त नाद (अव्यक्त ध्वनि) श्वास-प्र-श्वासकी क्रियाके समान सहज रूपसे उन अभ्यासियोंमें सिद्ध हो जाता था ।[2] इसे 'अन्तः प्रणव', 'ब्रह्म प्रणव' या 'महावैराज प्रणव' के नामसे कहा गया है ।[3] इस प्रकारकी वेदान्तानुकूल साधनामें जपका मन्त्र '**अहं सः**'

---

१. विदितं दिवि केऽनीके तं यातं निजिताऽऽजिनि ।
विगदं गवि रोद्धारो योद्धा यो नतिमेति न ।। माघ० १९।२०

२. मूलाधारात् सुषुम्णा च बिसतन्तुनिभा शुभा ।। ध्यानबिन्दूपनिषद् १०१
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः । १०२
उपनिषद् ब्रह्मयोगी : तत्र सुषुम्णाश्रयवीणादण्डे समुत्थितः सन्नमूर्तो नादो वर्तते । अत एव वीणादण्डमध्यमेव नादोत्पत्तिस्थानम् ।

३. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्, उत्तरकाण्ड ३; ध्यानबिन्दूपनिषद् १, ३०, ४६ ।

'सोऽहं' से निष्पन्न 'हंसः' ध्वनि (नाद) होता है। इसे 'मानस यज्ञ' कहा गया है।[1] अस्तु, इस प्रणवात्मक या महावाक्यात्मक नादके सतत अभ्याससे मनकी बाह्य वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और मन इस नादमें ही लीन हो जाता है।[2] मनकी वृत्तियोंका बीज काम (इच्छा) है।[3] मनकी वृत्तियाँ जब लीन हो जाती हैं, तो जीवकी बुद्धि मदनरहित (कामरहित) स्वतः हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप कामकी त्रिविध वृत्तियाँ (एषणात्रय[4]) नादाभ्यासी पुरुषके मनमें उदित तो होती ही नहीं हैं, जो प्रारब्धवशात् स्थित हैं, वे भी कालक्रमसे उनके भोगसे शान्त, व्युपरत हो जाती हैं।[5] इस प्रकार नादाभ्यासी पुरुषकी अमदनताकी स्थितिसे अकामता (एषणात्रय-रहितता) की स्थिति उत्पन्न होती है। चित्तमें जो सञ्चित और प्रारब्ध कर्म स्थित हैं,

---

१. पाशुपत ब्रह्मोपनिषत्, पूर्वकाण्ड, १२ : मानसो हंसः 'सोऽहं = हंसः' इति तन्मयं यज्ञो नादानुसन्धानम्। तन्मयविकारो जीवः। उत्तरकाण्ड ३ : अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः।

२. स्वात्मानं पुरुषं पश्येन् मनस्तत्र लयं गतम्। ध्यानबिन्दूप० १०५
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥ ४६
मनस्तत्र लयं याति, तद् विष्णोः परमं पदम्। ४७
सदा नादानुसन्धानात् सङ्क्षीणा वासना भवेत् ॥ ४९
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥ ५१
न जानाति स शीतोष्णं, न दुःखं, न सुखं तथा। ५३
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥ ५४

३. कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० १०।१२९।४

४. ईशोपनिषद्भाष्यकुसुमाञ्जली, पृष्ठ १२, देखें।

५. अधिष्ठाने तथा ज्ञाते, प्रपञ्चे शून्यतां गते।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात् *प्रारब्धावस्थितिः कुतः? ॥ नादबिन्दूपनिषत् २८
ततः कालवशादेव *प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥ २९
ब्रह्मप्रणवसन्धाननादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ३०

* अष्टाविंशश्लोकोक्त 'प्रारब्ध'से 'प्रकृत देहारब्ध' अर्थात् 'क्रियमाण कर्म' अभीष्ट हैं एवं ऊनत्रिंश श्लोकमें उक्त 'प्रारब्ध' से सञ्चित और क्रियमाणसे भिन्न प्रारब्धभोग कर्म अभीष्ट हैं। अन्यथा 'कालवशात् क्षय' कहना आवश्यक नहीं है। उपनिषद् ब्रह्मयोगीने इस प्रकरणमें 'न कदापि प्रारब्धादिकर्मत्रयं विद्यते।' माना है।

उनका भी क्षय हो जाता है। ऐसे अभ्यासियोंके तामिका (मल) न होनेसे क्रियमाण कर्म बन्धनकारी नहीं होते, गुणस्वभावसे प्राप्त मात्र होते हैं। यह मल कामके अधीन है। चित्तमें विद्यमान होते हुए भी यह मल तब तक काम नहीं करता, जब तक कि चित्तमें मदन=काम=इच्छा का उदय न हो जाये। साधक लोग इस कामका उदय कभी नादाभ्याससे व्युत्थानकी स्थिति में न हो जाये, इसके लिये 'दम' (इन्द्रियदमन) का, अपने चित्तकी वृत्तियोंके दमनका, आश्रय लिया करते हैं।[1] इस दमपाशको तहस-नहस करने वाला मत्तमातङ्ग कामकरी ही है।[2] इसलिये कविने उसे 'दम-नोदी' (दमको उखाड़ फेंकने वाला) कहा है। मनुष्यकी दृक् और क्रिया (११ ज्ञानकर्मेन्द्रियों) को आच्छादित करने वाले चित्तमलको कविने 'तामिका' कहा है। यह मल चावलपर भूसीके समान है। अर्थात् जब तक मनमें यह मल है, तब तक ही मन रूपी चावल अङ्कुरणमें समर्थ है। इस तुषके हट जानेपर यह अङ्कुरित नहीं हो सकता। अथवा यह मल (तामिका) ताँबे (धातु) पर स्थित मैलके समान है। जबतक धातुपर मैल है, तब तक धातुका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता।[3] नादाभ्यासके कारण यह तामिका भी नष्ट हो जाती है।

प्रकृत श्लोकमें पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें अनुलोम-विलोम भाव सम्बन्ध है। पूर्वार्ध अनुलोम है और उत्तरार्ध उसका प्रतिलोम है। अतः यहाँ **श्लोकार्ध-प्रतिलोम यमक** है। आचार्यने प्रथम पादके अनुलोम **नाधीः स्वा** के प्रतिलोम पाठमें विसर्गको यमकभञ्जक नहीं माना है। भारविने भी (किराता० १५। २२-२३में) विसर्गको यमकभञ्जक नहीं माना है। इसी धारणाकी अभिव्यक्ति वाग्भटने 'अनुस्वार और विसर्ग चित्र अलङ्कारको भङ्ग करने वाले नहीं माने जाते'[4] कहकर की है। वाग्भटके इस कथनमें **'चित्र'** शब्द सभी दुष्कर बन्धोंका उपलक्षक है[5]॥ ७५ ॥

---

१. महानारायणोपनिषत् २२।१ : दमेन दान्ताः किल्बिषमवधुन्वन्ति। दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्। दमो भूतानां दुराधर्षम्। दमे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् दमः परमं वदन्ति।
२. कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ? कुमार० ३।४
३. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थितकालिकावद् वा॥ तत्त्वप्रकाशिका १८
४. नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ। वाग्भटाल० १।२०
५. श्लोक ७८ के पूर्व **'चित्र का अर्थ'** प्रकरण, पृष्ठ ९५, देखें।

(ग) **यानमानय माराविकशोनानजनासना ।**
यामुदारशताधीनामायामायमनादि सा ॥[1] ७६ ॥
साऽदिनामयमायामा नाधीता शरदामुया ।
नासनाजनना शोकविरामायनमानया[2] ॥ ७७ ॥

(ग) वाहन ले आओ। सैंकड़ों उदार पुरुषोंको अधीन करने वाली (अर्थात् दुर्लभ) जिसे हमने पाया है, कामदेव रूपी मेषके लिये चाबुक समान, निस्सत्त्व जनोंको परे हटाने वाली वह मैंने बोल दी है ॥ ७६ ॥

अयन (वर्षार्ध) के मान वाली इस शरद् ऋतुके कारण आधियुक्त, दिन के विपरीत (रातमें) प्रेम व्याधिके मान वाले प्रहरों वाली आसन (सुस्थिरता) की अनुत्पत्ति (बेचैनी) से युक्त वह (सुन्दरी) शोकके अन्त वाली नहीं है। अर्थात् वह हमारे प्रेममें व्याकुल है। जब तक हम नहीं पहुँचते, उसे चैनसे टिकना नहीं मिलने वाला है ॥ ७७ ॥

(७. ग) **श्लोक प्रतिलोमयमक**—यहाँ आचार्य दण्डीने ७६वें श्लोकमें अनुलोम विन्याससे रचना की है। वही विलोम विधिसे पढ़नेपर एक सम्बद्धार्थक ७७वें श्लोकके रूपमें परिणत हो जाती है। ७६वेंके पूर्वार्धके प्रतिलोमसे दूसरे श्लोक के उत्तरार्धकी और उत्तरार्धके प्रतिलोमसे दूसरे श्लोकके पूर्वार्धकी प्राप्तिसे भी यहाँ श्लोकप्रतिलोम सम्पन्न हो सकता है। पर वैसा करनेसे यह दो अर्धोंका प्रतिलोम होगा। अतः दण्डीने उत्तरार्धके प्रतिलोमसे पूर्वार्धकी और पूर्वार्धके प्रतिलोमसे उत्तरार्धकी रचना की है। इससे पूरा श्लोक प्रतिलोम यमकित हो जाता है। भारवि ने (१५।२२-२३) और माघ ने (१९।३३-३४ में) भी इसी प्रकारसे आवृत्ति की है ॥ ७६-७७ ॥

कृष्णेऽप्यकृष्णे मेघेन नभस्यर्धेन्दुना युते ।
अष्टादशे दिने यूल्या मन्दे मन्देन वन्दितः ॥ १ ॥
यमकोदाहृतिग्रामो युगर्षिश्लोकसङ्ख्यकः ।
सोऽयं सप्तदशाहेन व्याख्यातः शास्त्रसम्मतः ॥ २ ॥
भूयस्यै भूतये भूयाद् भूयो मे भवभावनः ।
भवानी हृदये वासाद् भव्यस्य भव काङ्क्षिणः ॥ ३ ॥

---

१. अन्वयः—यानम् आनय। उदारशताधीनां याम् आयाम, माराविकशा, ऊनानजनासना सा अनादि ।

२. अन्वयः—अयन-मानया, अमुया शरदा आधीता (आधि-इता), अदिनाम-यमायामा, आसनाजनना सा शोक-विरामा न ।

कर्के भानाववौ चन्द्र ऐन्द्रयां मार्गोदिते बुधे ।
शुक्रे नभसि धूल्यैव मलिनत्वमुपेयुषि ।। १ ।।

ईर्ष्यादिदोषपोषेण सह स्वान्तेन वै बुधाम् ।
सम्प्रत्याख्याम्यलङ्काँराश्चित्रबन्धान् बुधाप्रियान् ।। २ ।।

अनलम्भाविभिस्त्वार्थ्यां भायां शाब्द्यां प्रभाविभिः ।
आदृतान् कविमन्यैस्तु, काव्ये वर्ज्यान् कवीश्वरैः ।। ३ ।।

वाग्देव्याः प्रीतये सेयं भूयाद् भव्याय पाठिनाम् ।
मम च तुष्टये; सन्तु गुरूणामाशिषो भृशम् ।। ४ ।।

'चित्र' का अर्थ : आचार्य दण्डीने शब्दालङ्कारोंकी रचना **सुकर** और **दुष्कर** दो प्रकारसे बनाई है। उनमें से **यमक** दोनों प्रकारका है। क्रम-विशेषसे पढ़नेपर आकारविशेष का रूप धारण करने वाली चित्र रचना सुकर नहीं हो सकती। स्वर, स्थान और वर्णोंके नियममें बँटा अक्षरनिवेश **सुकर** एवं **दुष्कर** दोनों प्रकारका होता है। आचार्यने ग्रन्थके उपसंहारमें 'सुकर' 'दुष्कर' रचनाओंको '**चित्रमार्ग**' नाम दिया है। इसका अर्थ यह है कि उनकी दृष्टिमें **यमक, बन्ध, अक्षरनिवेशनियम** तथा **प्रहेलिकायें** भी **चित्रमार्ग** वाली शब्दालङ्क्रियाएँ हैं। इस व्यापक अर्थमें 'चित्र' का अर्थ 'विचित्र', 'असाधारण' है। **गोमूत्रिका** आदि बन्धोंमें अक्षरविन्याससे चित्रकर्मके समान कोई आकृति निष्पन्न हो जानेसे बन्धविशेष रूप चित्र अलङ्कारको आकारके कारण चित्र मान लिया गया। कालान्तरमें जिन दुष्कर और सुकर चित्र (अद्भुत) शब्दालङ्कारोंकी कोई सञ्ज्ञाविशेष थी, उनके लिये तो '**चित्र अलङ्कार**' सञ्ज्ञाका प्रयोग बन्द हो गया, जैसे यमक, प्रहेलिकाएँ, शेष के लिये 'चित्र' का प्रयोग 'बन्ध' या '**अलङ्कार**' के साथ सीमित हो गया। इस प्रकार '**चित्र**' शब्द कालान्तरमें मुख्यतया 'आकार' के सादृश्य वाले बन्धोंकी सामान्य सञ्ज्ञा बन गया।

यही कारण प्रतीत होता है कि प्रतिलोम बन्धोंसे कोई आकारविशेष न बननेके कारण आचार्यने उनका समावेश चित्रबन्धोंमें नहीं किया। वर्ण-निवेशनियम नहीं होनेसे उस भेदमें भी नहीं किया। एवं प्रहेलिकाका स्वरूप उनमें न होनेसे उन्हें प्रहेलिकाओंमें भी सम्मिलित नहीं किया। पाद, अर्ध या श्लोकमें प्रयुक्त वर्णसमुदायकी प्रतिलोम आवृत्तिसे सजातीय या विजातीय प्रकारका पाद, अर्ध या श्लोक उपलब्ध हो जानेसे उन्होंने इसे आवृत्तिसाम्यके

कारण यमकमें सम्मिलित किया है। इस प्रकार दण्डीके मतमें यमकके दो भेद हैं : (१) सुकर-दुष्कर भेदात्मक अनुलोम यमक; (२) दुष्कर प्रतिलोम यमक। ये दोनों ही प्रकारके यमक सामान्य शब्दालङ्कार अनुप्राससे वैचित्र्य के कारण **'चित्र'** मार्गकी रचनामें आते हैं।

आचार्य रुद्रटने दण्डीद्वारा 'चित्र' का **'चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः'** से सङ्केतित यह अर्थभेद स्पष्टतः प्रकट किया है। उन्होंने इसमें अपनी दृष्टिसे कुछ परिवर्तन किये हैं। तद् यथा— (१) तुल्यश्रुति, तुल्यक्रम (अनुलोम) वर्णोंकी सुकर, दुष्कर आवृत्ति 'यमक' होती है,[1] (२) जिस प्रकारके वर्ण-विन्याससे किसी वस्तु (द्रव्य) का कोई विचित्र रूप निष्पन्न होता है, वह वर्णविन्यासप्रकार (क) किसी वस्तुके आकारका चित्र प्रस्तुत करनेके कारण तथा (ख) इस प्रकारके बन्धकी असाधारणता, अद्भुतता, वैचित्र्यके कारण 'चित्र' अलङ्कार कहाता है। यह अलङ्करण शब्द (वर्णसमुदाय) के माध्यम से प्राप्त होता है, इसलिये यह 'शब्दालङ्कार' है।[2] प्रतिलोम वर्णविन्यासमें वर्णोंका क्रम तुल्य नहीं रहता, अतः रुद्रटके मतमें वह 'यमक' नहीं है;[3] (२) वर्णविन्यासकी विचित्रता होती है, अतः वह 'चित्र' अलङ्कार है।

महाराज भोजने (१) वर्णों, (२) उच्चारणस्थान, (३) स्वरों, (४) आकार, (५) गति (अनुलोम-प्रतिलोम पाठ) तथा (६) बन्धोंको लेकर जो नियम होता है, उसे 'चित्र' कहा है।[4] स्पष्ट है कि भोजके इस कथनमें (क) आकारगत चित्रता छह प्रकारोंमेंसे एक है; शेष प्रकारोंमें (ख) विचित्रतोपनिबन्धना चित्रता ही है। (ग) भोजने प्रतिलोम चित्रताके विषयमें दण्डीका मत न मानकर रुद्रटका अनुसरण किया है, यह भी स्पष्ट है।

रत्नेश्वरमिश्रने चित्रके अर्थपर निम्नलिखित विचार किया है : (१) कश्मीरी आचार्य चित्र जैसे निर्जीव होता है, वैसे ही ध्वनिरूप प्राणभूत

---

१. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकम्···॥ काव्याल० ३।१

२. भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि (क) वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि (ख) विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥ काव्याल० ५।१

३. नमिसाधुटीका ३।१ : 'क्रम'-ग्रहणात् (i) प्रतिलोमानुलोम-(ii-iii) सर्वतोभद्रानुप्रासादीनां यमकत्वनिरासः।

४. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्, तद् बुधैः षोढा 'चित्रम्' इत्यभिधीयते॥ सरस्वती० २।१०९

(१) **वर्णानामेक-रूपत्वं　　यद्येकान्तरमर्धयोः ।**
गो-मूत्रिके**ति तत् प्राहुर्दुष्करं तद्विदो, यथा** ॥ ७८ ॥

(१) दो अर्धों (श्लोकके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध)में (परस्पर) एकेक वर्णका अन्तर करके अगर वर्णोंमें एकरूपता रहती है, तो उस दुष्कर एकरूपताको दुष्करके जानकार लोग 'गो-मूत्रिका' कहते हैं । जैसे—॥ ७८ ॥

तत्त्वसे रहित होनेके कारण इस प्रकारके वर्णविन्यासको 'चित्र' कहते हैं । (२) आकृतिविशेषसे युक्त होनेसे यह चित्र होता है । (३) आश्चर्यकारी होनेसे यह चित्र कहलाता है ।[1]

निष्कर्षः (१) दण्डी और भोजके मतमें अलङ्कारोंकी चित्रताका आधार आश्चर्यकारिता है, आकार नहीं, और न ही इन दोनोंका यथायोग्य समन्वय है । (२) रुद्रटने आकार और वैचित्र्यको यथायोग्य रूपमें चित्रताका प्रयोजन माना है । (३) औदीच्य आचार्योंमें ध्वनिवादी आचार्योंका मत आकार-सादृश्यसे चित्रत्व माननेका ही विस्तार है ।

विचित्र निबन्धन वाले चित्रालङ्कारोंमें से (१) 'यमक' के सुकर और दुष्कर भेदोंका निरूपण दण्डी जितने व्यवस्थित और समग्र रूपमें सम्भवतः किसी अन्य अलङ्कारशास्त्रीने नहीं किया है । (२) आकारवैचित्र्यनिबन्धन वाले चित्र शब्दालङ्कारोंमेंसे आचार्यने केवल (i) गोमूत्रिका, (ii) अर्धभ्रमक, तथा (iii) सर्वभ्रमण सर्वतोभद्र बन्धोंका निरूपण अन्य बन्धोंके उपलक्षणार्थ (७८-८२ में) किया है । (३) स्वर, स्थान और व्यञ्जनोंके नियमके वैचित्र्य वाले **चित्र** वर्णनियम शब्दालङ्कारका निरूपण भी उपलक्षणार्थ ८३-९५ श्लोकोंमें १२ उदाहरणोंसे किया है ।[2]

(१) **गोमूत्रिका दुष्कर बन्ध**—श्लोकके चार पाद दो अर्धोंमें निबद्ध होते हैं । प्रथम और द्वितीय पादोसे पूर्वार्ध बनता है और तृतीय एवं चतुर्थ

---

१. रत्नदर्पण २।१०९ : (१) 'चित्रम् = आलेख्यम् । तदिव जीवितस्थानीय-ध्वनिरहितं चित्रम् ।' इति काश्मीरकाः । तदसद्—ध्वनेः प्राधान्या-नङ्गीकारात् प्रतीयमानमात्राभावस्य क्वचिदप्यसम्भवात् । (२) यद् वा 'आकृतिविशेषयुक्तं चित्रम्' इति । तदपि न, अव्यापकत्वात् । (३) अतो 'वर्णादिनियमेन प्रवृत्तमाश्चर्यकारितया चित्रम्' इत्येव युक्तम् ।

२. **चित्रबन्धोंके भरपूर प्रदर्शनके लिये प० हृषीकेश चतुर्वेदीकी हृषीकेश-ग्रन्थावली देखें ।**

मदनो मदिराक्षीणामपाङ्गास्त्रो जयेदयम् ।
मदेनो; यदि तत् क्षीणमनङ्गायाञ्जलिं दधे[1] ॥ ७९ ॥

मादक नयनों वालियोंके अपाङ्ग (कटाक्ष) रूपी अस्त्र वाला यह मदन (मस्त, मदहोश बना देने वाला कामदेव) मेरे पापको जीत ले। अगर वह (पाप) क्षीण हो जाये, तो मैं देहरहित (कामदेव) को अञ्जलि प्रदान करता हूँ ॥ ७९ ॥

पादोंसे उत्तरार्ध। इन दोनों अर्धोंमें पूर्व और उत्तर अर्धोंमें क्रमशः एकेक वर्णका व्यवधान करके ऊपर-नीचे, वर्णोंको एक क्रममें रखनेसे वही वर्ण-विन्यास निष्पन्न होता है, जो मिश्रित होने वाले पादोंका है। बैलकी मूत्र-धाराके समान ऊपर नीचे गति करनेसे गोमूत्रका आकार बन जानेसे, उसके सादृश्य वाला यह चित्र बन्धन 'गोमूत्रिका बन्ध' कहलाता है। गोमूत्रिकाके आकारकी निष्पत्तिके लिये पृथक् प्रयत्नसे निष्पाद्य होनेके कारण यह बन्ध दुष्कर है ॥ ७८ ॥

(१) **गोमूत्रिका चित्र बन्धका उदाहरण—'मदनो मदिराक्षीणा०'** (७९) में कविने किसी मादक नयनों वाली सुन्दरीके नयनशरोंसे आहत युवाकी विप्रलम्भ रतिका चित्रण प्रकृत श्लोकमें किया है। वह युवा सुन्दरीके कटाक्षरूपी विकट शरको कामदेवका अस्त्र समझता है। वह प्रार्थना करता है कि इस अलौकिक अस्त्रसे कामदेव उसके इस पापको नष्ट कर दे, जिसके कारण उसका अपनी प्रियासे सङ्गम नहीं हो पा रहा है। यदि युवाका वह पाप कामदेवने क्षीण कर दिया, और उसे उसकी प्रियाका सङ्गसुख प्राप्त हो गया, तो वह कामदेवको प्रणामाञ्जलि प्रदान करेगा।

यहाँ **'एनस्'** (पाप) को जीतने (**जयेत्**) की अपेक्षा वादिप्रोक्त **'दहेत्'** पाठ अधिक उचित है। इसी प्रकार 'अञ्जलि देने' से 'जलाञ्जलि' या 'तिला-ञ्जलि' देना व्यक्त होता है, जो 'अनङ्ग' कहनेसे कामकी मृत्युका अनिष्ट अर्थ सूचित करता है। अतः 'ददे'के स्थानपर 'दधे' उचित है: धारण प्रणामाञ्जलिका मस्तकसे होता है; यही अभीष्ट है।

'मदिराक्षीणाम्' का सम्बन्ध समस्त पद **'अपाङ्गास्त्रः'** (तत्पुरुषगर्भित बहुव्रीहि) के अवयव 'अपाङ्ग' से उसी तरह है, जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' वाक्यमें देवदत्तका सम्बन्ध 'गुरुकुल' समुदायके अवयव गुरुके साथ अवयवीसे सम्बन्धके माध्यमसे अवयवसे सम्बन्धके रूपमें होता है।

---

१. 'तरुण० : ० स्त्रं। वादिटीका : '० स्त्रं जयन्दहेत्।' इति पाठः। 'ददे' को पाठभेद तथा 'दधे' को स्वीकृत पाठ माना है।

(२) प्राहुरर्धभ्रमं नाम श्लोकार्ध-भ्रमणं यदि ।
(३) तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ॥ ८० ॥

(२) अगर श्लोकके अर्धोंका भ्रमण होता है, तो 'अर्धभ्रम' नामक चित्रबन्ध कहते हैं। (३) अगर सब दिशाओंमें भ्रमण हो, तो वह 'सर्वतोभद्र' इष्ट है ॥ ८० ॥

यहाँ पूर्व वर्ण पूर्वार्धका एवम् उत्तर वर्ण उत्तरार्धका, फिर पूर्वार्धका, फिर उत्तरार्धका इस प्रकार एकेक अक्षर छोड़कर लेनेसे उत्तरार्धका ही पाठ निष्पन्न होगा। उत्तरार्धका पूर्व वर्ण और पूर्वार्धका उत्तरवर्ण लेनेसे श्लोकका पूर्वार्ध ही निष्पन्न होता है। इस प्रकार ऊपर नीचेका और नीचे ऊपरका वर्ण लेनेसे गोमूत्रधाराका सा आकार बनता है। अतः इसे 'गोमूत्रिका चित्रबन्ध' कहते हैं।

द म रा णा पा स्त्रो ये यम्
Λ V V V V V V
म नो दि क्षी म ङ्गा ज द
V Λ Λ Λ Λ Λ Λ
दे य तत् ण न याज् लिं धे ॥ ७९ ॥

(२) **अर्ध-भ्रम चित्र बन्ध**—श्लोकके चारों पादोंको चार पङ्क्तियोंमें लिख लें। चारों पङ्क्तियोंके प्रथम अक्षरोंको ऊपरसे नीचेकी ओर पढ़नेपर आठ पादार्ध बन गये। अब प्रथम और अन्तिम पङ्क्तिको पढ़नेसे श्लोकका पहला पाद निष्पन्न होगा, द्वितीय और सप्तमसे दूसरा, तृतीय तथा षष्ठसे तीसरा एवं चतुर्थ तथा उसके बाद पञ्चम अक्षरोंको ऊपरसे नीचेकी ओर पढ़नेसे चौथा पाद निष्पन्न होगा। इसे ही 'अर्ध-भ्रमक' कहते हैं।

(३) **सर्वतो-भद्र चित्र बन्ध**—यदि श्लोकके घटक वर्णोंका ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर, दायेंसे बाएँ और बायेंसे दायें सब दिशाओंमें भ्रमण होनेसे श्लोक अव्याहत रहता है, तो इसे 'सर्वतो-भद्र' विचित्र बन्ध कहते हैं। इस प्रकार सब दिशाओंमें भ्रमणके लिये श्लोकके चार पादोंको अर्धभ्रमके समान चार पङ्क्तियोंमें लिखनेके बाद उन्हीं पादोंको चार पादोंमें नीचेसे ऊपर की ओर अर्धभ्रमसे व्युत्क्रम करके लिखा जाता है। इस प्रकार अनुष्टुप्के ६४ अक्षरोंको ६४ कोष्ठकोंमें लिखनेपर चाहे जिधरसे पढ़ें, आठ अष्टकोंसे चार पाद अनुलोम विधिसे और चार पाद प्रतिलोम विधिसे निष्पन्न होकर श्लोक पूरा हो जाता है। इस वैचित्र्यके कारण यह बन्ध 'चित्र' भी हो जाता है, दुष्करता तो स्वतः स्पष्ट है ही। कोषोंमें इसे 'काव्यचित्र' कहा है।[1]

---

१. सर्वतोभद्र इत्युक्तः काव्यचित्रे, गृहान्तरे। मेदिनीकोष २८।३०८

(२) **मनोभव, तवानीकं नोदयाय न मानिनी।**
भयादमेयामामावा वयमेनोमया नत ॥ ८१ ॥

(२) हे मनमें होने वाले (कामदेव), मानवती सुन्दरी रूपी तुम्हारी सेना उदय (विजय) में समर्थ नहीं, ऐसा नहीं है। हे निकृष्ट, (उसके) भयसे अपरिमेय विरहज्वरसे बँधे हुए हम पापी हैं (जो मिलन नहीं हो पा रहा है) ॥ ८१ ॥

कर्मकाण्डमें 'सर्वतोभद्र' मण्डलके समान कोष्ठबन्धके कारण इसे यह नाम दिया गया है ॥ ८० ॥

(२) **अर्ध-भ्रम चित्र बन्ध**—इस श्लोकमें कविने किसी प्रेमीकी विप्रलम्भ-रतिका वर्णन उसके द्वारा कामदेवको उलाहना दिलानेसे किया है : काम-देवकी सुन्दरी रूपी सेना बड़ी मानिनी (हठीली) है; वह जिसे पराजित करना धार ले, उसे पराजित किये बिना चैन नहीं लेती; हमेशा सफल रहने के कारण भी उसे बड़ा मान है। इस प्रकारकी यह सेना कामदेवके लिये उदयकारी (विजयदायिनी) न हो, यह सम्भव नहीं है। वह मुझसे रूठी है। यह हमारा ही पाप है कि हम उस सेनाके भयसे अपरिमित आम (रोग, पीड़ा, प्रेम ज्वर) के बन्धनमें जकड़े बैठे हैं। हे काम, तुम बड़े निकृष्ट (नत) हो, जो इस प्रकार पीड़ा दे रहे हो।

अमेयामामावा:—अमनम् आमः, अम रोगे (भ्वादि०), भावे घञ्। अमेयः मातुं न शक्यश्चासावामः अमेयामः। आ समन्तात् मनसि, बुद्धौ, सर्वाङ्गेषु च भवनं **भावः** बन्धनम् **आभावः**। **अमेयामस्य आभावः** (षष्ठी तत्पुरुष) **अमेयामाभाव** एषामिति **अमेयामाभावाः** (मत्वर्थीय अच्)।

१	३	५	७	८	६	४	२
म	नो	भ	व	त	वा	नी	कं
नो	द	या	य	न	मा	नि	नी।
भ	या	द	मे	या	मा	मा	वा
व	य	मे	नो	म	या	न	त॥

(३) सामायामामा या मासा मारानायायाना रामा ।
यानावारारावाऽऽनाया मायारामा मारायामा ।।[२] ८२ ।।

(३) वह सुन्दरी मधुमासके कारण (मास) मापसे रहित (अम) विस्तार (आयाम) वाले रोग (आम) से युक्त (सामायामा) है, जो कामदेव (मार) के जाल (आनाय) में आगमन (आयान) से युक्त है, प्रियतमको गमन (यान) से रोकने (आवार) की गुहारों (आराव) वाली, प्राणों (आन) को नहीं प्राप्त करने वाली (अ-या, अर्थात् प्रेमकी अत्यन्त तीव्र अवस्थामें स्थित होनेके कारण मरणके निकट पहुँची हुई, आनाया) है। लीलाओं (मायाओं) से आनन्दित करने वाली (रामा) काम (मार) के विस्तार (आयाम) से युक्त हो गई है ।। ८२ ।।

डा० श्री धर्मेन्द्रकुमार गुप्तने उपर्युक्त सम्पूर्ण चित्रको उल्टा करके भी, उक्त क्रमसे ही, इससे पादोद्धार किया है।[२] पर इसमें लिपिको ऊर्ध्वमुख करके लिखनेके अतिरिक्त कोई वैचित्र्य नहीं है। यों तो अगर वर्णोंको तिरछा करके लिख दिया जाये, तब भी तिरश्चीन चित्र बन जायेगा। वह भी दक्षिणामुख और उत्तरामुख दो प्रकारका हो सकता है। अतः यह सब व्यामोह मात्र है ।। ८१ ।।

(३) **सर्वतो-भद्र चित्र बन्ध**—बयासीवें श्लोकमें कविने किसी सुन्दरीकी प्रेमपीरका वर्णन अनुष्टुभ् जातिके **विद्युन्माला** छन्दमें किया है। पीड़ाके आयामके वर्णनके लिये सर्वदीर्घाक्षर यह छन्द, उपयुक्त है।

इसे आगे (८७वें श्लोकके रूपमें ११० पृष्ठ पर) स्वरनियमके उदाहरणमें भी दिया गया है। यहाँ यह सर्वतोभद्र मण्डलके आकारवाली विचित्र रचना (चित्र बन्ध) के उदाहरणके तौरपर दिया गया है। इसके निबन्धनमें **व्यपेत पादाद्यन्त प्रतिलोम यमक** तथा **अव्यपेत पादमध्य प्रतिलोम यमकका** उपयोग होता है। परन्तु प्रतिलोम रचना उपाय है सर्वतोभद्र आकारकी प्राप्तिका। अतः मुख्य चित्रता सर्वतोभद्रके कारण होनेसे यह उदाहरण उसीका माना जायेगा। इसी प्रकार दीर्घाक्षर नियम भी सर्वतोभद्रके अङ्गके रूपमें ही शोभायुक्त है। अतः यहाँ **प्रतिलोमयमक** चित्रालङ्कार, **स्वरनियम** चित्रालङ्कार और **सर्वतोभद्र** चित्रालङ्कार, इन तीनों शब्दालङ्कारोंका **सङ्कर** है। अङ्गाङ्गि-

---

१. काव्यादर्श, सुदर्शना, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, पृष्ठ ३३२।

२. अन्वय : सा रामा अमायामामा, या मासा मारानायायाना, यानावारा-रावाना-या। माया-रामा मारायामा।

३. यः (१) स्वर-(२) स्थान-(३) वर्णानां नियमो, दुष्करेष्वसौ ।
इष्टश्चतुःप्रभृत्येषु दर्श्यते; सुकरः परः ॥ ८३ ॥

३. (१) स्वरों, (२) उच्चारण-स्थानों (३) वर्णों (व्यञ्जनों) की जो व्यवस्था होती है, वह चार आदि/तक सङ्ख्यामें दुष्कर रूपमें अभीष्ट है। उससे भिन्न, अर्थात् अधिक सङ्ख्यामें, नियम सुकर होता है। (इष्टसे) पर (अन्य, अर्थात् अनिष्ट) है ॥ ८३ ॥

भाव सङ्कर दो हैं: (१) प्रतिलोमयमक और सर्वतोभद्रका; (२) स्वर-नियमचित्रालङ्कार और सर्वतोभद्रका। यमक और स्वरनियम चित्रोंकी संसृष्टि एक है। इस बन्धकी दुष्करता स्पष्ट है।

सा मा या मा मा या मा सा
। मा रा ना या या ना रा मा।
या ना वा रा रा वा ना या
॥ मा या रा मा मा रा या मा॥
॥ मा या रा मा मा रा या मा॥
या ना वा रा रा वा ना या
। मा रा ना या या ना रा मा।
सा मा या मा मा या मा सा ॥ ८२ ॥

३. **वर्णनियमवान् चित्र बन्ध**—(१) वर्णोंकी आवृत्तिसे **अनुप्रास**, (२) वर्णसमुदायकी सुकर, दुष्कर, अनुलोम, प्रतिलोम आवृत्तियोंसे **यमक**, (३) वस्तुविशेषके स्वरूपको प्रकट करने वाले वर्णविन्याससे आकारबन्धके रूपमें तीन प्रकारके चित्र (रचनाविधानकी दृष्टिसे विचित्र, आश्चर्यकारी) शब्दालङ्कार बतानेके बाद आचार्य दण्डी अब ८३-९५ में वर्णोंके व्यवस्था-युक्त, नियमित, प्रयोगसे होनेवाली शब्दलभ्य शोभाके विधायक अलङ्कारका निरूपण कर रहे हैं। रचनाविधानकी दृष्टिसे यह व्यवस्थित निबन्धन भी असाधारण है, अद्भुत है, अतएव चित्र है।

वर्णोंकी व्यवस्थासे लभ्य यह अलङ्कार वर्णोंके दो प्रकारों—स्वर और व्यञ्जन तथा उन दोनोंके भी आधार उच्चारणस्थानका नियत स्वरूप तथा सङ्ख्यामें प्रयोग करनेपर निर्भर करता है। 'स्वर' और 'व्यञ्जन' दोनोंसे सम्बद्ध होनेके कारण आचार्यने 'स्थान' का निर्देश मध्यमें किया है।

(१) **स्वरनियमवान् चित्र बन्ध**—उच्चारण स्थानके भेदसे भिन्नताको प्राप्त करने वाले अकार, इकारादि स्वर मात्रा, नासिक्यानासिक्यताके कारण अवान्तर भेदोंसे युक्त हैं। लौकिक भाषामें उदात्तादि बलाघातरूप स्वरोंकी पहचान वैदिक कालके उतारसे ही नहीं रही है। अतः उनके कारण सम्पन्न स्वरभेद यहाँ अपेक्षित नहीं है।[1] अवान्तर भेदोंको दृष्टिमें न रखकर मुख्यतया (स्थानभेदके कारण) भिन्न स्वरोंका श्लोकमें यदि किसी नियमसे, व्यवस्थासे, प्रयोग होता है, तो यह स्वरनियम होता है। आचार्यका कहना है कि स्वरोंकी सङ्ख्या यदि एक पादमें एक स्वरकी दृष्टिसे चार तक रहती है, तो चारों पादोंमें एक स्वर दो अर्धोंमें एकेकके हिसाबसे, दो स्वरों, चारों पादोंमें मिले-जुले या क्रमिक तीन स्वरों और चार पादोंमें एकेक करके चार स्वरों तकके प्रयोग वाले बन्ध दुष्कर ही होंगे।

आचार्यकी चिन्तनपरम्पराको देखते हुए इस व्यवस्थामें और प्रकार भी उपलक्षित समझने चाहिये।

स्वर (१) कण्ठ्य, (२) तालव्य, (३) ओष्ठ्य और (४) मूर्धन्यके भेद से शुद्ध अवस्थामें अ, इ, उ, ऋ चार हैं। इन्हें शिक्षाशास्त्रमें 'समानाक्षर' (simple vowels) कहा जाता है। कण्ठ और तालु तथा कण्ठ और ओष्ठ दो-दो स्थानोंमें निष्पन्न होनेसे ए, ऐ ओ तथा औ भी चार हैं। इन्हें 'सन्ध्य-क्षर' (diphthongs) कहा जाता है। यों तो दन्त्य 'लृ' भी समानाक्षरोंमें संस्कृतमें किसी समय था। पर बहुत प्राचीन कालसे ही वह √ क्रृप् के एक रूप √क्लृप् के ही कुछ शब्दोंमें सीमित है।[2] वस्तुतः यह मूर्धन्य अक्षरोंके

---

१. वादीजीने 'स्वर' के विवरणमें यहाँ उदात्तानुदात्तस्वरितके भेदसे भिन्नता की चर्चा की है। वह शास्त्रकी दृष्टिसे भले ठीक हो, पर प्राप्तिकी दृष्टिसे ठीक नहीं है।

२. ऋक्प्रातिशाख्य १।१३ : अष्टौ समानाक्षराण्यादितः। ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि। एते स्वराः। ६ : सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव। १३।३४-३५ : रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्धे पूर्वे ह्रसीयांस्तु न वेतर-स्मात्। मध्ये सः ॥ तस्यैव लकारभावे धातौ स्वरः कल्पयताव्लृकारः ॥ सन्ध्यानि सन्ध्यक्षराण्याहुरेके; द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु ॥ ३८ सन्ध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुकार इति शाकटायनः ॥ ३९ मात्रासंसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती ('अवरे पृथक् श्रुती' इति वा योजना) ॥४० ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत् परे ॥ ४१

दन्त्यीकरणकी पुरानी प्रकृत प्रावृत्तिको संस्कृतमें स्वीकारनेकी दिशामें ही एक प्रयास था, जो अन्तस्थके स्तरपर तो पनपा, पर स्वरके स्तरपर नहीं पनप पाया। इसे ही **'रलयोरभेदः'**, **'डलयोरैक्यम्'**, **'ऋ-लृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्'**[1] (अष्टा० पर वार्तिक) के रूपमें कहा गया है।

(२) **स्थाननियम चित्रबन्ध**—जब कवि अपनी रचनामें एक ही स्थानसे उच्चार्य स्वरों और व्यञ्जनोंका प्रयोग करता है, तब काव्य स्थाननियमके कारण श्रव्य शोभासे युक्त हो जाता है।

(३) **वर्णनियमवान् चित्रबन्ध**—शिक्षावेदाङ्गके अनुसार यद्यपि 'वर्ण' शब्द पदकी घटक ध्वनिके लिये प्रयुक्त है, जो 'स्वर' और 'व्यञ्जन' दो प्रकारकी है, पर 'स्वर' के साहचर्यसे यहाँ यह पारिशेष्य नियमसे 'व्यञ्जन' अर्थमें है। स्वरनियमके समान ही यह भी पूरे श्लोकमें एक वर्ण, दो वर्ण, तीन वर्ण और चार वर्ण तक तो कवियोंको चारुत्वनिबन्धनके रूपमें अभीष्ट हैं। जितने अधिक वर्णोंका प्रयोग होगा, वह बन्ध उतना सुकर होता जायेगा। दुष्करको प्रेम करने वाले कविमल्लोंको उसमें अपनी सामर्थ्य दिखानेका अवसर नहीं मिलता। अतः वह इष्ट नहीं है।

आचार्यने इन तीनों प्रकारोंका प्रदर्शन चार-चार उदाहरणोंसे किया है। अत एव लक्षणवाक्यमें **'चतुः-प्रभृति'** का अर्थ अधिकतम सङ्ख्या ४ ही टीकाकारोंने बताई है। किन्तु **वर्णनियम**के क्रममें प्रदत्त प्रथम उदाहरण (९२) में नियत **स्वर, व्यञ्जन** और दोनोंके **स्थानों**की सङ्ख्या पाँच-पाँच है। अतः 'चार' की सङ्ख्या इयत्ताकी अवधि नहीं बताती है, जैसा कि तरुणवाचस्पतिने माना है, अपितु यहाँ 'प्रभृति' शब्द 'आदि' अर्थमें है। श्लोककी संयुक्त अक्षरसङ्ख्यामें चार-पाँचसे अधिक स्वरों, व्यञ्जनों अथवा इनसे अधिक स्थानोंसे उच्चार्य वर्णोंसे श्लोककी रचना होगी, तो चारुत्व कम होता जायेगा। अतः **'चतुः-प्रभृति'** उपलक्षक है अमहती सङ्ख्याका। जितने ही कम स्वरों, स्थानों और व्यञ्जनोंका नियमन होगा, काव्य उतना ही अधिक दुष्कर होगा। सङ्ख्या जितनी बढ़ती जायेगी, दुष्करता उतनी कम होती जायेगी और परिणामतः चित्रता भी। **'चतुः-प्रभृति'** में अवधिवाचक शब्द न देनेसे तथा चारसे अधिकका नियमन ९२वें श्लोकमें प्रस्तुत करनेसे आचार्यका यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

---

१. इस वार्तिकके खण्डनार्थ **कृपो रो लः**, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिपर हमारी भवतोषिणी, पृष्ठ ५२४ देखें।

(१.१) आम्नायानामाहान्त्या वाग् गीती रीतीः, प्रीतीर्भीतीः ।
(१.१) शास्त्रोंका निष्कर्ष रूप वाणी (दर्शन शास्त्र) गाना बजाना

तत्त्वं वेत्ति स्वयं दण्डी, के वयं मन्द-धी-हताः ?
युक्तिसोपानमाश्रित्य गम्यते महतां मनः ॥

इन सब विधाओंका प्रयोग दण्डीसे पूर्वके किसी काव्यमें उपलब्ध नहीं है । किरातार्जुनीयमें (३) **चतुर्वर्ण**नियम (१५।५में), **द्विवर्ण**नियम (३८में), **एकवर्ण**नियम (१५) उपलब्ध हैं । (२) **स्थाननियम** (७ और २९ में) एक अन्य प्रकारसे (किसी एक स्थानविशेषसे उच्चार्य वर्णोंका प्रयोग न करके) ओष्ठ्य वर्णोंके बहिष्कारसे उपलब्ध है । यहाँ तो दो श्लोकोंमें ओष्ठय वर्णोके बहिष्कारकी बात है, दण्डीने तो पूरे एक उच्छवासमें ओष्ठ्य वर्णोंका बहिष्कार इसलिये किया है, क्योंकि उसमें वक्ता नायकका ओंठ उसकी ललित वल्लभाने प्रेमोन्मादमें इतने जोरसे काटा कि वह ओष्ठ्य स्वरों और व्यञ्जनोंका उच्चारण नहीं कर सकता था ।[1] माघने (१९वें) सर्गमें चित्र-बन्धोंका प्रारम्भ ही **चतुर्वर्णनियमसे** (१९।३में) किया है । द्वचक्षर श्लोक ६६, ८४, ८६, ९४, ९८, १००, १०४, १०६, १०८ में तथा एकाक्षर श्लोक ११४ में हैं । (२) **स्थाननियम** के माघने दो श्लोक दिये हैं : निरोष्ठ्य श्लोक (११), अतालव्य श्लोक (११०) ।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि दण्डीका निरूपण प्रयोगोंमें उपलब्धिपर ही आधारित नहीं है; अपितु उन्होंने इस प्रकारके निबन्धनकी विवेचना शास्त्र-कारसे अपेक्षित मर्यादा एवं गरिमाके साथ स्वतन्त्र ऊहके रूपमें की है । उनके आसपासके भामह, उद्भट आदि आचार्य दृष्टिकी सूक्ष्मता, विशालता, मर्मस्पर्शिता, एवम् पदार्थके सौन्दर्यको अधिकसे अधिक आयामोंमें देख सकने की क्षमतामें दण्डीके कहीं आसपास भी नहीं ठहरते । एकमात्र अपवाद पहले मुनि भरत और बादमें आनन्दवर्धन हैं ॥ ८३ ॥

(१) **स्वरनियम चित्रबन्ध**—(१) **स्वरचतुष्टयनियम** : इस श्लोकमें कविने **विद्युन्माला** छन्दमें प्रथम पादमें 'आ' स्वरका, द्वितीयमें 'ई' का, तृतीय में 'ओ' का और चौथे पादमें 'ए' का प्रयोग आठ-आठ बार किया है । इस

---

१. दशकुमारचरित, छठे उच्छ्वासका अन्त : स (मन्त्रगुप्तः) किल कर-कमलेन किञ्चित् संवृताननो, ललित-वल्लभा-रभस-दत्त-दन्त-क्षत-व्यसन-विह्वलाधर-मणिर् निरोष्ठ्य-वर्णमात्म-चरितमाचचक्षे ।

भोगो रोगो, मोदो मोहो, ध्येये वेच्छेदेशे क्षेमे[1] ।। ८४ ।।

आदिको बह जाना[2] (तथा) प्रीतियोंको भय (बन्धनका कारण) कहती है। (विषयोंका) भोग रोग (पीडाका मूल) है। (विषयोंमें) हर्ष (अथवा हर्ष शोक आदि द्वन्द्व) मोह (बुद्धिपर पड़दा डालने वाला होता) है। (इनके) विकल्पमें (सबका मूल) इच्छा क्षेम (कल्याणकारी) 'ई' लक्ष्मीके देश (श्रीनिवास विष्णु) में स्थापित करनी चाहिये ।। ८४ ।।

प्रकार एक पादमें एक ही स्वरका प्रयोग करनेसे यहाँ **'एकस्वर पादबन्ध'** निष्पन्न हुआ है। श्लोकके चार पादोंमें चार स्वरोंका इस प्रकार व्यवस्थासे प्रयोग होनेके कारण इसे **'स्वरचतुष्टयनियमवान् चित्र बन्ध'** कहा है। मिले-जुले रूपमें चार स्वरादिके प्रयोगसे भी ये स्वरनियमादि वन्ध बन सकते हैं। पर वे नादसौन्दर्य कम उत्पन्न करनेके कारण उतने सुन्दर नहीं होंगे। किन्तु यदि ये स्वरादि किसी एक व्यवस्थासे प्रयुक्त होते हैं, तो नादसौन्दर्य उत्पन्न करनेके कारण ऐसा बन्ध भी सुन्दर लगेगा। अतः नियमसे केवल संख्या ही अभीष्ट नहीं है, व्यवस्था भी इष्ट है। उदाहरणार्थ ३।९३ देखें।

यहाँ कविने कल्याणकामीको कल्याणका मार्ग शास्त्रके प्रमाणसे बताया है। आस्तिक हो, चाहे नास्तिक, सभी शास्त्रों (आम्नायों) का यह अन्तिम निचोड़ है कि गाना, बजाना, नृत्य आदि आमोद-प्रमोदके साधन प्रेम-व्यापार, विषयभोग, वस्तुतः दुःखकारी हैं। इन सबमें आनन्दकी बुद्धि, एक प्रवाह है, जो मनुष्यको बहा ले जाता है। वह भयका सबसे बड़ा कारण है। वस्तुतः यह मनका एक रोग है, मोह है। इस लिये ये सब हेय हैं। मनुष्यको इच्छाएँ दो ही रखनी चाहियें : (१) देशमें, अर्थात्, तीर्थ, विद्वद्गोष्ठी आदि में और (२) क्षेममें, अर्थात्, मङ्गलमें, जिससे मनुष्यके दुःख समाप्त हों, ऐसे आचरणमें। क्षेम विष्णुको चाहने (भक्ति) से या ई (लक्ष्मी माया) के द (खण्डक ज्ञान) से ई (मायापर) श (विराजने वाले ब्रह्म) से हो सकता है।

---

१. सरस्वतीकण्ठा० २।२८१में धृत तथा रत्नदर्पण और वादिटीकामें व्याख्यात पाठ 'ध्येये वेच्छेत् क्षेमे देशे' है। रत्नदर्पणमें 'चेच्छेत्' अन्यसम्मत पाठ बताया है। रत्नश्रीमें यही है। वादि-तरुणटीकाओंमें 'इव' की व्याख्या की गई है। रत्नश्रीमें 'इच्छेत्' की व्याख्या नहीं है 'इच्छे'की है। वादीजीने और भी पाठान्तर बताया हैः इच्छे देवेति द्वे द्वे, इति च पाठान्तरम्। सही पाठका निर्णय करना दुष्कर है।

२. अमरकोष ३।३।६८ : प्रचार-स्यन्दयो रीतिः। कुछ लोगोंने 'ईतीः' पद-च्छेद करके इसे 'उपद्रव' अर्थमें पर्यवसित किया है।

(१.२) क्षिति-विजिति-स्थिति-विहिति-व्रत-रतयः, पर-मतयः ।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥८५॥

(१.२) पृथ्वीको जीतने और मर्यादा (व्यवस्था) के विधान रूपी व्रतमें प्रसन्न रहने वाले, उत्कृष्ट सूक्ष्म विषयोंमें समझ वाले (अथवा उत्कृष्ट समझ वाले) कौरवोंने अपने शत्रुसमूहको खूब रुद्ध (बसमें) किया और युद्धमें जोरसे हिला डाला ॥ ८५ ॥

अन्य प्रकारसे पदच्छेद भी हो सकते हैं। 'आम्नायोंकी अन्तिम वाणी' से टीकाकारोंने वेदान्त, उपनिषद अर्थ लिया है। पर जब यह सिद्धान्त सर्वसम्प्रदायसम्मत, सार्वभौम, है, तो इसे केवल वेदान्तसे जोड़कर सीमित क्यों किया जाये ? अतः 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद'न लेकर 'सम्प्रदाय' उचित है।[1]

द्वितीय पादके 'गीतीः' आदि पद 'आह' क्रियाका उद्देश्य और विधेय होनेसे कर्मणि द्वितीयान्त हैं। तृतीय पादमें बुद्धिस्थ कर्मवाच्यके कारण 'भोगः' आदि उद्देश्य और विधेयमें प्रथमाका प्रयोग किया है। '**भोगं रोगं, मोदं मोहम्**' होता तो मार्गभेद नहीं होता। चतुर्थ पादके '**धेया**' प्रथमान्तको देखते हुए '**गीती रीतिः प्रीतिर्भीतिः**' तथा तृतीय पादका यथावस्थित पाठ भी ठीक होता। तब 'गीतीः' आदि वाक्य का कर्म होगा।

यहाँ यदि आचार्य '**ए**' और '**ओ**' के प्रयोगमें क्रमव्यत्यास कर देते, तो (१) प्रथम पादमें कण्ठ्य, (२) द्वितीयमें तालव्य, (३) तृतीयमें कण्ठ-तालव्य और (४) चतुर्थमें कण्ठोष्ठ्यके प्रयोगसे विशिष्ट शोभा हो जाती ॥ ८४ ॥

(१.२) **स्वरत्रितयनियमवान् चित्र बन्ध**—पचासीवें श्लोकमें आचार्यने कौरवोंके शौर्यका वर्णन अर्थख्यापनकी दृष्टिसे सरल किन्तु प्रथम पादमें '**इ**', द्वितीय पादमें '**अ**', तृतीय पादमें '**उ**' तथा अन्तमें '**उ**' '**इ**' '**अ**' एवम् '**अ**', '**इ**', '**उ**' के द्विविध मिले-जुले प्रयोगके कारण दुष्कर बन्धसे किया है। इस प्रकार यहाँ समूचे श्लोकमें तीन ही स्वरोंके त्रिविध प्रयोगसे तीन स्वरोंके नियम वाला विचित्र बन्ध सम्पन्न हुआ है।

यहाँ आचार्यने **त्रिस्वरनियमवान्** बन्धके दो प्रकार प्रस्तुत किये हैं : (१) एक पादमें एकविध स्वरका ही प्रयोग करके **शुद्ध** तथा (२) एक पादमें त्रिविध स्वरोंके द्विविध प्रयोग **मिश्र** बन्ध। यह भेदव्यवस्था अन्य बन्धोंमें भी प्रयुक्त हो सकती है। द्वितीय प्रकार यदि एक पादमें ही किया जाता है, तो कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं कर पायेगा। पर यदि चारों पादोंमें अपनाया जाता है, तो अवश्य शोभाधायक होगा। पर एक पादमें एक स्वर

---

१. अमरकोष : श्रुतिः स्त्री, वेद आम्नायस्त्रयी। अथाम्नायः सम्प्रदायः।

का ही प्रयोग सुननेमें अधिक अच्छा तो लगता ही है, दुष्कर भी अधिक है। **मिश्र** बन्धको चतुर्थ पादमें (श्लोकके अन्तमें) देनेसे यह आपेक्षिक शोभावहता भी व्यक्त होती है।

पूर्वार्धमें कौरवोंकी (१) योगक्षेमपरायणताका,[1] (२) उत्कृष्ट समझका एवम् उत्तरार्धमें युद्धमें शत्रुकुलको बसमें करने और हिला डालनेका वर्णन किया है कि वह फिरसे उनके सामने खड़ा न हो सके।

रत्नश्रीमें धृत, वादिटीका तथा रत्नदर्पण (२।२८०) में व्याख्यात पाठ **'पर-गतयः'** है। 'परा गति' तो मृत्यु होती है, जो यहाँ विजेता कौरवोंके प्रसङ्गमें इष्ट नहीं है। यदि वादिव्याख्यात 'उत्कृष्ट चेष्टा वाले'[2] अर्थ लें, तो वह तो योग (पृथ्वीविजय) और क्षेम (मर्यादापालन) के वर्णन से कही ही जा चुकी है। अतः अनुवादमात्र है। इसलिये रत्नश्रीज्ञानकी यह व्याख्या उचित ही है कि योगक्षेमका विधान प्रज्ञाके बिना नहीं हो सकता। (इसलिये अगला विशेषण दिया है)।[3] इस कथनसे प्रतीत होता है कि मुद्रित पाठ भले ही **'गतयः'** हो, पर रत्नश्रीज्ञानने व्याख्या **'परमतयः'** की ही की है, **'परगतयः'** की नहीं। 'गति' का अर्थ प्रज्ञा' नहीं होता, 'मति' का होता है। इसी प्रकार तिरुवादिसं० में मूलमें भले 'मतयः०' छपा हो, पर व्याख्यात पाठ **'गतयः'** ही है। तरुणटीकामें **'परमतयः'** ही धृत है। उन्होंने व्याख्या नहीं की है।

इतिहासमें असत्पक्षके प्रतिनिधि माने जाने वाले कौरवोंके अभ्युदयका वर्णन प्रबन्धकाव्यमें तो दण्डीके **'धिनोति नः'** (१।२२) पद्यके अधीन ठीक है, पर यहाँ मुक्तकमें अखरता है। हो सकता है कि यह श्लोक किसी प्रबन्धकाव्य का अङ्ग हो।

यहाँ **'ति'** तथा **'रु'** की अनेक बार और **'तयः'** की एक बार आवृत्तिसे **अनुप्रास** है। कविने इस पद्यकी रचना पङ्क्ति जातिके ४९६वें भेद **'अमृत-**

---

१. (क) अविजित क्षितिकी विजिति अप्राप्तकी प्राप्तिके कारण योग है। (ख) प्राप्तकी स्थिति (टिके रहने) का विधान प्राप्तका रक्षण होनेसे 'क्षेम' है।

२. वादिटीका ३।८५ : परोत्कृष्टा गतिश्चेष्टा येषां, ते परगतयः।

३. रत्नश्री ३।८५ : एतच्च प्रज्ञामन्तरेण न भवतीत्याह—परा शोभापरा, गुणदोषविवेकसमर्था गतिः= प्रज्ञा येषामिति परगतयः। एवं च 'शक्तिसम्पन्नरिपुविजयचतुरा' इत्याचष्टे।

(१.३) श्री-दीप्ती, ह्री-कीर्ती, धी-नीती, गीः-प्रीती ।
एधेते द्वे द्वे ते, ये नेमे देवेशे ।। ८६ ।।

(१.३ क) लक्ष्मी और तेज, (ख) लज्जा और यश, (ग) प्रज्ञा और नीति, (घ) वाणी और प्रीति ये दो-दो तुम्हारे ही वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं, जो कि देवराज (इन्द्र) में (या हे राजन्, शिवमें) नहीं हैं ।। ८६ ।।

गति' छन्दमें की है । यह अन्यत्र **'अमृतगतिका'**, **'अमृततिलका'**, **'त्वरितगति'** नामोंसे भी अभिहित है । अन्यत्र इसे **'कुलटा'** नाम भी दिया है । इसमें **न**, **ज**, **न**, ये तीन गण तथा अन्तमें एक **गुरु** होता है और प्रत्येक पाँचवें अक्षरपर यति होती है । पाँचवाँ अक्षर ही गुरु भी होता है[1] ।। ८५ ।।

(१.३) दो स्वरोंके नियम वाला चित्र बन्ध—षडक्षर गायत्री जातिके **'शेषा'**, **'शेषराज'** अपरनामक **'विद्युल्लेखा'** छन्दमें[2] निबद्ध प्रकृत छियासीवें श्लोकमें कविने अपने वर्ण्य राजाको श्री आदि आठ गुणोंके चार युग्मोंमें देवराज या शिवसे भी बढ़कर बताया है । ये दो-दो गुणोंके चारों युग्म न इन्द्रमें हैं न शिव में; परन्तु वर्ण्य राजामें ये वर्धमान अवस्थामें (एधेते) हैं; कहाँ जाकर रुकेंगे, कोई नहीं कह सकता । (१) इन्द्रमें श्री तो है, पर दीप्ति (तेज) विलासिता के कारण नहीं है । जब भी शत्रुओंका आक्रमण होता है, दौड़े जाते हैं ब्रह्मा, विष्णु, महेशके या और तो और किसी पार्थिव प्राणीके ही पास सहायता लेनेको । (२) देवराज हैं, पर उनमें न लज्जा है, न यश । कामुकके रूपमें निर्लज्जकी प्रसिद्धि अलबत्ता अवश्य है । यह उनकी सहस्राक्षता से ही व्यक्त होता है । (३) कामुकमें बुद्धि होती भी है, तो वह नीतिका अनुसरण नहीं करती । (४) ऐसे स्वार्थप्रेरित पुरुषमें मधुर वाणी और उससे सम्पाद्य प्रीति भी दुर्लभ ही होती है ।[3] श्मशानवास, दिगम्बरता,

---

१. दिअवर हार पअलिआ पुण वि तह ट्ठिअ करिआ ।
वसु-लहु वे गुरु सहिआ **अमिअगइ**, धअ कहिआ ।। प्राकृतपैङ्गल २।९९
कुलटा स्यान्नजनगा, पञ्चभिः पञ्चभिर्यतिः ।

२. बाराहा मत्ता जं कण्णा तीआ होतं ।
हारा छक्का बन्धो **सेसा राआ** छन्दो ।। प्राकृतपैङ्गल २।४२
वृत्तरत्नाकर ३।९ : विद्युल्लेखा मो मः । नारायण भट्ट : गायत्री तककी जातिके छन्दोंमे पादान्तयति होती है, यह छान्दस उपदेशपरम्परा है ।

३. कविका प्रेरणास्रोत श्रीमद्भागवत (८।८।२०) प्रतीत होता है :
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः, स ईश्वरः किं ? परतो व्यपाश्रयः ।।

(१.४) सामायामा मायामासा मारानाया यानारामा ।
यानावारा रावानाया मायारामा मारायामा ॥ ८७ ॥

(२.१) नयनानन्द-जनने, नक्षत्र-गण-शालिनि ।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने, दीयतां सकृत् ॥ ८८ ॥

(२.१) हे प्रशस्त अङ्गों वाली, नयनोंको आनन्द उत्पन्न करने वाले नक्षत्र-समूहसे सुशोभित, मेघरहित गगनपर एकबार तनिक नज़र तो डालो ॥८८॥

अशुचिता, विरक्ततासे शिवमें भी श्री, ह्री, नीति और प्रीतिका अभाव स्वत: व्यक्त है ।

यहाँ श्लोकके पूर्वार्धमें सब १२ अक्षर दीर्घ इकार हैं और उत्तरार्धमें सभी १२ अक्षर एकार हैं । यह बन्ध 'ई', 'ए' के व्यस्त प्रयोगसे भी बन सकता है । उसका सौन्दर्य व्यवस्थाके तारतम्यपर निर्भर करता है । इस प्रकार दो स्वरोंसे ही निबद्ध होनेसे यह श्लोक विचित्र शोभासे सम्पन्न हो गया है । यह शोभा शब्दों (वर्णविन्यास) से प्राप्य होनेके कारण यह वर्णविन्यास शब्दालङ्कार है । दो स्वरोंमें सीमित होनेसे दुष्कर भी है ॥ ८६ ॥

(१.४) **एकस्वर नियमवान् दुष्कर चित्रबन्ध**—यह श्लोक पीछे '**सर्वतोभद्र चित्रबन्ध**' के उदाहरणके रूपमें (३।८२, पृष्ठ १०१ पर) आ चुका है । अर्थ तथा अन्य वक्तव्य वहाँ कहा जा चुका है । यहाँ यह आचार्यने एक 'आ' स्वरके ही बत्तीस बार प्रयोगके कारण एक स्वरनियम चित्रबन्धके उदाहरणके रूपमें दिया है । इसीसे इस अलङ्कारका भी उदाहरण प्रस्तुत हो जानेके कारण अलग उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझा है ।[1] दोनों शब्दालङ्कार तुल्यबल हैं । अत: इनकी **संसृष्टि** है ॥ ८७ ॥

(२.१) **चार स्थानोंसे उच्चरित वर्णोंके ही प्रयोग वाला चित्र बन्ध**—**वर्णनियमवान्** चित्रबन्धके द्वितीय भेद **स्थाननियमके** इस प्रथम उदाहरणमें कविने नकारावृत्तिसे सम्पन्न **अनुप्रास** वाले प्रथम पादमें न-विपुला तथा शेष पादोंमें **श्लोकके** प्रयोगसे नायकने रजनीमें झिलमिलाते तारों वाले शरद् ऋतु के स्वच्छ गगनकी शोभापर एक नजर डालनेकी प्रार्थना सजनीसे की है ।

---

१. रत्नश्री : सर्वतोभद्रं पूर्वोक्तमेकस्वरोदाहरणमपि कल्पत इति पुनरुदाहृतम् । एकस्वरोदाहरणमात्रमिह विवक्षितम् । तच्च पूर्वसिद्धमेव सम्भवतीति किमपूर्वेणेदृशेनाहोपुरुषिकामात्रेणेति भाव: ।

(२.२) अलि-नीलालक-लतं कं न हन्ति घन-स्तनि ?
आननं नलिन-च्छाय-नयनं शशि-कान्ति ते ॥ ८९ ॥

(२.२) हे सघन स्तनों वाली, भ्रमरसमान काली घुँघराली अलकावली वाला, कमलसमान शोभासे युक्त नज़रों वाला, चन्द्रके समान कान्ति वाला तुम्हारा मुख किसे कष्ट नहीं पहुँचाता है ? ॥ ८९ ॥

प्रथम पाद तृतीयपादोक्त **'गगने'** का सप्तम्यन्त विशेषण भी हो सकता है, तो **'अङ्गने'** का सम्बुद्धिविभक्त्यन्त विशेषण भी हो सकता है। **'अघने'** से शरद् ऋतुके कारण 'निरभ्र' अर्थ अभिप्रेत है। नक्षत्रोंसे शोभित निरभ्र गगनमें एक ही कमी रह गई है चन्द्रकी। वह यहाँ तुम मेरे पास हो ! अतः 'हे नयनोंको आनन्दित करने वाली' कहना अधिक उपयुक्त है। **'आनन्दजनने'** से √ह्लाद्, √चन्द् धातुओंका अर्थ कविने जानबूझकर कहा हैं। नयनोंकी कमलसे प्रसिद्ध समानताको दृष्टिमें रखते हुए 'चन्द्र' या 'चन्द्रिका' का तथा नयनोंका प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि कमल और चन्द्रमा में विरोध जो है। 'दृष्टि'से कमलकी प्रतीति नहीं होती।

यहाँ कविने समूचे श्लोकमें **कण्ठ्य** अकार ह्रस्व, गुरु और दीर्घ तीनों प्रकारका, (ii) तालव्य इकार (ह्रस्व और दीर्घ), (iii) कण्ठतालव्य ए तथा (iv) मूर्धन्य ऋ (ह्रस्व और गुरु), इन चार स्थानोंसे उच्चार्य स्वरोंका प्रयोग किया है। (i) कण्ठय क, ख,[1] ग, घ, ङ का, (ii) **तालव्य** ज, य, श का, (iii) **मूर्धन्य** ट, ण, र, और षका तथा (iv) **दन्त्य** त, द, न, और स का इस प्रकार इन चार ही स्थानोंसे उच्चार्य व्यञ्जनोंका प्रयोग कविने किया है। कविने इन स्थानों से उच्चार्य वर्णोंके चयनमें एक और बात ध्यानमें रखी है : (१) स्वरोंमें मात्रिक अवान्तर भेद भी दिये हैं। (२) व्यञ्जनोंमें (i) स्पर्श, (ii) अन्तस्थ और (iii) ऊष्म प्रत्येक वर्गका चयन किया है। इस प्रकार यहाँ शब्दचयनकी दुष्करता स्पष्ट है ॥ ८८ ॥

(२.२) **तीन स्थानोंमें उच्चरित वर्णोंके नियम वाला चित्र बन्ध**— प्रस्तुत ८९ वाँ श्लोक स्थाननियमवाले चित्रबन्धके द्वितीय त्रिस्थान वर्णनियम चित्रबन्धको प्रदर्शित करनेको दिया है। इसमें कविने वक्ताकी रतिके आलम्बन

---

१. 'नक्षत्र' के 'क्ष' का पूर्वाङ्ग 'क्' 'ष्' के योगमें 'ख्' के रूपमें भी उच्चरित होता है : चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् (सिद्धान्तकौमुदी, हल्सन्धि); शुक्लयजुःप्रातिशाख्य ४।१२० : असस्थाने मुदि द्वितीयं शानकस्य।

(२.३) अनङ्ग-लङ्घनालग्न-नानाऽऽतङ्का सदङ्गना ।
सदानघ, सदानन्द, नताङ्गासङ्ग सङ्गत ।। ९० ।।

(२.३) हे सदा अनघ (पापरहित), सदानन्द (श्रेष्ठोंको आनन्दित करने वाले), नत (विनत) अङ्गों वालीको प्रेम करने वाले मित्र, वह श्रेष्ठ सुन्दरी अनङ्गका लङ्घन (कामदेवकी मर्यादाका अतिक्रमण) करनेके कारण तरह-तरहके आतङ्कोंमें आ घिरी है । (उसे तुम कामदेवके कोपसे बचाओ) ।।९०।।

विभाव सुन्दरीके उद्दीपन विभाव मुखकी अद्भुत आकर्षकताका वर्णन पिछले पद्यके समान प्रथम पादमें **नविपुलासे** युक्त **श्लोक** छन्दमें किया है । कोमल तथा आनन्ददायी नील कुञ्चितकेशोंसे तथा कमलसदृश नयनोंसे युक्त ज्योत्स्नामय, देखते ही भली भाँती प्राण युक्त कर देने वाले (आनन) मुख पदार्थ द्वारा भी हनन किए जानेसे अधिक **विषम** क्या होगा ? दण्डीके यहाँ यह **विरोध** है । २।३३४ देखें ।

यहाँ (१) स्वरोंमें कण्ठ्य (i) अ, **आ,** (ii) तालव्य इ, ई, (iii) कण्ठ-तालव्य ए स्वरोंका ही प्रयोग किया गया है । (२) व्यञ्जनोंमें (i) कण्ठ्य क, घ, ह, (ii) तालव्य च, छ, य, श, (iii) दन्त्य त, न, ल, स का, (३) तथा स्वरव्यञ्जनोभयात्मक अनुस्वारका[1] प्रयोग किया गया है । यहाँ भी अवान्तर सभी भेदोंका प्रयोग किया हुआ है । अर्थाविबोधकी दृष्टिसे यद्यपि यह पद्य प्रसादगुणयुक्त (झटिति अर्थसमर्पक) होनेसे सुगम है, पर रचनाविधानमें वर्णचयनमें स्थानविशेषसे तथा उसमें भी अवान्तर भेदोंको स्थान देनेके लिये विशेष प्रयत्न अपेक्षित होनेसे यह आधुनिक मन्त्रिमण्डलके गठनके प्रयासोंके समान दुष्कर है, यह स्पष्ट है ।। ८९ ।।

(२.३) **द्विस्थान वर्णनियम चित्र बन्ध**—नवतितम श्लोकमें कविने **वर्ण-स्थाननियम** चित्रबन्ध वाले पद्यमें सुन्दरीकी विप्रलम्भ **रति**का वर्णन किया है । उत्तरार्धके सभी पद सम्बोधन हैं । कोई पुरुष अपने मित्रको मित्रके प्रेममें बिरहिन नायिकाकी स्थितिका वर्णन कर रहा है । अर्थकी दृष्टिसे यह सुगम

१. शौनकके अनुसार अनुस्वारमें स्वर और व्यञ्जन दोनोंके धर्म हैं । अतः यह स्वर भी माना जा सकता है और व्यञ्जन भी : अनुस्वारो व्यञ्जनं वा, स्वरो वा (ऋक्प्रातिशाख्य १।५) । उवटने इसकी व्याख्या इसे स्वरव्यञ्जनोभयात्मा वर्णान्तरके रूपमें बताकर की है : 'अं' इत्यनुस्वारो वर्णसमाम्नाये पठ्यते । स कांश्चित् स्वरधर्मान् गृह्णाति, कांश्चिद् व्यञ्जन-धर्मान् ।···**तत्रोभय-धर्म-योगादुभय-स्वभावं स्वर-व्यञ्नयोरन्यद् वर्णान्तरं प्रकाशयति—'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा, स्वरो वा ।'** इति ।

है। पर रचनाकी दृष्टिसे दो ही स्थानोंके व्यञ्जनोंके चयनके कारण कठिन है। इसमें (i) कण्ठ्य व्यञ्जनों क, ग, घ, ङ, का तथा (ii) दन्त्य त, द, न और स का प्रयोग हुआ है। पिछले दो उदाहरणोंमें स्वर और व्यञ्जन दोनों, सदृशसङ्ख्यक स्थाननियमसे प्रयुक्त थे।' यहाँ **स्वरस्थाननियम** है, किन्तु वह **व्यञ्जनस्थाननियमसे** भिन्न है : केवल कण्ठ्य 'अ' का ही ह्रस्व और दीर्घ रूपोंमें प्रयोग हुआ है। इससे यह सूचित होता है कि आचार्यके मनमें (i) केवल व्यञ्जन या (ii) केवल स्वरका **स्थाननियम** भी शोभाकारकके रूपमें स्थित है। इस दृष्टिसे यह श्लोक **द्विस्थानव्यञ्जननियम** और **एकस्थान-स्वरनियमका** उदाहरण है। **मिश्र** पद्धतिको आदर देने वाले आचार्यके लिये यह दिङ्निर्देश उचित ही है। यहाँ भी कविने स्पर्श, अन्तस्थ और ऊष्म तीनों प्रकारके व्यञ्जनोंका प्रयोग किया है।

नताङ्गासङ्ग—नतान्यङ्गानि यस्याः, सा नताङ्गी, नताङ्गा[2] (बहुव्रीहि)। नताङ्गायामासङ्ग आसक्तिः प्रेमा यस्य, तथाविध (बहु०)। रत्नश्रीज्ञान आदिने 'नताङ्गासङ्गेन सङ्गत' विग्रह मानकर 'सङ्गत' को समासका उत्तर पद माना है : हे अन्यस्त्रीसम्भोगप्रसङ्ग। पर यह पिछले दो विशेषणोंके विपरीत होनेसे उचित नहीं है : अन्यस्त्रीसम्भोगप्रसङ्ग (परस्त्रीके सम्भोगमें लीन) पुरुष 'सदा अनघ' (निष्पाप) तथा 'सदानन्द' (सत्को, या सदा, आनन्दित करने वाला) कैसे होगा ? **सङ्गत**—सम् + √गम् + क्त। 'क्त' जब भावमें होता है, तब 'सख्य' अर्थ होता है और जब कर्ता अर्थमें, तब रूढिमे 'सखा' अथवा यौगिक 'संयुक्त' अर्थ होता है[3] ॥ ९० ॥

---

१. पीछे स्वरों और व्यञ्जनोंके स्थानोंमें भेद व्यञ्जनोंका कण्ठ-तालव्य भेद सम्भव न होनेसे हुआ है। समानाक्षर (simple vowels) उसी स्थान वाले प्रयुक्त हैं, जिस स्थानके व्यञ्जन हैं। सन्ध्यक्षर (diphthongs) भिन्न हैं।

२. सिद्धान्तकौमुदी, स्त्रीप्रत्यय : नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च (अष्टा० ४।१।५५)। अत्र वृत्तिः—अङ्ग गात्र-कण्ठेभ्यो वक्तव्यम्। स्वङ्गी. स्वङ्गेत्यादि। कवियोंमें ङीषन्त अधिक प्रचलित है : अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि, तवास्मि दासः (कुमारसम्भव ५।८६)। दण्डीने अकारबहुल पद्यमें भिन्नस्थानोच्चार्य एक ईकारान्तका प्रयोग वैरस्य-कारक समझकर नहीं किया है।

३. अष्टाध्यायी ३।१।१०४ : अजर्यं सङ्गतम्। भट्टिकाव्य ६।५३ : तेन सङ्गतमार्येण रामाजर्यं कुरु द्रुतम्। ५५ : आदृत्यस्तेन वृत्येन स्तुत्यो जुष्येण सङ्गतः।

(२.४) अगा गाङ्गाङ्गकाकाक-गाहकाघक-काक-हा ।
अ-हाहाऽङ्ग, ख-गाङ्काग-कङ्काग-खगकाकक:[1] ।। ९१ ।।

(२.४) गङ्गाके जलमें (जलविहारमें अपेक्षित राजस) चञ्चलतासे रहित होकर, अर्थात् सात्त्विक पुण्यबुद्धिसे, अवगाहन (स्नान) करने वाले, हा-हाकार (शोक, धिक्कारके शब्दों) को (गङ्गास्नानसे पवित्र होनेके कारण) नहीं प्राप्त करने वाले आकाशमें गतिशील सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतियोंको अङ्कमें धारण करने वाले (सुमेरु) पर्वतको अर्थात्, वहाँ स्थित सभी २१ स्वर्गों[2] को प्राप्त करने वाले (हे सत्पुरुष), महा-पातक आदि निन्दित पापों रूपी कौवोंको (स्नानके पुण्यसे) नष्ट करने वाले तथा स्थावर जङ्गम दोनों रूपोंमें स्थित ब्रह्मकी प्राप्तिके सुख वाले होकर आदित्यमण्डलकी प्राप्ति रूपी वैराज पदको प्राप्त (ही) हो गए हो, अर्थात् इस पदको अवश्य प्राप्त करोगे ।।९१।।

(२.४) **एकस्थान वर्णनियम चित्रबन्ध**—इक्यानवेंवे श्लोकमें कविने गङ्गा-स्नानके पुण्यका महत्त्व गङ्गास्नान करने वाले किसी पुरुषके लिए उत्तम वैराजपदकी प्राप्तिकी आशंसासे व्यक्त किया है। इसमें कविने कण्ठ्य (१) स्वर **अ, आ** का, (२ i) स्पर्श व्यञ्जनों **क, ख, ग, घ, ङ**, (ii) ऊष्म **ह** और (iii) **विसर्ग**[3] इन एक ही स्थान कण्ठसे उच्चार्य वर्णोंका मिलाजुला (लयात्मक) प्रयोग किया है। रचनाकी दुष्करता स्पष्ट है।

गाङ्ग-काकाक-गाहक—गङ्गाया इदं गाङ्गम्, **तस्येदम्** (अष्टा० ४।३।१२०) **अण्**, गाङ्गं च तत् कम् उदकम् गाङ्ग कम् गङ्गाजलम्, ककनं लौल्यं चाञ्चल्यम्, **कक लौल्ये** (भ्वादि) न काक: अकाक:, अचञ्चलता, अकाकेन गाहते प्रविशति

१. अन्वय:—(हे) गाङ्ग-काकाक-गाहक, अ-हाहाऽङ्ग, ख-गाङ्काग-कङ्क, अघक-काक-हा अग-खग-काकक: (त्वम्) गाम् अगा: । रत्नश्रीज्ञानने पद्यके अन्तिम शब्दको भी सम्बोधन ही माना है। इस पाठमें कण्ठ्य वर्णों में विसर्ग रह जाता है। अत: पूर्वार्धके अन्तमें प्रथमान्तके समान उत्तरार्ध के अन्तमें भी प्रथमान्त पाठ विसर्गका भी समावेश हो जानेसे उचित है।

२. एक-विंशत्यमी स्वर्गा निविष्टा मेरु-मूर्धनि ।। नृसिंहपुराण ३०।२४
सरित्स्नायी···निर्म्मलं स्वर्गमाप्नोति··· ।। ३७

३. 'अ:, ⌒ क, ⌒ प, अं' (ऋक्प्रातिशाख्य, विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्तियुत, पृष्ठ १६) तक प्रोक्त वर्णाराशिमें स्वर और अनुस्वारसे इतर वर्णोंको शौनकने 'व्यञ्जन' कहा है : सर्व: शेषो व्यञ्जनान्येव (ऋ प्रा १।६)। विसर्गकी गणना व्यंजनोंमें भी ऊष्म वर्णोंमें की है : प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम् । केचिदेता उरस्यौ (ऋ प्रा १।३८-३९)।

३.१ रे रे रोरू-रुरूरो-रुगागो-गोऽगाङ्ग-गोऽग-गुः ।

(३.१.) अरे अरे (अति नीच) निर्मम, अचञ्चल (मौन) वाणी वाला अर्थात् चुपचाप होकर पर्वतके अङ्गों (कन्दरा, खोह, शिलाकी ओट) में (अथवा वृक्षोंके अङ्गों तने, डालियों, पत्तों, झुरमुटोंकी ओटमें) स्थित, मेरे

इति अकाक-गाहकः, गाङ्ग-कस्य अकाक-गाहकः, तस्य सम्बोधनम् अ-हा-हाऽङ्ग: हा-हा-शब्दं शोक-धिक्कार-व्यञ्जकम् अङ्गति गच्छति, **अगि··· गत्यर्थाः** (भ्वादि) इति हा-हाऽङ्गः, न हा-हा-ऽङ्गः इति अ-हा-हाऽङ्गः, तस्य सम्बोधनम् । **ख-गाङ्कगाकङ्क**—खेन गच्छन्तीति ख-गानि नक्षत्रादीनि ज्योतींषि, तानि अङ्के यस्य स खगाङ्कः, स चासावगः पर्वतः सुमेरुः,[1] तं कङ्कति इति ख-गाङ्क-कङ्कः, **ककि···गत्यर्थाः** (भ्वादि), तस्य सम्बुद्धौ **अघक-काक-हा**—कुत्सितानि निरतिशय-तमोमय-निरय-गतिफलत्वान्निन्दितानि अघानि पापानि अघ कानि, तान्येव काका इव कुत्सितत्वात्, इति अघक-काकाः, रूपकसमासः, तान् हन्ति नाशयति इति । **अग-खग-काकक**:— न गच्छतीत्यगं स्थावरम् । खेन आकाशेन गच्छतीति खगम् जङ्गमम्, अगं च खगं चेत्यग-खगं स्थावर-जङ्गमं, तथाविधं च कम् सुखस्वरूपमानन्दमयं ब्रह्म अग-खग-कम्, तस्य अकनम् आकः गमनं प्राप्तिरिति यावत्, तस्य कं सुखमस्त्यस्य, मत्वर्थीयोऽच्, सः ।[2] **गाम्** आदित्यं, तदुपलक्षितं स्वर्गम् । **अगाः**—गतवानसि, **इणो गा लुङि** (अष्टा० २।४।४५)—यहाँ 'ऐसे पुरुषका स्वर्गगमन अवश्य होता है,' इस धारणासे भविष्यकालमें ही भूतकाल का प्रयोग उपचारसे किया गया है (—रत्नश्री) ।। ९१ ।।

(३.१) **त्रिविध पञ्चस्वर-स्थान-वर्णनियमवान् चित्रबन्ध**—९२वें श्लोक में कविने आश्रमके पालतू मृगको मारने वाले किसी शिकारीको अपने पास आनेसे मना करते किसी तपस्वीका वर्णन किया है ।

---

१. महाभारत, वनपर्व १६३।१५,२७,२८ आदि देखें ।

२. रत्नश्रीज्ञानकी यह व्याख्या भी सुन्दर है : एवं कल्याणाशयत्वाद् दुर्जनसंसर्गोऽपि तव नास्तीति कथयति—अगन्ति कुटिलं गच्छन्ति अदान्तत्वाद् इत्यगानि । कर्तर्यच् । अगानि च तानि खानीन्द्रियाणि चेत्यग-खानि । तानि गच्छन्तीत्यग-ख-गाः अदान्तेन्द्रियाः, खला इति यावत् । त एव कुत्सितत्वादगखगकाः । तेष्वककोऽलोलोऽलुब्धो निरपेक्षस्तत्संसर्ग-द्वेषात् । अर्थात् विषयोंके प्रति कुटिलतासे (मनुष्यको हानिकारक रूपसे) गमन करने वाली ज्ञानकर्मेन्द्रियोंके प्रति गमन करने वाले असंयमी लोगोंमें संसर्ग नहीं रखने वाला प्रकृत पुरुष । रत्नश्रीज्ञानने इस विशेषणको सम्बोधन माना है ।

किं केका-काकु-कः काको मा-माऽऽगा मा ममामम' ।।९२।।

(३.२) **देवानान्नन्दनो देवो नोदनो वेदनिन्दिनः ।**

(पालित) किलकारियाँ भरते रुरु मृगकी छातीको आहत करनेके अपराधको प्राप्त (तू) मेरे पास मत आ, मत आ । क्या कौआ (कभी) केका (मयूर-ध्वनि) की स्वरभङ्गियों (आनन्दकारी पञ्चम) को बोलने वाला हो सकता है ? ।। ९२ ।।

(३.२) देवताओंको प्रसन्न करने वाले, वेदनिन्दक (असुर) वर्गको **दुःखी**

यह उदाहरण चित्रबन्धकी दृष्टिसे बहुत कलापूर्ण है । इसमें तीनों प्रकार के नियम एक साथ अपनाए गये हैं : (१) पञ्च-स्वर-नियम—अ, इ, उ, ए तथा ओ; (२) पञ्च-स्थान-नियम—(क) स्वर : (i) कण्ठ्य अ, आ. (ii) तालव्य इ, (iii) ओष्ठ्य उ, (iv) कण्ठ-तालव्य ए, (v) कण्ठोष्ठ्य ओ; (ख) व्यञ्जन: (i) कण्ठ्य क, ग, विसर्ग, (ii) कण्ठ-नासिक्य (अनुनासिक) ङ, (iii) मूर्धन्य र, (iv) जिह्वामूलीय ᳵक तथा (v) ओष्ठ्य म; (३) पञ्च-व्यञ्जन-नियम—क, ग, ङ, म और र । विसर्ग उपध्मानीय एवं जिह्वा-मूलीय घोष हका ही अघोष रूप (allophone) होनेसे[2] स्वतन्त्र व्यञ्जनके रूपमें अभिप्रेत नहीं हैं । नियमतः स्वरके पश्चात् तदङ्गत्वेन प्रयुक्त होनेके कारण अनुस्वार एवं विसर्ग स्वरधर्म अधिक हैं, स्वतन्त्र वर्ण कम । पर स्थान-नियममें सुस्पष्टतया पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यताके कारण उनकी पृथग् गणना उचित है । 'चतुःप्रभृति' अल्पत्वका उपलक्षक ही है । इयत्ताका निर्धारक नहीं ।

सभी टीकाकारोंने इस श्लोकको चतुर्वर्णनियमका उदाहरण माना है । 'ह'के अघोष रूप और उसके रूपभेद जिह्वामूलीयको छोड़नेपर भी दो बार प्रयुक्त नासिक्य स्पर्श 'ङ' की पञ्चम वर्णताका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इसके अतिरिक्त, जब अन्य दो प्रकारके वर्णनियम भी यहाँ व्यवस्थित रूपसे उपस्थित हैं, तो उन्हें शोभाकारक (चित्रबन्धत्वका प्रयोजक) क्यों न माना जाये ? अतः वस्तुतः आचार्यने यहाँ तीनों प्रकारके चित्रबन्धोंकी **संसृष्टि** (समकक्षतया उपस्थिति) प्रस्तुत की है ।। ९२ ।।

(३.२) **त्रिवर्ण-नियमवान् चित्र-बन्ध**—हिरण्यकशिपु द्वारा मुष्टिसे ताडित स्तम्भसे अतिभीषण निनाद करते हुए भगवान् विष्णु प्रकट हुए । इसी

---

१. अन्वयः—रे रे अमम, अगाङ्ग-गः, अगगुः, मम रोरू-रूरुरो-रुगागो-गः (त्वम्) मा मा-मा आ-गाः । किं काकः केका-काकु-कः ?

२. ऋक्प्रा०१।१०: उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः । ११: अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः ।

दिवन्दुदाव नादेन दाने दानवनन्दिनः ॥ ९३ ॥

करने वाले देव (नृसिंह रूपधारी विष्णु) ने दानवनन्दन (हिरण्यकशिपु[1]) के खण्डन (दान, विदारण) (प्रयुक्त) गर्जना (नाद) से आकाशको विदीर्ण कर दिया ॥ ९३ ॥

पुराणप्रसिद्ध कथाको आचार्य दण्डीने तिरानवेंवे श्लोकमें बताया है। ब्रह्मासे वर प्राप्त करनेके बाद निश्चिन्त हुए हिरण्यकशिपुने वेदप्रतिपादित मर्यादाओंको तोड़ना शुरू किया।[2] हरिभक्त प्रह्लादसे चिढ़कर उसने 'स्तम्भमें स्थित विष्णु तेरी रक्षा करेगा' कहकर उस स्तम्भपर मुष्टिकाका प्रहार किया।[3] उस स्तम्भसे तभी अति भीषण निनद (गर्जना) हुआ, जिससे ब्रह्माण्ड कटाह ही फूटनेको आया और ब्रह्मादि देवोंको भी लगा कि अब उनके लोकका प्रलय होने ही वाला है।[4] श्रीमद्भागवतकी इस कथाको आचार्य दण्डीने सङ्केतात्मक **'वेदनिन्दिनः'**, **'दाने नादेन दिवं दुदाव'** से व्यक्त किया है।

यहाँ स्वर तो विविध प्रकारके अ, इ, उ, ए तथा ओ आये हैं। किन्तु ये चित्रत्वप्रयोजक नहीं हैं। व्यञ्जन केवल तीन हैं : (i द १३ बार, (ii) न १८ बार, (iii) व छह बार। इन व्यञ्जनोंका प्रयोग पीछेके उदाहरणोंमें पूरे पादमें या श्लोकके काफी बड़े हिस्सेमें लगातार एक ही व्यञ्जनके प्रयोगके रूपमें हुआ है; किन्तु यहाँ यह एक उचित व्यवधानसे हुआ है। इससे यह बन्ध बहुरंगी मनकोंसे व्यवहित ग्रथित मालाके समान सुशोभित हो गया है। इससे आचार्य 'स्थाननियमके निबन्धनका यह भी एक प्रकार है', यह सूचित करना चाहते हैं।[5] इस ग्रथनसे यहाँ **अनुप्रास**की भी सुन्दर सृष्टि हो गई है।

---

१. दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्य-दानव-वन्दितौ।
   हिरण्यकशिपुर्नाम, हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ॥ श्रीमद्भागवत ६।१८।११

२. स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरि-दक्षिणैः।
   इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा॥ श्रीमद्भागवत ७।४।१५
   एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
   कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः॥ २०
   यदा देवेषु, वेदेषु, गोषु, विप्रेषु, साधुषु।
   धर्मे मयि च विद्वेषः, स वा आशु विनश्यति॥ २७

३. खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना॥८।१५

४. तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
   यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे॥१६

५. इसकी चर्चा ३।८४, पृष्ठ १०६ में की जा चुकी है।

(३.३) **सूरिः, सुरासुरासारि-सारः, सारसि-सारसाः ।**
ससार सरसीः सीरी स-सूरुः स सुरा-रसी ॥ ६४ ॥

(३.४) **नूनन्नुन्नानि नानेन नाननेनाननानि नः ।**
नानेना ननु नानूनेनैनेनानानिनो निनीः[1] ॥ ६५ ॥

(३.३) विद्वान् (नीतिज्ञ), सुरों और असुरोंको व्याप्त करने वाले बलसे युक्त, सुन्दर जाँघों वाली रमणियों सहित, सुरामें रस लेने वाले उन हलधर (बलराम) ने कलरव करते सारसों वाली सरसियों (पुष्करिणियों) में अवगाहन किया ।। ६४ ।।

(३.४) इस बलवान् (पुरुष) ने हमारी सेनाओंको निश्चय ही ध्वस्त नहीं कर दिया है, ऐसा नहीं है (अर्थात् ध्वस्त कर ही दिया है) । न्यूनके विपरीत (अर्थात अधिक, बलवत्तर) इस (पूर्वोक्त पुरुष) के साथ बलहीनों (दुर्बलों)को लड़ाने वाला (पुरुष) क्या निरपराध हो, ऐसा नहीं है ? (अर्थात् ऐसा पुरुष अपराधी है ही) ।। ६५ ।।

दुदाव—टुदु उपतापे (स्वादि०) कर्तरि लिट्, प्र० ए० व० । द्युलोक (आकाश अमूर्त, निराकार द्रव्य) को उपतप्त करना सम्भव नहीं है । अतः लक्षणया द्युस्थ विभिन्न लोकोंके निवासी अभिप्रेत हैं । श्रीमद्भागवतमें इसी भावको सुन्दर अभिव्यक्ति दी गई है । दण्डीने सङ्क्षेपके कारण सङ्केत ही किया है । **दाने— दो अवखण्डने** (दिवादि०)से ल्युट्, सप्तमी, ए० व० ।।६३।।

(३.३) **द्वि-व्यञ्जन-नियम चित्र बन्ध**—चौरानवेंवे श्लोकमें आचार्य दण्डीने बलवत्ता, स्त्रीसङ्ग और सुरापानके लिये प्रसिद्ध हलायुध बलरामके पुष्करिणियोंमें विहारका वर्णन समूचे श्लोकमें 'स' और 'र' दो व्यञ्जनोंका ही प्रयोग करके किया है । स्वर यहाँ यद्यपि अ, इ, उ (सब ह्रस्व और दीर्घ) तीन ही प्रयुक्त हुए हैं, अतः **स्वरनियम** भी है । तथापि समूचे ध्वनिप्रभावकी दृष्टिसे व्यञ्जननियम **चारुतर** है । यों इसमें सादा-सा यमक भी है ।। ६४ ।।

(३.४) **एक-व्यञ्जन-नियमवान् चित्र बन्ध**—वर्णनियम बन्ध प्रकरणके अन्तिम श्लोकमें आचार्य दण्डीने बलवान् शत्रुसे भिड़नेके कारण डरे हुए निर्बल लोगों द्वारा अपने स्वामीकी आलोचना कराई है । भारविका उदाहरण अर्थकी दृष्टिसे इससे बेहतर है । किन्तु उसमें चतुर्थपादान्तमें तकारका प्रयोग

---

१. अन्वय : अनेन अननेन नः अननानि नूनं न नुन्नानि, न । अनूनेन एनेन अनानिनः निनीः ना ननु अनेनाः न ?

इति दुष्करमार्गेऽपि किञ्चिदादर्शितः क्रमः ।
प्रहेलिकाप्रकाराणां पुनरुद्दिश्यते गतिः ।। ९६ ।।

इस प्रकार दुष्कर (कठिन, दुर्बोध रचना वाले) मार्गमें भी क्रम (व्यवस्था, स्वरूप) कुछ दिखा दिया है । अब प्रहेलिकाके भेदोंका स्वरूप नामतः बताया जा रहा है ।। ९६ ।।

एकव्यञ्जन नियमको शिथिल करता है ।[1] परवर्ती आचार्यों द्वारा अन्त्य वर्णकी भिन्नताको दोषावह न बताना[2] कविके सामर्थ्यकी शिथिलताको स्वीकार करना है । दण्डीके प्रकृत उदाहरणमें एक ही व्यञ्जन नकारका प्रयोग किया गया है । विसर्गको उस दृष्टिसे व्यञ्जन नहीं माना जाता (श्लोक ९२, पृष्ठ ११६ देखें) । अतः वह एकव्यञ्जन नियमका भञ्जक नहीं है ।। ९५ ।।

दुष्कर एवं सुकर मार्गका उपसंहार—आचार्य दण्डीने तृतीय अध्यायमें (क) ३७वें श्लोक तक **सुकर बन्ध** वाले **यमकका** निरूपण किया है । (ख) ३८वेंसे ७७वें श्लोक तक ४० श्लोकोंमें **दुष्कर बन्ध** वाले **यमक**के विभिन्न भेद और उनके उदाहरण दिये हैं । (ग) ७८वें से ८२वें तक ५ श्लोकोंमें त्रिविध **दुष्कर आकारबन्ध** प्रदान किये हैं । (घ) ८३वें से ९५ वें तक १३ श्लोकोंमें **दुष्कर वर्णनियम**के तीन प्रकार उनके चार-चार अवान्तर भेदोंमें प्रतिपादित किये हैं । इस प्रकार (ख—घ) ३८वेंसे ९५वें तक ५८ श्लोकोंमें आचार्य दण्डीने काव्यमें शोभावह **दुष्कर** निबन्धनके मार्गका सङ्क्षेपमें किन्तु अनुक्त-की उपलक्षकताकी दृष्टिसे समृद्ध वर्णन किया है ।

'अपि'से दुष्करसे पूर्व प्रतिपादित (क) **सुकर** मार्गका समुच्चय आचार्य को इष्ट है । **दुष्कर**के अतिरिक्त **सुकर** मार्गका भी निरूपण सङ्क्षेपसे (किञ्चिद्) ही किया गया है । **सुकर**की सङ्क्षिप्तताका स्पष्ट कथन पीछे ३७वें श्लोकमें किया जा चुका है । **दुष्कर** मार्ग भी पूरी तरहसे नहीं दिखलाया गया है । कुछ ही दिखलाया गया है । **दुष्कर**के इस **'किञ्चिदादर्शित क्रम'** में अभी (ङ) **प्रहेलिकाओं** (पहेलियों)का निरूपण रहता है । आचार्यने अगले ८० श्लोकोंमें पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पन्द्रह शुद्ध और एक संकीर्ण

---

१. न नोननुन्नो, नुन्नोनो, नाना नानाऽऽनना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्न नुत् ।। किरातार्जुनीय १५।१५

२. किरातार्जुनीय १५।१४ पर मल्लिनाथ सूरिका घण्टापथ : अयमेकव्य-ञ्जनः । अन्त्यस्तकारस्तु न दोषावहः । 'नान्त्यवर्णस्तु भेदकः' इत्यभ्यनु-ज्ञानात् ।

प्रकारकी पहेलियोंके नाम तथा लक्षण दिये हैं। उन्हीं आचार्यों द्वारा प्रोक्त १४ दुष्ट पहेलियाँ न बतानेका प्रयोजन ११वें श्लोकमें बताकर १६ श्लोकोंमें पूर्वोक्त साधु प्रहेलिकाओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सङ्कीर्ण प्रकार उपलक्षक है नाना (गौण-मुख्य भावसे तथा समकक्ष रूपसे सम्पन्न) सङ्कर-प्रकारोंका। प्रहेलिका प्रकरणके अन्तिम (१७वें) श्लोकमें सङ्कीर्ण प्रहेलिकाकी सङ्गति बताई है। इस प्रकार ९७से १२४ तकके २७ श्लोकोंकी नक्षत्रमालासे आचार्यने रमणीय प्रहेलियोंकी कण्ठभूषा निर्मित की है।

आचार्यने प्रहेलिकाओंके प्रयोजनोंमें (९७वें श्लोकमें) 'परव्यामोहन' भी एक प्रयोजन बताया है। इससे प्रहेलिकाओंकी दुष्करता सूचित होती है। रत्नश्रीज्ञान, वादि जङ्घालदेव तरुण वाचस्पति आदि प्राचीन तथा रङ्गाचार्य रेड्डी आदि अर्वाचीन सभी टीकाकारोंने इसके पूर्वार्ध श्लोकमें दुष्कर मार्गका उपसंहार माना है। यह उचित नहीं है। केवल पूर्वार्धमें दुष्करका उपसंहार माननेसे प्रहेलिकाएँ दुष्करसे बहिर्भूत माननी होंगी। तब वे पर-व्यामोहनमें उपयुक्त कैसे होंगी ? यह प्रयोजन तो इनके दुष्कर, दुर्बोध होनेसे ही सिद्ध हो सकता है, सुकर होनेसे नहीं। अतः इस समूचे श्लोकमें दुष्करका उपसंहार मानना उचित है॥

त्रयोदश्यां गुरौ प्रातश्चन्द्रे रिरंसि-संयुते।
वर्णनियमवांश्चित्रबन्धो व्याख्यायि यत्नतः॥ १॥
हन्तेदमुज्ज्वलं दीप्तं प्रजाहाहाकरं नभः।
न स्पृष्ट मेघनाम्नाऽपि; नितान्ताकरुणः प्रभुः॥ २॥
कपूयाचरणे राज्ञि प्रजास्वस्यानुयासु च।
कुतो देवस्य दृष्टिः स्यात्कोमला सुखदायिनी॥ ३॥
हरो हरतु सन्तापमूलं दुष्कर्मभावनाम्।
भव्यं भवतु लोकस्य; देशे स्याच्छासनं शुभम्॥ ४॥

—०—

नभःकृष्णे भृगौ रात्रौ युगे-युगे प्रहेलिकाः।
लोकमानसगाहिन्यो हंस्यो यथा समुज्ज्वलाः॥ १॥
निर्दोषारावसंयुक्ता विद्वद्बालमनोहराः।
सम्प्रत्याख्यामि ताः सम्यग् वेदे लोके समादृताः॥ २॥
नैवेष्टा भामहैर्मुग्धैर्युक्त्याऽऽख्यातास्तु दण्डिभिः।
इतो यत्नेन मय्येषा प्रीयतां वागधीश्वरी॥ ३॥

पाटलौष्ठदलच्छन्नदशनस्मितपुष्पिणी ।
नखनिर्भातवीणाऽऽहचतारस्वरनिनादिनी । ४ ।

४. **प्रहेलिका**—यह शब्द प्र + √ हिल् (भावकरण, तु०) + इत् + कन् (अनुकम्पामें) + टाप् से निष्पन्न है ।[1] इससे प्रकट होने वाला भाव 'व्या-मोहन' (उलझनमें, चक्करमें डालना) है, यह इस शब्दके प्राचीन पर्याय 'प्रवल्हिका' की ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मणोंमें उपलब्ध व्याख्या तथा उसके अथर्ववेदीय उदाहरणोंसे[2] स्पष्ट है । भावप्रकाशनकी यह पद्धति निबन्धनके काव्यात्मक स्वरूपके कारण प्रकृष्ट है तथा गोष्ठियोंमें लोकप्रिय होनेसे अनुकम्पाका विषय है । इस प्रकार चित्र अलङ्कारकी इस विधिका अर्थ 'व्यामोहनकारी उक्तिका प्रकृष्ट (काव्यात्मक) लोकप्रिय प्रकार' है ।

भामहके कथनसे विदित होता है कि '**प्रहेलिका**' का **दुष्कर** अलङ्कारोंके मध्य निरूपण आचार्य **रामशर्मा**ने '**अच्युतोत्तर**' नामक ग्रन्थमें किया था । भामहने इसका लक्षण नहीं दिया है । इसके द्विविध चरित्रके निर्देशसे इसके स्वरूपपर कुछ प्रयास डाला है : प्रहेलिका (१) नाना धातुओं तथा अर्थोंसे गम्भीर (गूढ) होती है, तथा (२) नामसे यमक कहाती है ।[3] कदाचिद् भामह

---

१. अमरकोष १।६।२ : प्रवल्हिका प्रहेलिका । रामाश्रमी : प्रहेलयति = अभिप्रायं सूचयति । 'हिल भावकरणे' (तुदादि, प० सेट्) । उणादिसूत्र ४।११८ : सर्वधातुभ्य इन् । अष्टा० ५।३।७६ : अनुकम्पायाम् । यह शब्द कन् प्रत्ययके बिना भी मिलता है : प्रहेलिः । हिन्दी 'पहेली' इसीसे विकसित है ।

२. ऐ० ब्रा० ३०।७ (६।३३) : प्रवल्हिकाः* शंसति । प्रवल्हिकाभिर्वै देवा असुरान् प्रवल्ह्याथैनानत्यायन् । तथैवैतद् यजमानाः प्रवल्हिकाभिरेवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रवल्ह्याथैनमति यन्ति । सायणभाष्य : 'विततौ किरणौ द्वौ' (अथर्ववेद २०।१३३) इत्याद्याः षडनुष्टुभः प्रवल्हिकाऽऽख्याः । बृहद्देवता १।५७ : वितनाऽऽदिः प्रवल्हिका । गोपथ ब्रा०, उत्तर भाग, ६।१३ : अथ प्रवल्हिकाः पूर्वं शस्त्वा 'विततौ किरणौ द्वौ०' (अथर्व० २०।१३३) इति···। प्रवल्हिकाभिर्ह वै देवा असुराणां रसाम्प्रवव्रुहुः । तद् यथाऽऽभिर् ह वै देवा असुराणां रसां प्रववृहुः । तस्मात् प्रवल्हिकाः । तत् प्रवल्हिकानां प्रवल्हिकात्वम् । वर्तनीपर विचारार्थ निरुक्तके पाँच अध्याय, पृष्ठ ५६९ देखें ।

३. नाना-धात्वर्थ-गम्भीरा, यमक-व्यपदेशिनी ।
'प्रहेलिका' सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे ।। काव्यालङ्कार २।१९

क्रीडा-गोष्ठी-विनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्ण-मन्त्रणे ।
पर-व्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥ ९७ ॥

(१) खेलों, गोष्ठियों, मनोरञ्जनके अवसरोंपर, (२) भीड़में बातचीत करनेमें और (३) दूसरोंको विशेष रूपसे भुलावा देने (चकराने) में प्रहेलिकाएँ उनके जानकारोंके द्वारा उपयोगी (लाभकारी) होती हैं ॥ ९७ ॥

ऐसे यमकको नाममात्रका यमक कहते हैं, जिसमें नाना धातु अथवा अर्थ गूढ रहते हैं । पर अर्थोंकी गूढताके कारण वे इसे 'प्रहेलिका' मानते हैं, यमक नहीं । भामहके इस कथनसे प्रहेलिकामें (१) धातु तथा (२) अर्थकी गूढता लक्षण सिद्ध होती है । 'धातु' उपलक्षक है नाम उपसर्ग आदि प्रकारके शब्दों का । इस प्रकार प्रहेलिकाके (१) **शब्दगूढ** और (२) **अर्थगूढ** भेद भामहको अभिप्रेत प्रतीत होते हैं । पर भामहका प्रहेलिकाको 'यमक' कहना कुछ जँचता नहीं है : यमकमें तो तुल्यश्रुति वर्णोंकी आवृत्ति मुख्य स्वरूपलक्षण धर्म है; प्रहेलिकाके स्थलमें वह अनुप्रास, उपमा आदिके समान आनुषङ्गिक तो हो सकती है, पर स्वरूपगत कैसे हो सकती है ?

दण्डीने (श्लोक १०६ में) सोलह प्रकारकी पहेलियाँ पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट बताई हैं । रत्नश्रीज्ञानने पूर्वाचार्योंकी व्याख्या '**रामशर्मादिभिः**' की है । कह नहीं सकते कि उन्होंने यह नामोल्लेख सुनी-सुनाई बातके आधारपर किया है, या रामशर्माके ग्रन्थको देखकर किया है । पर दण्डीने (श्लोक १०६ में) पूर्वाचार्योंको अभिमत १६ साधु और १४ दुष्ट प्रहेलिकाओंकी बात ठोस आधारपर (उनके ग्रन्थ देखकर) ही की लगती है । दण्डी द्वारा प्रस्तुत पूर्वाचार्यसम्मत ये सोलह प्रहेलिकायें यमकके संस्पर्शसे रहित हैं । इससे अनुमान किया जा सकता है कि पूर्वाचार्यों रामशर्मा आदिकी प्रहेलिकाओंमेंभी यमक तत्त्व आवश्यक नहीं रहा होगा, अन्यथा दण्डीके लक्षणोदाहरणोंमें यमक-संस्पर्श पूर्वपक्षके रूपमें ही सही, अवश्य, मिलता ॥ ९६ ॥

प्रहेलिकाओंकी उपयोगिता—दण्डीने प्रहेलिकाका सामान्य लक्षण न देकर भेदोंके लक्षणमें उसे स्पष्ट किया है । षोडशभेदनिरूपणसे पूर्व आचार्यने एक (९७) श्लोकमें पहेलियोंका प्रयोजन बताया है । **वात्स्यायन**के अनुसार नागरककी दिनचर्यामें अपराह्णका समय गोष्ठी-विहारके लिये नियत था । इसके अतिरिक्त किसी निमित्तसे, पर्वोंपर, या पक्ष अथवा मासमें किसी एक घोषित दिन समान विद्या, बुद्धि, शील, आर्थिक स्थिति और वयस् वाले लोगोंका

जमावड़ा वेश्याभवनमें, सभामें या नागरकोंमेंसे ही किसी एकके घरपर होता था। इनका उद्देश्य नागरकोंके काव्यव्यासङ्गसे अथवा अन्य गीत, वाद्य आदि के प्रदर्शनसे बुद्धिविकास था। इनमें गम्भीर चर्चाओंकी तो कम गुंजाइश थी, हाँ हल्की फुल्की काव्यचर्चा, अथवा कलाविषयक समस्याओंपर विचार आदि हुआ करता था।'[1] इस तरहके अवसरोंके लिये **प्रहेलिका**, **प्रतिमाला** (अन्त्याक्षरी), **समस्यापूर्ति**, **कलायें** विशेष उपयोगी होती थीं।[2] गोष्ठियोंके अन्तमें श्रेष्ठ **प्रहेलिका** आदिको सम्मान व्यक्त करके प्रोत्साहित किया जाता था।[3]

इन सब प्रकारके अवसरोंपर आयोजित गोष्ठियोंको आचार्यने **'क्रीडा-गोष्ठी-विनोदेषु'** कहा है। स्पष्ट है कि इन गोष्ठियोंमें गम्भीर प्रबन्धकाव्योंका प्रणयन या उन पर विचार नहीं होता होगा। अतः प्रहेलिकाओंका (१) प्रथम उपयोग इन गोष्ठियोंमें इन्हें सुनाना, वाहवाही लूटना तथा अपने ईर्ष्यालुओंको हत-प्रभ करना और अपना तथा दूसरोंका विनोद (मनोरञ्जन) करते हुए कालक्षेप करना था। यही आज भी है। (२) जनसङ्कुल स्थानों में भी पहेलियाँ बुझाकर अपने मन्तव्यका सम्प्रेषण करके आमन्त्रण (बात-

---

१. कामसूत्र १।४।२२ : गृहीत-प्रसाधनस्यापराह्णे गोष्ठीविहाराः। जयमङ्गला : 'गोष्ठीविहारा'—'गोष्ठ्यां क्रीडा' इति। २६ : घटानिबन्धनं, गोष्ठीसमवायः, समापानकम्, उद्यानगमनं, समस्याः, क्रीडाश्च प्रवर्तयेत्। २७ : पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि···३४ : वेश्याभवने, सभायामन्यतमस्योदवसिते वा समान-विद्या-बुद्धि-शील-वित्त-वयसां सह वेश्याभिरनुरूपैरालापैरासनबन्धो गोष्ठी। ३५ : तत्र चैषां काव्यसमस्या कलासमस्या च। जयमङ्गला : सम्भूय दर्शनं निरूपणं तत्समस्या, 'चर्चा' इत्यर्थः।

२. कामसूत्र १।३।१६ तथा इसपर जयमङ्गला : '(२८) प्रहेलिका' इति—क्रीडार्था, वाक्यार्था च। '(२९) प्रतिमाला' इति—यस्या अन्त्याक्षरिकेति प्रतीतिः। सा क्रीडाऽर्था वादार्था च। यथोक्तम्—

　'प्रतिश्लोकं क्रमाद्यत्र सन्धायाक्षरमन्तिमम्।
　पठेतां श्लोकमन्योन्यं प्रतिमालेति सोच्यते॥' इति।

···'(३३) काव्यसमस्यापूरणम्' इति—···काव्यस्य श्लोकस्य समस्या पाद इत्यर्थः, तस्याः पूरणं क्रीडाऽर्थं वादार्थं च।

३. कामसूत्र १।४।३६ : तस्यामुज्ज्वला लोककान्ताः पूज्याः प्रीतिसमानाश्चाहारिताः :

बीत) कर ली जाती है। (३) लोगोंको गूढ शब्द अथवा गूढार्थके प्रयोगसे चक्करमें डालना भी पहेलीका प्रयोजन है।

इन तीनों प्रयोजनोंमें अन्तिम प्रयोजन ही पहेलियोंका मुख्य प्रयोजन है। वैदिक साहित्यमें गूढार्थक बहुतसे मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनकी गूढार्थताका प्रयोजन श्रोताओंको चक्करमें डालना है। प्रसिद्ध **अस्यवामीय** (ऋ० १।१६४) सूक्तके १-४, ७, ११-२०, २२, ३२, ४१, ४८ मन्त्र ठेठ पहेलियाँ ही हैं, जिन्हें समझ न पानेपर श्रोताको ऋषिसे पूछना पड़ा होगा : महाराज, अब इनका अर्थ समझाइये। अथर्ववेदका तो एक पूरा सूक्त (२०।१३३) ही 'पहेलियोंका सूक्त' कहा जाता है।[1] ऐतरेय महीदासने इन्हें 'प्रवल्हिका' कहा है : असुरों को पहेलियोंमें उलझनमें डालकर देव लोग उनसे आगे बढ़ गये। यजमान भी पहेलियोंसे अपने शत्रुको उलझाकर उनसे आगे बढ़ जाते हैं।[2]

आचार्य रुद्रटने इन तीनों प्रयोजनोंमें दण्डीकी **'क्रीडा'** को ही उपयुक्त माना है।[3] उनकी दृष्टि कदाचिद् यह है कि पहेलियोंसे परव्यामोहन क्रीडा (मनोविनोद) का ही साधन है, साध्य नहीं। परव्यामोहन साध्य होनेपर शत्रुता पनपती है, जो काव्यका प्रयोजन नहीं हो सकती। पर भोजने (सरस्वती० २।१३४में) दण्डीकी दृष्टिका ही अनुकरण किया है।

स्पष्ट ही ये सब बातें महाकाव्यमें यत्र-तत्र-सर्वत्र आने वाली स्थितियाँ नहीं हैं। अतः महाकाव्यमें तो इनका प्रयोग सीमित ही होगा। हाँ, मुक्तक आदि छोटे बन्ध इनका स्वतन्त्र क्षेत्र हैं। पर उनमें भी अवसर और प्रयोजन सीमित ही हैं। यही कारण है कि अच्छे कवि तथा काव्यशास्त्री पहेलियोंको अधिक प्रोत्साहन नहीं देते। किन्तु भामहका यह कहना भी उचित नहीं है कि गूढशब्दार्थ होनेके कारण व्याख्यागम्य होनेसे प्रहेलिकायें हेय हैं।[4] सहृदयोंके

---

१. बृहद्देवता १।५७ : वितताऽऽदिः* प्रवल्हिका। *अथर्व २०।१३३।

२. प्रवल्हिकाः* शंसति। प्रवल्हिकाभिर्वै देवा असुरान्* प्रवल्ह्याथैनानत्यायन्। तथैवैतद् यजमानाः प्रवल्हिकाभिरेवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रवल्ह्याथैनमति यन्ति। सायण : 'विततौ किरणौ द्वौ' (अथर्व० २०।१३३) इत्याद्या षडनुष्टभः प्रवल्हिकाऽऽख्याः। *इन शब्दोंकी वर्तनीके लिये देखें निरुक्त के पाँच अध्याय, ७।११, पृष्ठ ५६६।

३. मात्रा-बिन्दु-च्युतके, प्रहेलिका, कारक-क्रिया-गूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥ काव्याल० ५।२४

४. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव, हन्त दुर्मेधसो हताः॥ काव्याल० २।२०

(१) **आहुः** समागतां **नाम गूढार्थां पद-सन्धिना ।**
(२) वञ्चिताऽ**न्यत्र रूढेन यत्र शब्देन वञ्चना ॥ ९८ ॥**

(१) पदों (सुबन्त-तिङन्तरूप शब्दों) की सन्धिसे जिस उक्तिका अर्थ छुप जाता है, उसे **समागता** कहते हैं ।

(२) अन्य अर्थमें प्रसिद्ध शब्दका प्रयोग करके जहाँ छला जाता है, वह **वञ्चिता** (कहलाती) है ॥ ९८ ॥

छोटे मोटे जमावड़ोंमें इस तरहके हल्के-फुल्के काव्य लोकहृदयग्राही होते हैं । यह अनुभवसिद्ध है, किसी आचार्यवचनकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ९७ ॥

आचार्य दण्डीने **प्रहेलिकाओं**का निरूपण तीन क्रमोंमें किया है : (१) ९८-१०४॥ तकके श्लोकोंमें पन्द्रह **शुद्ध** प्रहेलिकाओंके लक्षण बतानेके बाद इनके सङ्करसे निष्पन्न **सङ्कीर्ण** प्रहेलिका प्रकारको बताया है; (२) पूर्वाचार्यसम्मत दोषयुक्त चौदह प्रहेलिकाओंका अभिधान न करनेका हेतु १०६-१०७ में बताया है; (३) फिर १०८-१२२ तक पन्द्रह **शुद्ध** प्रहेलिकाओंके पन्द्रह उदाहरण देकर १२३ में उदाहृत **संकीर्ण** प्रहेलिकामें सङ्कीर्ण पहेलियाँ बताकर इस उदाहरणको अन्य भेदोंके साङ्कर्यका उपलक्षक बताया है । सभी प्रहेलिकाओंमें सामान्य तत्त्व परव्यामोहन है । व्यामोहन कहीं शब्दका स्वरूप समझ न आनेसे आता है, तो कहीं अर्थकी दुरूहताके कारण आता है । शब्द और अर्थ को दुरूह बनानेके प्रकारोंमें भेद होनेसे ये प्रहेलिकायें एक-दूसरेसे भिन्न हैं ।

इन सोलह भेदोंके अतिरिक्त पूर्वाचार्य चौदह **दोषयुक्त** प्रहेलिकायें भी मानते थे, यह दण्डीने बताया है ।

(१) **समागता**—यह पहेली विशुद्ध रूपसे **शब्दगूढा** है । दो पदोंमें स्वर-सन्धि या व्यञ्जनसन्धिसे जब भिन्न प्रकारका शब्द निष्पन्न हो जाता है, तब पदके स्वरूपके विषयमें श्रोताकी बुद्धि भ्रान्त हो जाती है । उस उक्तिका वास्तविक अर्थ छुप जाता है । इस प्रकारकी यह प्रहेलिका पदोंके समागम (सन्धान) के कारण निष्पन्न होनेसे '**समागता**' कहलाती है । इसका उदाहरण आचार्यने १०८वें श्लोकमें दिया है ।

(२) **वञ्चिता**—विवक्षितसे भिन्न अर्थमें प्रसिद्ध शब्दका प्रयोग करके उससे जहाँ विवक्षितार्थका गोपन किया जाये, वह प्रहेलिका '**वञ्चिता**' होती है । इस प्रकार अन्यार्थक शब्दके प्रयोगसे श्रोताको सही अर्थका बोध नहीं होता, वह भ्रान्त हो जाता है । इस प्रकार वञ्चन (छलने) के कारण यह पहेली 'वञ्चिता' है । 'वञ्चिता' पद 'वञ्चितं = वञ्चनमस्त्यस्यां' व्युत्पत्तिसे

(३) व्युत्क्रान्ताऽतिव्यवहित-प्रयोगान्मोहकारिणी ।
(४) सा स्यात् प्रमुषिता, यस्यां दुर्बोधार्था पदावली ।। ९९ ।।
(५) समानरूपा गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता पदैः ।

(३) पादोंके अधिक व्यवधानसे प्रयोगके कारण (अर्थके बारेमें) भ्रान्ति करने वाली **व्युत्क्रान्ता** (होती है) ।

(४) वह **प्रमुषिता** होती है, जिसमें पदसमूह कठिनाईसे समझमें आने वाले अर्थसे युक्त होता है ।। ९९ ।।

(५) गौण (लाक्षणिक) अर्थोंमें आरोपित पदोंसे विरचित (प्रहेलिका) **समान-रूपा** होती है ।

'प्रहेलिका' का विशेषण है । यहाँ वञ्चन (प्रतारण) शब्दके द्वारा नहीं, अपितु अन्य अर्थमें रूढ शब्दके माध्यमसे गूढ हुए अर्थके द्वारा होता है । अर्थ के द्वारा अर्थके विषयमें भ्रान्ति करनेसे यह **अर्थगूढा** है । उदाहरणार्थ १०९ वाँ श्लोक देखें ।। ९८ ।।

(३) **व्युत्क्रान्ता**—पदोंके अत्यन्त व्यवहित प्रयोग (विन्यास) से अन्वय में कठिनाई आ जाती है, जिससे श्रोताको अर्थके विषयमें व्यामोह हो जाता है । व्युत्क्रमणसे विन्यास शब्दका धर्म है, जिससे प्रभावित होता है पदोंका परस्पर सम्बन्ध (अन्वय) । सम्बन्ध अर्थगत होता है । अतः यह प्रहेलिका भी **अर्थगूढा** ही है । पदोंके सम्बन्धके निश्चित न होनेसे या तो (i) अर्थका निश्चय ही नहीं होगा, या (ii) विपरीत अर्थका अवबोध भी हो सकता है । इस प्रहेलिकामें व्यामोहका आदि कारण पदोंका व्युत्क्रम (व्यवहित प्रयोग) है । अतः इसे '**व्युत्क्रान्ता**' कहा गया है । यहाँ 'क्त' प्रत्यय कर्त्रर्थमें है । इसका उदाहरण ११०वें श्लोकमें है ।

(४) **प्रमुषिता**—जिस प्रहेलिकामें शब्दावलीका अर्थ स्वरूपतः ही दुर्बोध हो, तो वह अर्थका अपहरण (प्रमोषण) हो जानेसे '**प्रमुषिता**' कहलाती है । यह भी **अर्थगूढा** है । उदाहरण १११वें श्लोकमें है ।। ९९ ।।

(५) **समानरूपा**—प्रहेलिकाके ग्रथनमें प्रयुक्त पद अपने प्रसिद्ध मुख्यार्थके वाचक न होकर उनके वाच्य पदार्थके गुणोंसे साम्यके कारण उन गुणोंसे युक्त किसी अन्य पदार्थको लक्षित करते हों, तब समान पदार्थके आरोपके कारण यह प्रहेलिका '**समान-रूपा**' कहलाती है । यह आरोप प्रायः **समासोक्ति**की सृष्टि करता है । यह प्रहेलिका भी **अर्थगूढा** है । शब्दोंसे किसी वस्तुका वर्णन प्राप्त होते हुए भी अन्य सदृश पदार्थकी विवक्षा साधारण जनके लिये दुर्बोध होती है, अतः यह दुष्कर चित्र शब्दालङ्कार है । उदाहरण ११२वें श्लोकमें है ।

(६) परुषा **लक्षणास्तित्व-मात्र-व्युत्पादित-श्रुतिः ॥१००॥**

(७) सङ्ख्याता **नाम सङ्ख्यानं यत्र व्यामोहकारणम् ।**

(८) **अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः, सा** प्रकल्पिता **॥ १०१ ॥**

(९) **सा** नामान्तरिता **यस्या नाम्नि नानाऽर्थकल्पना ।**

(६) पदोंके निरूपक शास्त्र (व्याकरण) के सद्भाव मात्रसे व्युत्पन्न किये गये पदों वाली **परुषा** होती है ॥ १०० ॥

(७) जिसमें गिनती उलझाने वाली होती है, वह **सङ्ख्याता** है ।

(८) जहाँ वाक्यका अर्थ (इष्टसे) भिन्न प्रकारसे प्रतीत होता है, वह **प्रकल्पिता** है ॥ १०१ ॥

(९) वह (पहेली) **नामान्तरिता** (दूसरे नामपदसे युक्त) होती है, जिसके नाम (सञ्ज्ञापद) में विभिन्न (अनेक) अर्थोंकी कल्पना होती है ।

---

(६) **परुषा** जिस प्रहेलिकामें ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, जिनका लोकमें प्रयोग नहीं होता । शब्दोंके व्युत्पादक शास्त्र व्याकरणके सूत्रोंमें उनकी व्युत्पत्ति अवश्य प्रतिपादित होती है । व्यवहार और काव्यके क्षेत्रसे बाहरके शास्त्राभ्याससे ही ज्ञेय ऐसे शब्द कोमलमति लोगोंको चावलमें कंकड़की तरह कठोर लगते हैं । अतः इस प्रकारके प्रयोग जब विनोदार्थ किये जायें, तो वे कोमलमति नागरकोंको खूब व्यामूढ करते हैं । प्रहेलिकाका उपयोग ही परव्यामोहनार्थ है । इस लिये ऐसे प्रयोग प्रहेलिकामें शोभाकारक होते हैं । काव्यके सामान्य प्रकारमें भले ये प्रयोग दोष माने जाते हैं । यह **अर्थगूढता**का ही एक प्रकार है । उदाहरण ११३वें श्लोकमें देखें ॥ १०० ॥

(७) **सङ्ख्याता**—जिस उक्तिमें गिनती उलझानेवाली होती है, उसे **'सङ्ख्याता'** प्रहेलिका कहा जाता है । 'सङ्ख्या' अर्थ है । अतः यह पहेली भी अर्थगूढा है । इसका उदाहरण ११४वें श्लोकमें है ।

(८) **प्रकल्पिता**—जिस उक्तिमें वाक्यार्थ विवक्षितसे अन्य रूपमें भासित होता है, वह वास्तविक नहीं होता । जानबूझकर अर्थान्तरका आभास करानेके कारण उस उक्तिको **'प्रकल्पिता'** प्रहेलिका कहा जाता है । यह भी **अर्थगूढा** है । इसका उदाहरण ११५वें श्लोकमें है ॥ १०१ ॥

(९) **नामान्तरिता**— जिस उक्तिमें प्रयुक्त नाम (सञ्ज्ञा) पदोंमें अनेक अर्थोंकी कल्पनाकी जाती है, उसे **'नामान्तरिता'** प्रहेलिका कहा जाता है ।

(१०) निभृता **निभृतान्यार्था तुल्य-धर्म-स्पृशा गिरा** ।। १०२ ।।

(१०) समान धर्मों (अथवा तुल्य धर्म वाले अर्थों)को स्पर्श करने वाली वाणी (शब्दों)से अन्य अर्थको छुपाने वाली पहेली **निभृता** होती है ।।१०२।।

---

(८) '**प्रकल्पिता**' में अर्थान्तरकल्पना श्रोताको हो जाती है, वह कविको विवक्षित नहीं होती । अर्थात् कवि उन अनेक अर्थोंका वर्णन पहेलीमें नहीं करता, वह तो श्रोताको आभासित होती है; जब कि '**नामान्तरिता**' में नाना अर्थ कविको विवक्षित होते हैं ।

प्रेमचन्द्र शर्माने यहाँ '**नाम**'से '**वस्तु**' (अर्थ) ली है, केवल उसकी बोधक सञ्ज्ञा नहीं । इससे वर्णित पदार्थमें नाना (भिन्न) अर्थकी कल्पनासे भी '**नामान्तरिता**' निष्पन्न हो जाती है ।[1]

यह प्रहेलिका भी **अर्थगूढा** है । ११६वाँ श्लोक इसका उदाहरण है ।

(१०) **निभृता**—विवक्षित और अविवक्षित पदार्थोंके समान धर्मोंको छूने वाली पदावलीके प्रयोगसे अन्य अर्थको छुपाकर प्रस्तुत करने वाली उक्ति छुपानेके कारण '**निभृता**' प्रहेलिका कहलाती है । आचार्य रत्नश्रीज्ञानने '**तुल्य-धर्म-स्पृशा गिरा**' की दो व्याख्याएँ की हैं: (१) विवक्षित और अविवक्षित दोनोंमें वर्तमान होनेके कारण तुल्य=समान अर्थरूपी धर्मको, उसे निमित्त बनाकर प्रवृत्तिके कारण छूने वाले, (२) विवक्षित अर्थके समान धर्म

---

१. रङ्गाचार्यरेड्डी, प्रभा : अत्राहुः प्रेमचन्द्रशर्माणः—लक्षणे 'नाम'-पदं च 'वस्तु'-परं, न तु 'सञ्ज्ञा' मात्रपरं बोध्यम् । तेन

'तरुण्याऽऽलिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः ।
गुरूणां सन्निधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः ? ।।'

अत्र 'सजल-कलश'-रूप-वस्तुनि वक्तव्ये प्रथमं नानाऽर्थकल्पनान् नामान्तरिता । एवं

'य एवादौ स एवान्ते मध्ये भवति मध्यमः ।
अस्यार्थं यो न जानाति, तन्मुखे तं ददाम्यहम् ।।'

इत्यादावपि अत्र 'यवसः' प्रतिपाद्य इति । इस उदाहरणमें 'यः', में सर्वनामरूप नानार्थकी कल्पना होती है । उसके बाद नाम शब्दमें उसके घटक वर्णोंके आदि, अन्त और मध्य स्थानोंकी विचित्रतासे व्यामोह उत्पन्न किया गया है । अतः **सङ्ख्याता**के समान प्रहेलिकाका स्थान-कथनवैचित्र्यमूलक नूतन प्रकार है ।

(११) समान-शब्दोपन्यस्त-शब्द-पर्याय-साधिता　।[1]
(१२) सम्मूढा नाम, या साक्षान्निर्दिष्टाऽर्थापि मूढये ॥ १०३ ॥

(११) शब्दके उपकल्पित पर्यायसे सिद्ध की हुई **समान-शब्दा** होती है।

(१२) **सम्मूढा** नामक वह होती है, जो सीधे सीधे (अभिधासे) निर्दिष्ट अर्थ वाली होते हुए भी व्यामोह उत्पन्न करती है ॥ १०३ ॥

(गुण) वाले पदार्थको छूने वाले, शब्दके कारण वैसी विवक्षितके समान अन्य अर्थका अभिधान करने वाली वाणी जो प्रयुक्त होती है; (क) इस अर्थका पर्यवसान (निभृतता) विवक्षित अर्थमें होता है; अथवा (ख) तुल्यधर्मस्पर्शी वाणीके कारण निभृत (निगूढ गृहीतकी अपेक्षासे अन्य) अर्थ जिसमें अभिधेय है, वह इस प्रकारकी पहेली '**निभृता**' कही जाती है।[2] '**तुल्य-धर्म स्पृशा गिरा**' अंशकी इन दोनों व्याख्याओंमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है : (१) प्रथम व्याख्यामें धर्मके द्वारा धर्मीका ग्रहण निष्पन्न होता है; (२) द्वितीयमें बहुव्रीहिसे धर्मीका सीधे ग्रहण होता है। 'निभृतान्यार्था' की दो व्याख्याओंमें विधिमुखता और निषेधमुखताका अन्तर है : (क) 'निभृत'का अर्थ प्रथम व्याख्यामें 'व्यवस्थित', 'निष्ठित' है; (ख) द्वितीय व्याख्यामें 'अप्रकट', 'निगूढ' है। वादिजङ्घालदेवने 'निभृत-गोपित' ही कहा है। उदाहरण ११७वें श्लोकमें है ॥ १०२ ॥

(११) **समान-शब्दा**—जो उक्ति विवक्षित शब्दके उपन्यस्त=कल्पित (घुमा-फिराकर बनाये गये) पर्याय (समानार्थक) शब्दोंसे साधित (ग्रथित) होती है, वह '**समान-शब्दा**' प्रहेलिका कहलाती है। यहाँ '**पर्याय**' शब्द अपने

---

१. रत्नश्री : 'उपन्यस्त-पर्यायार्थ-प्रसाधिता' इत्यपि पाठः ।

२. रत्नश्री : या दर्शितान्यार्था, निभृतो व्यवस्थितो वाऽन्यार्थोऽभिधेयं यस्यामिति निभृतान्यार्थाऽभिधेयान्तरात् । कथम् ? (१) तुल्यं समानमुभयत्र वृत्तेः, धर्ममर्थरूपं, तन्निमित्तीकृत्य प्रवृत्तेः, स्पृशतीति तुल्यधर्मस्पृक् । (२) तुल्यो वा विवक्षितेनार्थेन सदृशो धर्मो गुणोऽस्येति तुल्यधर्माणमर्थं स्पृशतीति तुल्यधर्मस्पृक् । तया (क) तुल्यधर्मस्पृशा गिरा शब्देन हेतुना तादृशी गीः प्रयुज्यते, या विवक्षितसदृशमर्थान्तरमभिदधाना, तत्रैव विवक्षितेऽर्थे निष्ठाऽस्येति । (ख) यद्वा तुल्यधर्मस्पृशा गिरा कारणेन निभृतोऽप्रकटोऽन्यो गृहीतार्थापेक्षयाऽर्थोऽभिधेयं यस्यामिति योज्यम् । सा तादृशी प्रहेलिका निभृताऽऽख्यायते ।

रूढ 'अल्पान्तरसमानार्थक प्रसिद्ध वाचक शब्द' अर्थमें प्रयुक्त नहीं है। इस व्याख्यामें 'उपन्यस्त' शब्द '**पर्याय**' का विशेषण है। वादीजीने '**उपन्यस्त**' को '**शब्द**'का विशेषण बनाकर अर्थ यों किया है : उपन्यस्त (प्रयुक्त) शब्दके पर्याय (समानार्थक रूढ शब्द) के द्वारा सम्पादित अर्थ वाली प्रहेलिका '**समान-शब्दा**' कहलाती है।'[1] इस व्याख्यामें पर्याय शब्द उपन्यस्त शब्दसे कल्पित होता है, साक्षात् प्रयुक्त नहीं होता। रत्नश्रीज्ञानकी व्याख्यामें कल्पना-बाहुल्य है। संस्कृतमें कल्पित पर्यायोंका प्रयोग आम बात है। 'हस्तिनापुर' को 'नागसाह्वयपुर' कहना, 'भ्रमर' को 'द्विरेफ' कहना एवं 'चक्रवाक'को 'रथाङ्गनामा' कहना, इसी प्रकारका कल्पित पर्याय है। पर ये सब अभिव्यक्तियाँ दुरूह न होनेसे व्यामोहकारी नहीं है, क्योंकि किसी स्तरपर इनमें अर्थान्तर-समानार्थता है। 'प्रकृष्ट बालों वाला' कहना 'प्रवाल' (मूँगे)का पर्याय उसी प्रकार नहीं है, जैसे 'दिल लेने वाली' कहना 'दिल्ली'का सही पर्याय नहीं है, कल्पित पर्याय है। ऐसे कल्पित पर्यायोंसे साधित उक्ति श्रोताको अवश्य उलझनमें डालती है। अतः वह 'प्रहेलिका' नामक चित्रालङ्कार है। 'समान शब्द'का अर्थ 'पर्याय' होता है। इस प्रकारके कल्पित समान शब्दके प्रयोगके कारण यह प्रहेलिकाप्रकार '**समान-शब्दा**' कहलाता है।

रत्नश्रीमें लक्षणांशका पाठान्तर **उपन्यस्त-पर्यायार्थ-प्रसाधिता**' बताया है : उपन्यस्त अर्थके अनुगम (प्रतीति) से कल्पित, उस अर्थको प्रकाशित करनेके कारण पर्यायरूप शब्दान्तरके अर्थमें प्रसाधित प्रहेलिका '**समानशब्दा** कहलाती है।[2] अर्थको छुपाकर कहनेके कारण यह **अर्थ-गूढा** है। उदाहरणार्थ ११८वाँ श्लोक देखें।

(१२) **सम्मूढा**—सीधे-सीधे अभिधासे अर्थका निर्देश (कथन) की हुई होते हुए भी जो उक्ति अभिव्यक्तिकी अस्पष्टताके कारण श्रोताको भ्रममें डालती है, वह 'सम्मूढा कहलाती है। साक्षात् निर्देश न होनेपर व्यामोह

---

१. रत्नश्री : उपन्यस्तेन = तदर्थानुसारेण कल्पितेन, शब्दस्य विवक्षितस्वावाचकत्वेन प्रसिद्धस्य तदर्थप्रकाशनात् पर्यायेण = शब्दान्तरेण साधिता। वादिटीका : सा समानशब्दा नाम यस्यामुपन्यस्तो यः शब्दः, तस्य यः पर्यायः, तेन साधितः = सम्पादितोऽर्थः।

२. रत्नश्री : 'उपन्यस्त-पर्यायार्थ-प्रसाधिता' इत्यपि पाठः। तत्र उपन्यस्तार्थानुगमकल्पितस्य, तदर्थ-प्रकाशनात् पर्यायस्य = शब्दान्तरस्य, अर्थे प्रसाधिता = 'उपन्यस्तपर्यायार्थ-प्रसाधिता' इति व्याख्येयम्।

(१३) **योग-मालाऽऽत्मकं नाम यस्याः, सा** पारिहारिकी ।
(१४) एकच्छन्नाऽऽ**श्रितं व्यज्य यस्यामाश्रयगोपनम्** ।। १०४ ।।

(१३) जिस (पहेली) का नाम (सञ्ज्ञापद) सम्बन्धोंकी मालाके रूपमें होता है, वह **पारिहारिकी** (प्रसिद्ध नामका परिहार करके सम्बन्धोंके अभिधानसे निष्पन्न) होती है। (१४) **एकच्छन्ना** वह है, जिसमें आधेयको व्यक्त करके आधारको छुपाया जाता है ।। १०४ ।।

स्वाभाविक है, पर निर्देश करनेपर व्यामोह होना उक्तिकी विशिष्टता है। इसी विशेषता (अतिशय) को आचार्यने 'अपि'से कहा है।[1] व्यामोहका कारण अस्पष्ट अभिधान है। अतः यह भेद **अर्थगूढ** है। उदाहरण ११९वें श्लोकमें है ।। १०३ ।।

(१३) **पारिहारिकी**—जिस प्रहेलिकाके सञ्ज्ञा शब्द सम्बन्धोंकी मालाके रूपमें हों, वह प्रहेलिका प्रसिद्ध सञ्ज्ञा पदका परिहार करनेके कारण 'पारिहारिकी' कहलाती है। इस प्रहेलिकामें वस्तुका अभिधान सीधे स्पष्ट वाचक शब्दोंसे न करके, वाचकोंका प्रयोग बचाते हुए, सम्बन्धोंके अभिधानसे परम्परया किया जाता है। अतः यह भी **अर्थ-गूढा** है। उदाहरण १२०वें श्लोकमें है।

(१४) **एकच्छन्ना**—आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। जब आश्रितके धर्म (द्रव्य, गुण और क्रिया) का तो अभिधान किया जाये, किन्तु इनके आश्रय (आधार धर्मी)को छुपाया जाये,[2] तब एकको छुपानेके कारण **'एकच्छन्ना'** प्रहेलिकाभेद निष्पन्न होता हैं। यह आश्रयरूप अर्थके निगूहनके कारण **अर्थगूढा** है। धर्मोंके कथनसे धर्मीकी कल्पनामें कुछ चमत्कार होता है; आश्रयको कहनेसे धर्म स्वतः उक्त हो जाते हैं; अतः व्यामोहकत्व आश्रयगोपनमें ही है, आश्रितगोपनमें नहीं।

इस भेदको **'एकच्छन्ना'** कहना तो तभी उचित होता, जब दो सम्बन्धियोंमें किसीके भी गोपनसे व्यामोह होता। इसलिये इसे **'धर्मिच्छन्ना'** कहना अधिक उचित है। सम्भवतः, अगले **'उभयच्छन्ना'** भेदमें भेदकके रूपमें सङ्ख्या (उभय) का प्रयोग विवक्षित होनेसे आचार्यने इस भेदमें भी उसे ही भेदक मानकर सञ्ज्ञा बनाई है। उदाहरण १२१वें श्लोकमें देंगे ।। १०४ ।।

१. रत्नश्री : अतिशये 'अपि'-शब्दः ।
२. वादिटीका : एकच्छन्ना नाम सा, यस्यामाश्रितं नाम धर्मं द्रव्य-गुण-कर्म-लक्षणमभिव्यज्य प्रकाश्य तद्धर्माधारस्याश्रयस्य धर्मिणो गोपनम् ।

(१५) **सा भवेदुभयच्छन्ना, यस्यामुभय-गोपनम् ।**
(१६) सङ्कीर्णा **नाम सा, यस्यां नाना-लक्षण सङ्करः ॥ १०५ ॥**
एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः ।
दुष्ट-प्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ॥ १०६ ॥

(१५) वह (पहेली) **उभयच्छन्ना** है, जिसमें दोनों (आश्रित और आश्रय) को छुपाया जाता है ।

(१६) **सङ्कीर्णा** नामक वह होती है, जिसमें एकाधिक पहेलियोंके लक्षणों का सङ्कर (उपकार्योपकारक भावसे तथा तुल्यबलतासे) होता है ॥ १०५ ॥

पिछले आचार्योंने ये सोलह पहेलियाँ बताई हैं ।

उन्होंने चौदह दोषयुक्त पहेलियाँ भी पढ़ी (दी) हैं ॥ १०६ ॥

---

(१५) **उभयच्छन्ना**—जिस उक्तिमें आश्रित धर्म द्रव्य, गुण और क्रियाका भी गोपन किया जाये, और आश्रयका भी, वहाँ दोनोंके गोपनके कारण **'उभयच्छन्ना'** प्रहेलिका होती है । यह भी **अर्थगूढा** है । १२२वें श्लोकमें उदाहरण है ।

(१६) **सङ्कीर्णा**—जिस उक्तिमें नाना (अलग-अलग) लक्षणों (प्रहेलिका-घटक) तत्त्वोंका सङ्कर (सम्मिश्रण) होता है, वह पहेली **'सङ्कीर्णा'** होती है । आचार्यने 'सङ्कर' के अर्थमें 'संसृष्टि' शब्दका प्रयोग (२।३५७-३५८) में किया है । उनके मतमें ये दोनों पर्याय हैं । अतः यहाँ (i) अङ्गाङ्गि-भाव संसृष्टि और (ii) समकक्षभाव संसृष्टि दोनों अभीष्ट हैं । अङ्गाङ्गि-भावसंसृष्टि समकक्ष संसृष्टिकी अपेक्षा दुष्कर होती है । आचार्यने १२३वें श्लोकमें **सङ्कीर्णा**का जो उदाहरण दिया है, वहाँ दोनों प्रकारकी प्रहेलिकाएँ अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धसे परस्पर सङ्कीर्ण हैं । पूर्वार्धोक्त **नामान्तरिता** अङ्ग है और उत्तरार्धोक्त **वञ्चिता** वाक्यपर्यवसायी होनेसे मुख्य है । इसकी **शब्द-गूढता** या **अर्थ-गूढता** सङ्करकी विषय प्रहेलिकाओंके स्वरूपपर निर्भर करती है ॥ १०५ ॥

४. **प्रहेलिकाओंका उपसंहार** : प्रहेलिकाओंके सोलह भेदोंके लक्षण बतानेके बाद आचार्यने इनका उपसंहार अगले १०६वें श्लोकमें किया है ।

दण्डीका कहना है कि ये १६ प्रकारकी प्रहेलिकायें पिछले आचार्योंने बताई हैं । भामहने पूर्वाचार्य रामशर्मा तथा उनके ग्रन्थ 'अच्युतोत्तर' का नाम दिया है । पर भामहने प्रहेलिकाको व्याख्यागम्य बनाने वाला यमक-

दोषानपरिसङ्ख्येयान् मन्यमाना वयं पुनः ।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा, यास्त्वलक्षणाः ।। १०७ ।।

किन्तु दोषोंको अनादरणीय मानते हुए हम निर्दोष (पहेलियाँ) ही कहेंगे । दोषयुक्त वे होती हैं, जो तो उनके लक्षणसे रहित हैं ।। १०७ ।।

व्यपदेशित्वका जो तत्त्व आवश्यक बताया है, वह पूर्वाचार्यानुसारिणी इन षोडशविध प्रहेलिकाओंमें तनिक भी नहीं है । इस आधारपर यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि दण्डीकी प्रहेलिकाओंके निरूपक पूर्वाचार्योंमें रामशर्मा सम्मिलित नहीं हैं । दण्डीने **अवन्तिसुन्दरीकथा**में अपने समयके बुधोंमें केरलके एक रामशर्माका उल्लेख किया है । यदि **अच्युतोत्तर**के लेखक यही रामशर्मा हैं, तो हो सकता है कि **काव्यादर्श**के प्रणयन तक उसकी रचना न हो पाई हो । इसी कारण दण्डीने उनके चिन्तनका उल्लेख यहाँ न करके अपने समयमें चर्चामें आ चुकी **निर्दोष** और **सदोष** पहेलियोंका उल्लेख किया है । आचार्य रत्नश्रीज्ञानका '**पूर्वाचार्यैं रामशर्मादिभिः**' कथन भामहके उल्लेख पर, अथवा अन्य सुनी-सुनाई बातोंपर, आधारित प्रतीत होता है । उन्हीं पूर्वाचार्योंने इनके अतिरिक्त १४ दोषयुक्त पहेलियाँ बताई हैं ।। १०६ ।।

प्रहेलिकाओंको दुष्ट बनाने वाले ये दोष किस प्रकारके हैं, यह सङ्केत न आचार्य दण्डीने किया है, और न किसी अन्य आचार्यने ही किया है । आचार्य दण्डीने १०७वें श्लोकमें मात्र इतना कहा है कि जिन पहेलियोंपर उनके लक्षण पूरी तरह नहीं घटते, वे दुष्ट पहेलियाँ हैं । पदसन्धिके कारण सम्पन्न (१) **समागता** नामक पहेलीमें दोषकी सम्भावना नहीं है । अतः वह तो शुद्ध ही रहेगी । शेष चौदह असङ्कीर्ण प्रहेलिकाओंकी प्रस्तुतिमें किसी लक्षणगत त्रुटिके कारण वे चौदह प्रहेलिकायें दोषयुक्त होंगीं । **रत्नश्रीज्ञान**ने आचार्यके इस कथनको यों प्रस्तुत किया है : उन (प्रहेलिकाओं) के लक्षणके विरोधके

---

१. रत्नश्री ३।१०६ : तल्लक्षणविरोधाद् दुष्टा हेयाश्च ताः प्रहेलिकाश्चेति दुष्टप्रहेलिकाः ।···अत एव समागतादिविलक्षणत्वादन्याश्चतुर्दश तैः पूर्वाचार्यैरधीता = निर्दिष्टा इति । १०७ : 'कथं तर्हि दुष्टप्रहेलिका ज्ञायन्ते, यथा वर्ज्येरन् ? न हि दुष्टतयाऽज्ञातानां परिहारः सम्भवति ।' इत्याशङ्क्य तत्प्रत्युपायमाह—'याः = प्रहेलिकाः, 'तु'-शब्दोऽर्थान्तरविवक्षायाम्, यथोक्तलक्षणविरहान्न विद्यते लक्षणमासामित्यलक्षणाः, ताः स्वयमेव दुष्टा ज्ञायन्ते; प्रतिनियतलक्षणव्युत्पत्तेरतल्लक्षणानां तदाभासताप्रतिपत्तेः । किं तासां प्रपञ्चप्रयासेन ?' इति ।

कारण वे दोषयुक्त और हेय हो जाती हैं। दोषयुक्त होनेके कारण ये **'समागता'** आदिसे विलक्षण (भिन्न प्रकारकी) हैं। उनके निश्चित लक्षणके न होनेके कारण ये प्रहेलिकाभास है, प्रहेलिकायें नहीं। अतः इनका विस्तार बतानेका प्रयास आवश्यक है। इस व्याख्यामें **'अलक्षणाः'** में 'नञ्' का अर्थ **'विरोध'** रत्नश्रीज्ञानको अभिप्रेत है। किन्तु वादीजीने 'नञ्' को **'अभाव'** अर्थ में बताया है : **अलक्षणाः—लक्षणर्वाजताः**। रङ्गाचार्य रेड्डीजीने भी इसी प्रकार 'नञ्' को 'शून्य' अर्थमें बताया है।[1] पर यदि ये प्रहेलिकाके लक्षणसे 'वर्जित' या 'शून्य' ही हैं, तो प्रहेलिका ही कैसे हैं? जब प्रहेलिकायें ही नहीं हैं, तो दुष्ट कैसे होंगीं? इसलिये रत्नश्रीज्ञानकी व्याख्या ही उचित है। अतः निष्कर्ष यही है कि जिस भी प्रकारकी पहेलीका लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असम्भवमें से अन्यतम दोषसे युक्त होगा, वह भले प्रहेलिकाका पूरा आनन्द न दे सके, प्रहेलिकाका आभास अवश्य देगी। अतः ऐसी पहेली **'दुष्ट'** पहेली कहलाती है।

(क) पहेलियोंके ये दोष पहेलियोंको हेय बना देनेके कारण कुछ गिने जानेके, आदर दिये जानेके, योग्य नहीं हैं। (ख) या 'वे केवल १४ ही हैं, यह नहीं कहा जा सकता। पूर्वाचार्योंने १४ बताये हैं। हमारी समझसे वे अनगिनत हैं। इसलिये उनके प्रपञ्चमें पड़ना अनावश्यक है। अतः आचार्य दण्डीका कथन है कि वे साधु (लक्षणसम्पन्न) पहेलियोंके ही उदाहरण देंगे।[2] परन्तु आचार्य यदि प्रहेलिकाओंके दोषोंके कुछ प्रकारोंका निरूपण कर देते, तो अच्छा तो होता ही, दोषप्रकरणकी समुचित प्रस्तावना भी इससे हो जाती। उन्होंने काव्यशरीरके साधु स्वरूपका निरूपण उसके समस्त शोभाकारक

---

१. प्रभा ३।१०७ : 'यास्त्वलक्षणाः'—समागतादिषोडश प्रहेलिका लक्षण-शून्याः, ता दुष्टा बोद्धव्याः। रेड्डीजीने इससे पूर्व १०६ की व्याख्यामें च्युताक्षरादिको 'दुष्ट सदोष प्रहेलिका' कहा है। पर यह रुद्रटसे प्रारब्ध समूची परम्पराके विरुद्ध है। च्युताक्षरादि चित्रालङ्कारके अन्तर्गत निर्दोष अभिधान-प्रकार हैं। विशेषार्थ आगे व्याख्या देखें।

२. रत्नश्री ३।१०७ : (क) दोषाः प्रहेलिकासम्भविनो हेयाः, प्रहेलिका-दोषा अपरिसङ्ख्येयाः। न लक्षणतो न लक्ष्यतो गुणवदादरेणाप्रतिपाद्यान् मन्यमानाः पश्यन्तः साध्वीरेव प्रहेलिका अभिधास्यामः।···यद्वा (ख) प्रहेलिकादोषा अपरापरदोषसम्भवेन 'चतुर्दश' इति इयत्तयाऽपरि-सङ्ख्येयाः। ततश्चातिप्रसङ्गान्नोच्यन्ते। इत्यभिप्रायेणोक्तं 'दोषान्०' इत्यादि।

धर्मोंको बताकर करनेके बाद अगले प्रकरणमें काव्यशरीरके दोषोंका निरूपण किया है, तो जैसे इससे अध्येताका कल्याण ही हुआ है, वैसे ही, प्रहेलिकाओंके साधु प्रकारके निरूपणके पश्चात् वे दुष्ट प्रहेलिकाओंका भी दिङ्मात्र प्रदर्शित कर देते, तो अध्येताका उपकार ही होता। लगता है कि आचार्य दण्डी यहाँ परिश्रमसे कतरा गये।

४. **प्रहेलिकाओंका इतिहास :** आचार्य दण्डीके अनुसार प्रहेलिकाका उपयोग परव्यामोहन है; वह शब्दके द्वारा सम्भव नहीं है, अपितु अर्थसे ही सम्भव है। शब्दकी गूढता भी अर्थको व्यामोहकारी बनायेगी। यही कारण है कि आचार्यने पदसन्धिसे सम्पन्न (१) **समागता**को भी **'गूढार्था'** बताया है। इसलिये प्रहेलिकाएँ आचार्य दण्डीके मतमें अर्थालङ्कार हैं। शब्दालङ्कार यमक आदिके प्रकरणमें तो दुष्कर चित्र अलङ्कार होनेसे दुष्कर चित्रमार्ग प्रकरणमें दी हैं, शब्दालङ्कार होनेके कारण नहीं।

परवर्ती आचार्योंमें **उद्भट** तो यमकपर ही मौन हैं। **वामन** भी प्रहेलिकाओंके विषयमें मौन हैं। इन दोनों आचार्योंने **दुष्कर चित्रमार्ग**का उल्लेख नहीं किया है। **आचार्य रुद्रट**ने इस प्रसङ्गमें चित्रमार्गके विषयको आचार्य दण्डीसे आगे बढ़ाया है : उन्होंने इसके (१) मात्राच्युतक, (२) बिन्दुच्युतक, (३) प्रहेलिका, (४) कारकगूढ, (५) क्रियागूढ़, (६) प्रश्नोत्तर भेद बताकर **'आदि'** शब्दसे अन्य चित्रालङ्कारोंकी दिशा उद्घाटित रखी है। इसके अतिरिक्त दण्डिप्रोक्त **परव्यामोहन**को रुद्रटने उतना महत्त्व नहीं दिया, अपितु दण्डी द्वारा बताये एक अन्य उपयोग **क्रीडा**पर ही बल दिया है। उनकी दृष्टि में कदाचित् परव्यामोहनका साध्य होना उचित नहीं है। अपितु उसे साधन होना चाहिये क्रीडाका, मनोविनोदका। यहाँ भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि रुद्रटने भी अर्थके कारण चमत्कार उत्पन्न करने वाले इन अलङ्कारोंको चित्रमार्गका विषय होनेसे ही यहाँ दिया है, शब्दालङ्कार होनेसे नहीं। **काव्यालङ्कार**के पञ्चम अध्यायका विषय **चित्रनिरूपण** है।[1] **चित्रमार्ग**के अन्तर्गत कुछ शब्दालङ्कार हैं। जैसे **चक्रबन्ध**से लेकर **सर्वतोभद्रबन्ध** तकके चित्रबन्ध (५।२-२३)। (१-२) **मात्राच्युतक** आदिमें मात्रा (स्वर) और बिन्दु (अनुस्वार, नासिक्य वर्ण) के च्युत होनेसे अर्थभेद हो जाता है,

---

१. भङ्ग्यन्तरकृत-तत्क्रम-वर्ण-निमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र, तच्चित्रम्॥ काव्यालङ्कार ५।१
इत्थं स्थितस्यास्य दिशं निशम्य शब्दार्थवित् क्षोदित चित्रवृत्तः।
आलोच्य लक्ष्यं च महाकवीनां चित्रं विचित्रं सुकविर्विदध्यात्॥ ३३

जिससे श्रोता व्यामूढ हो जाता है। इन दोनों चित्रालङ्कारोंमें अर्थभेदका निमित्त स्वर एवम् अनुस्वार शब्द (वर्ण) हैं। अतः इन्हें **शब्दार्थालङ्कार** कहना उचित है। (३) रुद्रटने प्रहेलिकाके दो भेद बताये हैं : (क) पदारूढ होनेसे स्पष्ट एवं निगूढ होनेसे प्रच्छन्न अर्थ वाली, (ख) अव्याहृतार्था (अनुक्त अर्थ वाली)।[1] इस विवरणसे स्पष्ट है कि यह **अर्थालङ्कार** है। व्यामोहकारी होनेसे **चित्र** (विस्मयजनक) है। रुद्रटने चित्रबन्धोंकी दुष्कर, सुकरके रूपमें कल्पना नहीं की है।

महाराज भोजने प्रहेलिकाके स्वरूपनिरूपणमें दण्डीकी दृष्टि न अपनाकर रुद्रटके निरूपणको व्यवस्थित किया है : उन्होंने (१) प्रहेलिकाका प्रश्नरूपमें होना आवश्यक माना; (२) रुद्रटके मात्रा-बिन्दुच्युतकोंका समाहार प्रहेलिकामें किया; (३) मात्रा और बिन्दुको अक्षरमात्र (वर्णमात्र) का उपलक्षक माना; (४) च्युतिके विपरीत वर्णदानका नवीन समावेश किया; (५) अक्षरोंका आकारविशेष (मुष्टि) के रूपमें विन्यास बताकर मुरजादि बन्धका प्रहेलिकामें सम्मिश्रण किया; (६) केवल अनुस्वार, विसर्ग आदिका विन्यास करके तथा स्वरव्यञ्जनोंका प्रयोग न करके निष्पन्न बिन्दुमती प्रहेलिकाकी उद्भावना की। ये पाँचों प्रकारकी प्रहेलिकाएँ शब्दमूलक होनेसे **शब्दालङ्कार** हैं। (७) अर्थके कारण व्यामोह वाली **अर्थवती** (छठी) प्रहेलिकाके भेदोपभेद भोजने नहीं दिये हैं।[2] दण्डीकी प्रहेलिकाएँ (१) **समागता**, (३) **व्युत्क्रान्ता** जैसी कुछेकको छोड़कर प्रायेण **अर्थवती** ही हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भोजने दण्डीकी दिशामें चिन्तन न करके रुद्रटकी दृष्टिको आधार बनाकर उसे अपनी स्वतन्त्र दृष्टिसे व्यवस्थित करके प्रहेलिकाको नये रूपमें देखा है।

भोजने रुद्रटके **क्रिया-कारकगूढ** भेदोंको चार और प्रकारोंका उपलक्षक मानकर यों प्रस्तुत किया है : (१) क्रिया, (२) कारक, (३) शेष सम्बन्ध, (४) पद, (५) अभिप्राय, (६) वस्तु (द्रव्य) के गोपनसे छह प्रकारके गूढबन्ध निष्पन्न होते हैं।[3] **गूढबन्धों**की प्रथम उद्भावना रुद्रटने ही की है। पर रुद्रटके मतमें ये **चित्रबन्ध**के अन्तर्गत आते हैं। जबकि भोजने इनका तथा

---

१. मात्रा-बिन्दु-च्यवनादन्यार्थत्वेन तच्च्युते नाम।
स्पष्ट-प्रच्छन्नार्था प्रहेलिकाऽव्याहृताऽर्था च ॥ काव्याल० ५।२५

२. प्रहेलिका=सकृत्प्रश्नः साऽपि षोढा च्युताक्षरा।
दत्ताक्षरोभयं, मुष्टिर्बिन्दुमत्यर्थवत्यपि ॥ सरस्वती० २।१३३

३. क्रियाकारकसम्बन्धे पदाभिप्रायवस्तुभिः।
गोपितैः षड्विधं प्राहुर्गूढं गूढार्थवेदिनः ॥ सरस्वती० २।१३५

प्रहेलिकाओंका निरूपण चित्र बन्धोंके प्रकरणकी समाप्तिके बाद किया है।[1] भोजने दण्डीकी (१) **समागता** पहेलीको पहेली न मानकर **शेषसम्बन्धगूढ-बन्ध** अलङ्कार माना है।[2] तत्त्वतः यदि देखा जाये, तो इन षड्विध गूढबन्धों का प्रयोजन परव्यामोहन तथा क्रीडा ही है। अतः ये 'प्रहेलिका' कहलानेके अधिकारी हैं। पर दण्डिद्वारा प्रस्तुत पूर्वाचार्योंके प्रहेलिकालक्षणोंकी आधार-भूत दृष्टिसे इन गूढबन्धोंकी दृष्टिमें अन्तर है। पूर्वाचार्योंकी १५ प्रहेलिकाओं की आधारभूत दृष्टिको अन्य दृष्टिका उपलक्षक यदि मान लिया जाये, तो ये भेद **अर्थवती** (गूढार्था) प्रहेलिकाके भेद माने जा सकते हैं। तथा इन्हें दण्डी की १५ प्रहेलिकाओंसे अतिरिक्त प्रहेलिकाएँ माना जा सकता है।

कलिकालसर्वज्ञ **आचार्य हेमचन्द्रने** (१) दण्डीके तृतीय परिच्छेदके प्रहेलि-काविषयोंको दण्डीकी दृष्टिके अनुकरणमें सादृश्य और आश्चर्यहेतुताके कारण चित्रालङ्कारमें तो माना ही है, (२) रुद्रटका अनुकरण करके **च्युत**, **गूढका** समावेश स्पष्टतः चित्रमें किया (३) और भोजका समन्वय करनेको प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका और दुर्वचक (दुःश्रव)[3]का भी चित्रमें ही समावेश किया है।[4] किन्तु

---

१. दुष्करत्वात् कठोरत्वाद्, दुर्बोधत्वाद् विनाऽवधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः॥ सरस्वती० २।१३०

२. सरस्वती० २।३६८ : सम्बन्धगूढं यथा—'न मयागोरसा०' (काव्यादर्श ३।१०८)। अत्र 'न मे आगोरसाभिज्ञं चेत' इति सम्बन्धिपदस्य 'मया' इति तृतीयाभ्रान्त्या गोपितत्वादिदं सम्बन्धगूढम्।

३. कामसूत्र १।३।१६ पर जयमङ्गलने ३० दुर्वाचकयोगा कलाकी व्याख्यामें काव्यादर्शके उल्लेखसे एक श्लोक उद्धृत करके उसकी व्याख्या की है। पर दण्डीके काव्यादर्शमें न दुर्वाचक बन्ध उपलब्ध है, और न जयमङ्गलोद्धृत-व्याख्यात श्लोक। इसी प्रकार ३३ काव्यसमस्यापूरण कलाकी व्याख्यामें भी काव्यादर्शके नामसे एक श्लोक उद्धृत करके उसकी व्याख्या की है। पर काव्यादर्शके उपलब्ध भागमें न समस्यापूर्ति उपलब्ध है और न यह उदाहरण। जयमङ्गलके कथनसे अनुमान किया जा सकता है कि काव्या-दर्शके अब अनुपलब्ध कलापरिच्छेद (३।१७१ में उक्त)में ये दोनों कलायें रही होंगी।

४. काव्यानुशासन, ५म अध्याय, पृष्ठ २५७ : स्वर-व्यञ्जन-स्थान-गत्याकार-नियम-च्युत-गूढादि चित्रम्। स्वरादीनां नियमः, च्युतगूढादिश्च चित्रं, सादृश्यादाश्चर्यहेतुत्वाद् वा चित्रम्। पृष्ठ २७२ : 'गूढादि' इत्यादिपदेन प्रश्नोत्तर-प्रहेलिका-दुर्वचकादि-परिग्रहः।

(१) न मया गो-रसाभिज्ञं चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि ?
अस्थान-रुदितैरेतैरलमालोहितेक्षणे ।। १०८ ।।

(१) हे कुछ-कुछ रक्तिम नयनों वाली (प्रिये), नहीं मैंने गोरस (दूध, दही, छाछ आदि) से परिचित मन (धारण किया है)। क्यों इतनी कुपित हो रही हो ? यह बिना बातके रोना-धोना मत करो ।। १०८ ।।

हेमचन्द्रने प्रहेलिकाओंको च्युत, गूढ आदिसे पृथक् रखकर प्राचीन परम्पराका अनुगमन किया है, आचार्य भोजका नहीं ।। १०७ ।।

(१) **समागता प्रहेलिका** इस उक्तिके यथाश्रुत पाठको '**मया गोरसाभिज्ञं**' के रूपमें लेनेसे उपर्युक्त असङ्गत अर्थकी प्रतीतिके कारण श्रोता उलझनमें पड़ जाता है कि मानवती प्रिया और उसके सम्मुख मनुहार करते दीन खड़े प्रियके बीच ये '**गो-रस**' (दूध, दही आदि) कहाँसे आ गया ? सिर खुजाकर सोचनेपर यदि उसे व्याकरणका अच्छा अभ्यास है, तो '**मे+आगो-रसाभिज्ञं**' सन्धिच्छेद समझ आ जायेगा कि अयादिसन्धिसे प्राप्त यकारका शाकल्यसम्मत लोप[1] कविने नहीं किया है। तब उसके ज्ञानचक्षु उन्मीलित होंगे : मेरा चित्त अपराध (अन्य स्त्रीगमन आदि) करनेमें आनन्दकी अनुभूतिका अभिज्ञ नहीं है, अर्थात् मैंने कोई अपराध नहीं किया है; तब प्रिये तुम काहे को नाराज़ हुई ? इस प्रकार यहाँ '**मे+आगो०**' पदोंमें सन्धि (शब्दधर्म)के कारण पदान्तरकी तथा उसके द्वारा अविवक्षित अर्थकी प्रतीति होनेसे श्रोताको व्यामोह हो जाता है। दो पदोंके समागम (सन्धानके) कारण यह सब होनेसे यह '**समागता**' प्रहेलिका है। यह शब्दके गोपनसे निष्पन्न होनेसे **शब्द-गूढा** है। रचनामें असुकर तथा अवबोधमें दुर्बोध होनेसे यह **दुष्कर** है और वैचित्र्ययुक्त होनेसे **चित्र** है। सन्धियुक्त शब्दप्रयोगसे इस शोभाके उत्पन्न होनेसे यह **शब्दालङ्कार** है।

भोजके मतमें इस प्रकारकी सन्धिसे शेष सम्बन्ध ('**मे**')का गोपन हो जाता है और कर्तृसम्बन्ध '**मया**' (कर्तरि तृतीयान्त) की भ्रान्ति होती है। अतः यहाँ **सम्बन्धगूढ** बन्ध है। भोजके अनुसार यह प्रहेलिका नहीं है। यह सम्बन्ध अर्थके रूपमें है। अतः दण्डीने इसे 'पदसन्धिके कारण गूढार्था' कहा है। व्यामोहका कारण असाधारण (अव्यवहित पूर्ववर्ती) कारण अर्थका गोपन है। उसका कारण पदसन्धिसे सम्बन्ध अर्थका गोपन या सम्बन्धिपदका गोपन है। इस प्रकार पदसन्धि प्रहेलिकाका आधार है ।। १०८ ।।

---

१. अष्टाध्यायी ६।१।७८ : एचोऽयवायावः। ८।३।१९ : लोपः शाकल्यस्य।

(२) कुब्जामासेवमानस्य यथा ते वर्धते रतिः ।
नैवं निर्विशतो नारीरमरस्त्री-विडम्बिनीः ॥ १०९ ॥

(३) दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कश-कण्टके ।
मुखं वल्गु-रवं कुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन् ॥ ११० ॥

(२) कुब्जा (कुबड़ी)का भोग करते हुए तुम्हारा आनन्द जैसे बढ़ता है, वैसे देवताओंकी स्त्रियोंकी विडम्बना करने वाली (अप्सराओंके समान सुन्दर) रमणियोंका भोग करते हुए नहीं (बढ़ता) ॥ १०९ ॥

(३) नालमें चूम रहा पद्मिनीके हंस कठोर काँटों वालेमें, मुखको सुन्दर बोली वाला करता हुआ, चोंचसे अङ्गोंको टकराता हुआ ॥ ११० ॥

---

(२) **वञ्चिता**—यहाँ 'कुब्जा' शब्दके प्रयोगसे आपाततः असङ्गत अर्थ प्रतीत होता है : अप्सरा जैसी सुन्दर रमणी तो अच्छी न लगे, और कुबड़ी मन मोहे, यह भी कोई बात है ! इससे शङ्का होती है कि 'कुब्जा' शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ (कुबड़ी)से भिन्न किसी अर्थमें होगा । तब ध्यान जाता है कि कहीं 'कान्यकुब्ज' अपरनाम 'महोदया' नामक नगरीको, अथवा कान्यकुब्जकी किसी स्त्रीको, ही सत्यभामाको सत्या, भामा[1] आदि कहनेके समान पूर्वपद-लोप करके 'कुब्जा' शब्दसे तो नहीं कहा है : कान्यकुब्ज नगरी (राजधानी) अथवा कान्यकुब्ज देशकी स्त्रीका उपभोग करते हुए तुम्हें जैसे निरन्तर वर्धमान आनन्द मिलता है, वैसे अप्सरासदृश सुन्दर रमणियोंके भोगसे नहीं मिलता । राजाकी पत्नीके रूपमें पृथ्वी अथवा राजधानीकी कल्पना कवि-समयमें प्रसिद्ध है । इस प्रयोगमें **कुब्जा**से विवक्षित नगरीका अथवा कान्यकुब्जकी स्त्रीका अन्य नगरियोंसे या स्त्रियोंसे अतिशय व्यक्त होता है ।

यहाँ 'कुबड़ी' अर्थमें प्रसिद्ध 'कुब्जा' शब्दका प्रयोग विवक्षित 'कान्य-कुब्जा' (कन्नोज, अथवा कन्नोजिया स्त्री)के अर्थमें करके श्रोताको छला गया है, भुलावेमें डाला गया है । अविवक्षितार्थक 'कुब्जा' शब्दसे विवक्षितार्थ 'कान्यकुब्जा' को छुपानेके कारण यह **अर्थगूढ** प्रयोग व्यामोहकारी हो गया है ॥ १०९ ॥

(३) **व्युत्क्रान्ता**—प्रकृत (११०वें) श्लोकमें विवक्षित अन्वय है : **वल्गु-रवं कुर्वन्, कर्कश-कण्टके दण्डे अङ्गानि घट्टयन्, हंसः तुण्डेन पद्मिन्या मुखं चुम्बति** । पर श्लोकमें प्रदत्त पदविन्याससे व्यामोहकारी और ही अर्थ प्रकट

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, स्वार्थिकाः, वार्तिक : विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः । देवदत्तो, दत्तो, देवः । सत्यभामा, भामा, सत्या ।

(४) **खातयः कनि काले ते स्फातयः स्फीत[1]-वल्गवः ।**
चन्द्रे साक्षाद् भवन्त्यत्र वायवो[2] मम चारिणः ।। १११ ।।

(४) हे कन्ये (कनि), तुम्हारे आह्लादकारी चरणमें (काले) शोभायमान, मनोहरतासे बजते हुए अथवा चञ्चल घुँघरू (खातयः) अनुभवमें आ रहे हैं। इस स्थितिमें मेरी हवा अस्थिर हो (खिसक) रही है ।। १११ ।।

होता है। इसका कारण पदोंका अतिव्यवहित प्रयोग है। इससे विवक्षित अर्थके अभिधानमें बाधा आती है ।। ११० ।।

(४) **प्रमुषिता**—'**खातयः कनि, काले ते०**' (१११) में '**ते**', '**मम**' और '**स्फीत**' को छोड़कर शेष सभी शब्द दुर्बोधार्थक हैं: 'खातयः' पद 'खाति' पुं०' प्रथमा, ब०व० है। यह शब्द प्रसिद्ध कोषोमें उपलब्ध नहीं है, न प्रयोगमें ही है। अपितु '**खस्य आकाशस्यायं खः शब्दः, तस्य अतिः सततप्राप्तिर्येषु; ते खातयः**' व्युत्पत्तिसे किङ्किणी, नूपुर, नेवर, घुँघरू घर्घरिका (भोज) अर्थमें कविको इष्ट है। **कनि** कन्यार्थक वैदिक '**कनी**'[3] का सम्बोधन ए०व० है। **काले** पद **काल्यते क्षिप्यते इति कालः पदम्, तस्मिन् चरणे**' अर्थमें है। यह दक्षिणकी चारों भाषाओंमें 'काल' या 'कालु' के रूपमें इस अर्थमें उपलब्ध है। संस्कृतमें इस अर्थमें प्रमुक्त नहीं है।[4] **स्फातयः** पद '**स्फायी ओप्यायी वृद्धौ**' (भ्वादि०)

---

१. यह रत्नश्रीसम्मत पाठ है। वादि, तरुण टीकाओंमें धृत व्याख्यात और सरस्वतीकण्ठाभरण १।१२८में उद्धृत श्लोकमें धृत और रत्नदर्पणमें व्याख्यात पाठ 'स्फाहं' है।

२. रत्नश्री, सरस्वतीक०, रत्नदर्पणमें 'वायवो' है। वादिटीका और तरुण-टीकामें 'तायवो' धृत एवं व्याख्यात है। 'चारिणः' केवल रत्नश्रीमें है। अन्य पूर्वोक्त सब स्थलोंमें 'धारिणः' है।

३. 'पुनस्तदा बृहति यत् कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा' (ऋ० १०।६१।५) आदि (१०,११,२१) में 'कन्या' अर्थमें 'कना' का तथा 'जारः कनीनां, पतिर्जनीनाम्' (ऋ० १।६६।४), 'पतिमकृणुतं कनीनाम्' (ऋ० १।११६ १०) आदि (ऋ०१।१५२।४, १६३।८; २।१५।७, ५।३।२) में 'कनी' का प्रयोग है। यह लौकिक संस्कृतमें प्रचलित नहीं है। 'कन्या' में धृत है।

४. 'कल गतौ सङ्ख्याने च' (चु०) 'नुदति, क्षिपतीत्येतावात्मने, कालयत्यपि' (आख्यातचन्द्रिका २।३।८६) से 'कर्मण्यण्' (अष्टा० ३।२।१) से निष्पन्न यह शब्द तेलुगुमे 'कालु', कन्नड, तमिल और मलयालयमें 'काल' रूपमें 'चरण' अर्थमें प्रसिद्ध है। रत्नदर्पण : कालश्चरणः कर्णाटदेशभाषा-ऽनुसारात्। 'कर्णाटदेश'से 'दक्षिण भारत' इष्ट है।

(५) **अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी[1] पञ्च-पल्लवा ।**
पल्लवे-पल्लवे चार्द्रा यस्याः कुसुम-मञ्जरी ॥ ११२ ॥

(५) इस बगियामें देखी मैंने पँचपतिया (एक) लतर
पत्ते-पत्तेमें कुसुममञ्जरी है जिसके पानीदार ॥ ११२ ॥

से क्तिन्से निष्पन्न **'स्फीताः'** पद 'वृद्धाः' अर्थमें निष्पन्न है ।[2] रत्नश्रीसे अन्यत्र उपलब्ध **स्फार्ह** शब्द टीकाकारोंके अनुसार 'मधुर', 'मनोहर' अर्थमें है ।[3] पर प्रसिद्ध नहीं है । **'वल्गु'** शब्द 'सुन्दर' अर्थमें तो प्रसिद्ध हैं, पर 'आवाज़' अर्थमें प्रसिद्ध नहीं है । **चन्द्र** 'चन्द्रमा' अर्थमें रूढ है । पर यौगिक 'आह्लादक अर्थमें प्रसिद्ध नहीं है । घुँघरुओंकी मधुर ध्वनिका अनुभव श्रवणसे और स्फातिसे लभ्य आकारवृद्धिका अनुभव आँखसे होता है । इन दोनोंको इकट्ठे **'साक्षाद् भवन्ति'**से प्रकट किया है । पर यह अभिव्यक्तिप्रकार प्रसिद्ध नहीं है । 'प्राण' अर्थमें **'वायु'** का प्रयोग भी दुर्बोध है । **तायु** का प्रयोग तो और भी दुर्बोध है । **चारिणः** (√चर्+णिनि) का 'अस्थिर' अर्थमें प्रयोग तो उतना दुर्बोध नही है, पर रत्नश्रीतर स्थलोंमें धृत-उद्धृत व्याख्यात **धारिणः** पद **'धृङ् अवस्थाने'** (तुदादि) के विपरीत है । यहाँ इस अर्थमें प्रयोग व्याख्यागम्य है : प्राणोंका स्वभाव सदा चलते रहना है; वे टिक गये हैं, अर्थात् चलना बन्द कर दिये हैं; इस प्रकार प्राण अस्थिर (अपने स्वभावसे बिचलित) हो गये हैं । यह प्रक्रिया भी सुबोध नहीं है । इस प्रकारकी दुर्बोधार्थ पदावली श्रोताको सिर खुजानेको बाध्य करनेको पर्याप्त है ।

इस प्रकारकी पदावली यद्यपि रूढिच्युति दोषसे युक्त प्रतीत होती है । तथापि परव्यामोहन प्रयोजनमें तात्पर्य होनेसे यहाँ यह दोष नहीं, अपितु गुण बन जाती है[4] ॥ १११ ॥

(५) **समान-रूपा**—**'अत्रोद्याने मया दृष्टा०'**(११२)में कविने ऐसे पदोंका प्रयोग किया है जिनके मुख्यार्थसे तो किसी लताका वर्णन है, पर विवक्षित

---

१. तिरुपति-सं० के मूलपाठमें तथा तरुणटीकामें 'मञ्जरी' पाठ है : अत्रोद्याने पञ्चपल्लवा मञ्जरी किसलय-मञ्जरी दृष्टा ।

२. अमरकोष ३।२।९ : स्फातिर्वृद्धौ ।

३. वादिटीका : स्फार्हो मधुरः । रत्नदर्पण : मनोहरः । तरुणटीका : स्फार्हवल्गवः स्फीतशब्दाः ।

४. यत्तु रूढिच्युतत्वेन प्रोक्तमन्यार्थसञ्ज्ञितम् ।
प्रहेलिकादिषु प्रायो गुणत्वं तस्य युज्यते ॥ सरस्वती० १।९४

(६) **सुराः सुरालये स्वैरं भ्रमन्ति दशनार्चिषा ।**
मज्जन्त इव मत्तास्ते सौरे सरसि सम्प्रति ॥ ११३ ॥

(६) शराब खेंचने वाले वे अब मस्त हुए सुरामय तालाबमें दन्तकान्तिसे डूबतेसे मदिरागारमें स्वच्छन्दतासे घूमते हैं ॥ ११३ ॥

अर्थ उसके गौण आरोपसे किसी सुन्दरीकी भुजाका वर्णन है : इस (प्रकृत रमणीके शरीर रूपी) उद्यानमें मैंने पाँच (अंगुलीरूपी) कोँपलों वाली (भुजलता) देखी है। इसके प्रत्येक (अंगुलिरूपी) पल्लवमें स्निग्ध (पानीदार, चमकीली नखरूपी) कुसुम-मञ्जरी है। इस प्रकार समानरूप वाले गौणार्थक पदोंसे ग्रथित यह प्रहेलिका '**समान-रूपा**' है।

'**वल्लरी**' शब्द अमरकोषके अनुसार '**मञ्जरी**' अर्थमें है। सम्भवतः इसी कारण तरुणवाचस्पतिने 'वल्लरी' के स्थानमे 'मञ्जरी' पाठकी व्याख्या 'किसलय-मञ्जरी' की है। पर 'वल्लरी' का प्रयोग इसी √वल्ल् से निष्पन्न 'वल्ली' (बेल, लता) अर्थमें कवियोंने किया है।[1] यहाँ भी वही अर्थ अभिप्रेत है : मञ्जरीके पत्ते नहीं होते, किसलयोंपर मञ्जरीका आरोप विचित्र है; मञ्जरीमें पुनः कुसुममञ्जरी भी नहीं होती; 'लता'में यह सब सम्भव है।

वादी जङ्घालदेवने **वल्लरीसे** नारीकी **देहलता** अर्थ लिया है। उस देहलताके 'दो हाथ, दो पाँव और अधरोष्ठ', ये पाँच पल्लव हैं। इनमें हाथ-पाँवकी अंगुलियाँ कुसुम हैं, उनके कान्तिमान् नख मञ्जरियाँ हैं। अधरोष्ठ कुसुमके दन्तप्रभा मञ्जरी है। रत्नश्रीज्ञानने भी 'वल्लरी'से 'स्त्री'को ही लिया है। पर 'पल्लव' से 'अंगुलियाँ' और 'कुसुममञ्जरी'से 'नख' लिये हैं। वादी जीकी व्याख्या अधिक मनोरम है ॥ ११२ ॥

(६) **परुषा**—'**सुराः सुरालये स्वैरं**' (११३) में ओंठोंसे जाम लगाये मदमस्त सुराविक्रेताओंके अपने शराबखानेमें घूमनेका वर्णन लोकमें अप्रसिद्ध किन्तु व्याकरणकी लाठीसे हाँके हुए (शास्त्रमात्रसिद्ध **सुरां कुर्वन्तीति सुराः**, सुरा+णिच्+अच् सुराः, पुं०, प्र०, ब० व०,[2] **सुराया इदं सौरं, तस्मिन् सौरे**) शब्दोंसे किया है। होंठोंसे लगाये जाममें दाँतोंकी परछाँई पड़ती है, तो लगता है जैसे वे उस जाममें डुबकी लगा रहे हैं ॥ ११३ ॥

---

१. तनुरभिलषितं क्लमच्छलेन व्यवृणुत वेल्लितबाहुवल्लरीका ॥ माघ ७।७२

२. 'तत्करोति, तदाचष्टे' (वार्तिक) से णिच् तथा 'नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (अष्टा० ३।१।१३४) से अच् होता है।

(७) नासिक्य-मध्या, परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥ ११४ ॥

(७) बीचमें नासिकासे उच्चरित वर्ण वाली, दोनों ओर चार (दो-दो) वर्णोंसे सुशोभित कोई नगरी है, जिसमें आठ वर्णोंसे युक्त नाम वाले राजा हैं ॥ ११४ ॥

(७) **सङ्ख्याता**—'**नासिक्यमध्या परितश्०**' (११४) में किसी राजधानी का वर्णन उसके नाम और शासकोंके नामका निर्देश सङ्ख्या शब्दोंके प्रयोगसे करके किया है। तमिलनाडूकी नगरी **काञ्ची** है। इसके मध्यमें नासिक्य वर्ण 'ञ' है। दोनों ओर मिलाकर चार वर्ण—ञ्' के पहले '**का**' (क्+आ) और बादमें '**ची**' (च्+ई) – हैं। इसके राजाओंके नाममें आठ वर्ण हैं। रत्नश्रीज्ञान और तरुण वाचस्पतिने इससे '**पल्लवाः**' (विसर्गसहित आठ वर्ण) का ग्रहण किया है। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश तथा जीवानन्द विद्यासागरने 'पुण्ड्रक' वंशके राजाओंका ग्रहण किया है। उन्होंने 'पल्लवाः'में विसर्ग (प्रथमाबहुवचनमें लभ्य) का वर्णोंमें ग्रहण इनके अयोग-वाह होनेसे नहीं किया है।[1] इतिहासके अनुसार ४थीसे ९वीं शती तक काञ्ची पल्लवोंकी राजधानी रही है।[2] रही बात अयोगवाहों ('अ' आदि स्वरोंके योग=संबन्धके वाहकों) को वर्ण माननेकी, शौनक और पाणिनिने अनुस्वार, विसर्ग, उसके भेदों जिह्वामूलीय, उपध्मानीयको वर्ण माना है।[3]

पल्लवोंके लिये **अष्टवर्णाः** योगका प्रयोग सिंहविष्णु पल्लवके पुत्र 'मत्तविलास', 'विचित्रचित्त' के नामोंसे भी प्रसिद्ध महेन्द्रवर्मा पल्लव (५९० ई० से ६३० ई०) के मामन्दूर शिलालेखमें भी मिलता है। अतः शब्दोपात्त तथा न्यायोपात्त होनेसे 'पल्लवाः' ही 'अष्टवर्णाह्वय नृप' हैं, 'पुण्ड्रक' नहीं। पुण्ड्रकोंका काञ्चीसे संबन्ध नहीं रहा है। वे तो प्राचीन कालमें प्रेमचन्द्र तर्कवागीशके देश बंगालसे सम्बद्ध रहे हैं।

यहाँ सङ्ख्याके प्रयोगसे व्यामोह उत्पन्न किया गया है। दण्डीके इस भेद

---

१. प्रभा : तत्र 'पल्लवा' इत्यत्र वर्णगणनायां विसर्जनीयस्यायोगवाहत्वेन गणनमनुचितमिति तेषामभिप्रायः स्यात्।

२. नीलकण्ठ शास्त्री, ए हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया, अष्टम अध्याय।

३. ऋक्प्रातिशाख्य १।६ : सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव। १।३८-३९ भी देखें।
त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः। पाणिनीयशिक्षा ३
अनुस्वारो विसर्गश्च ⌣क ⌣पौ चापि पराश्रितौ ॥ ५

(८) गिरा स्खलन्त्या नम्रेण शिरसा दीनया दृशा ।
तिष्ठन्तमपि सोत्कम्पं वृद्धे, मां नानुकम्पसे ॥ ११५ ॥

(९) आदौ राजेत्यधीराक्षि, पार्थिवः कोऽपि गीयते ।
सनातनश्च, नैवासौ राजा, नैव सनातनः ॥ ११६ ॥

(८) लड़खड़ाती वाणीसे, झुके सिरसे, दीन दृष्टिसे, कँपकँपाते खड़े हुए भी मुझपर अरी बुढ़िया, तू कृपा क्यों नहीं करती ? ॥ ११५ ॥

(९) हे चञ्चल चितवन वाली, कोई पार्थिव आदिमें 'राजा' के रूपमें कहा जाता है, और सनातन भी (कहा जाता है) । (किन्तु) वह न ही 'राजा' है, न ही 'सनातन' है ॥ ११६ ॥

को उपलक्षक माना जा सकता है वर्णोंके स्थाननिर्देशसे व्यामोहकारी प्रहेलिकाका' ॥ ११४ ॥

(८) **प्रकल्पिता**—प्रकृत उदाहरण (श्लोक ११५)में इस प्रकारसे कथन किया गया है कि उससे विवक्षित अर्थसे भिन्न अर्थका आभास होता है। विवक्षित अर्थ है : कोई दरिद्र अपनी दीन अवस्थाका वर्णन करता हुआ लक्ष्मीको (क) पुराण पुरुषोत्तमकी वधू[2] होनेसे वृद्धा, अथवा (ख) वृद्धि-स्वभावा होनेसे 'वृद्धा' शब्दसे अथवा (ग) 'वृद्धि' (समृद्धि) शब्दसे सम्बोधित करके उससे शिकायत करता है कि वह उसपर दया क्यों नहीं करती ? परन्तु इससे भिन्न अर्थ यह आभासित होता है कि कामका मारा कोई बुढऊ (छोकरा नहीं डोकरा) किसी बुढ़िया (छोकरी नहीं डोकरी) से प्रेमकी भिक्षा माँग रहा है । अतः यह **प्रकल्पिता** है ॥ ११५ ॥

(९) **नामान्तरिता**—प्रकृत (११६वें) श्लोकमें पार्थिवको पहले 'राजा'

---

१. य एवादौ, स एवान्ते, मध्ये भवति मध्यमः ।
अस्यार्थं यो न जानाति, तन्मुखे तं ददाम्यहम् ॥
यहाँ 'जो ही आदिमें है, वही अन्तमें है, बीचमें बीच वाला है । जो इसका अर्थ नहीं जानता, उसके मुँहमें उसे देता हूँ ।' कथन व्यामोहकारी है । समाधान है : 'य' ही आदि में है, 'स' ही अन्तमें है, और 'एवादौ' तथा 'एवान्ते' के बीच वाला 'व' बीचमें है : यवस । जो इत्तीसी बात नहीं जानता, उस अज्ञानी पशुके मुँहमें मैं उसे ('यवस', 'घास') देता हूँ ।

२. पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते । काव्यादर्श २।३४३

(१०) हृत-द्रव्यं जनं त्यक्त्वा धनवन्तं व्रजन्ति काः ।
नाना-भङ्गि-शताकृष्ट-लोका ? वेश्या न दुर्धराः ॥ ११७ ॥

(१०) नाना प्रकारके हाव-भावोंके सैकड़ों प्रकारोंसे लोगोंको आकृष्ट करने वाली कौन ले लिये गये द्रव्य (धन) वाले लोगोंको छोड़कर धनवान्‌के पास जाती हैं ? काबूमें आनेमें कठिन वेश्याएँ नहीं ॥ ११७ ॥

और 'सनातन' कहकर फिर उसका निषेध किया है । इससे श्रोताकी बुद्धि भ्रान्त हो जाती है । उसका समाधान निम्न प्रकारसे होगा : 'पार्थिव' से यहाँ 'पृथिवीपति' अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु 'वृक्ष' अभीष्ट है ।[1] कोई वृक्ष ऐसा है, जो आरम्भमें तो 'राजा' है, और वह (स) नहीं (न) अतन ('तन' शब्दसे रहित) है (स न अतनः च न), अर्थात् 'अतन' है : राजन्+अतन= राजातन है । यह 'राजातन' वृक्ष है, न राजा (भूमिपति) है, और न 'सनातन' (नित्य) है ।

कोषोंके अनुसार **क्षीरिका** अपरनाम **पियाल, खीरणी** वृक्षको मीठे फलों के कारण राजभोग्य होनेसे 'राजादन' कहते हैं । दक्षिणकी भाषाओंमें वर्गोंके प्रथम तीन वर्ण एक-दूसरेके स्थानमें प्रयुक्त हो जाते हैं । अतः दक्षिणमें इसे 'राजातन' भी कहते हैं । यह वर्तनी संस्कृतमें भी स्वीकृत हो गई थी ।[2] इसी 'राजातन' वृक्षके नाममें नाना अर्थोंकी विधि और निषेधके रूपमें कल्पना इस उक्तिमें की गई है । अतः यहाँ **'नामान्तरिता'** प्रहेलिका है ॥ ११६ ॥

(१०) निभृता—प्रकृत ११७वें श्लोकमें कविने जो उक्ति प्रस्तुत की है, वह श्रोताको अर्थके कारण व्यामोहकारी है । क्योंकि इसमें आपाततः प्रतीत होने वाले वेश्याके धर्मोंके समान धर्म वाले पदार्थको छुपाकर कहा है ।

रत्नश्रीज्ञान, वादी जङ्घाल देव और तरुण वाचस्पतिने उक्त धर्मोंकी समानता श्रीसे मानी है : स्थावर, जङ्गम गज, रत्न, भूमि, धन-धान्य आदि नाना प्रकार वाली लक्ष्मी नष्ट-द्रव्य मनुष्यको छोड़कर धनवानको चली

---

१. 'पार्थिव' की दो व्युत्पत्तियाँ हैं : (१) पृथिव्या विकारः, 'पृथिव्या ञाञौ' (वार्तिक ४।१।८५); (२) पृथिव्या ईश्वरः, 'सर्वभूमि-पृथिवीभ्यामणञौ' (अष्टा० ५।१।४१), 'तस्येश्वरः' (४२) । पार्थिवो नृपतौ, भूमिविकारे पार्थिवोऽन्यवत् (विश्वकोष) ।

२. 'राजादनं प्रसरको राजातनः' इति वाचस्पतिः (अमरकोष २।४।३५ पर रामाश्रमी) ।

(११) जित-प्रकृष्ट-केशाख्यो यस्तवाभूमि-साह्वयः ।
असौ मामुत्कमधिकं करोति कलभाषिणि ॥ ११८ ॥

(१२) शयनीये परावृत्य शयितौ कामिनौ रुषा ।
तथैव शयितौ रागात् स्वैरं मुखमचुम्बताम् ॥ ११९ ॥

(११) हे मधुबयनि, तुम्हारा जो प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) केश नाम वालेको जीतने वाला है, तथा जो भूमिरहित नाम वाला है, वह मुझे बहुत उत्कण्ठा-युक्त (बेचैन करता है) ॥ ११८ ॥

(१२) क्रोधके कारण पलट करके (एक दूसरेकी ओर पीठ करके) सोये हुए प्रेम करने वाले दोनों उसी प्रकार सोये हुए वे स्वच्छन्दतासे मुँह चूमने लगे ॥ ११९ ॥

जाती हैं । वे अपनी नाना प्रकारकी वैभवमय भङ्गियों (भावों) से असङ्ख्य लोगोंको आकष्ट करती हैं । पर उन्हें रोक पाना कठिन होता है । इस प्रकार श्री वेश्या नहीं हैं, किन्तु वेश्याके समानधर्मा हैं । इस अर्थमें क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती । प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, रङ्गाचार्य रेड्डी, जीवानन्द विद्या-सागर और डा०धर्मेन्द्रकुमार गुप्त आदिने समाधान नदीपरक अर्थसे माना है : नाना प्रकारकी सैकड़ों लहरोंसे लोगोंको लील लेने वाली, 'क' (जल) वाली, दुर्निवार (नदियाँ) द्रव्य (द्रु=वृक्षके विकार शाखा, तना आदि) का हरण कर लिये गये जनयुक्त मैदानी भूभागको छोड़कर धनवान् (रत्नाकर) के प्रति गमन करती हैं । इस व्याख्यामें क्लिष्टता अधिक है ॥ ११७ ॥

(११) **समान-शब्दा**—प्रकृत ११८वें श्लोकमें प्रसिद्ध 'प्रबाल' को 'प्र+बाल' में तोड़कर 'प्रकृष्ट (प्र) केश (बाल')' से कल्पित पर्यायसे कहा है : जो प्रवाल (मूँगे अथवा कोँपल) से उत्कृष्ट है । 'भूमि' शब्द 'धरा' का पर्याय है । अतः 'अभूमि=अ-धर नाम वाला (अधरोष्ठ)' इस प्रकार, पर्याय-कल्पना की गई है । सुन्दरीके प्रवालके समान रक्तवर्ण अधरकी प्रशंसाको इस प्रकार कल्पित पर्यायके द्वारा घुमाफिराकर कहनेसे यहाँ **समान-शब्दा** प्रहेलिका है ॥ ११८ ॥

(१२) **सम्मूढा**—प्रकृत ११९वें श्लोकमें कविने 'उसी प्रकार सोये हुए प्रेमी-प्रेमिका मुँह चूमने लगे,' कहकर भी व्यामोहको बनाये रखा है : जैसे सोये हुए थे, वैसे ही सोये हुए वे मुँह कैसे चूम सकते हैं ? '**तथैव**' का अर्थ है

---

१. 'बवयोरभेदः' धारणाके कारण 'वाल=बाल' अभीष्ट है ।

(१३) **विजितान्न-भव-द्वेषि-गुरु-पाद-हतो जनः ।**
हिमापहामित्र-धरैर्व्याप्तं व्योमा'भिनन्दति ? ।। १२० ।।

(१३) पक्षी द्वारा जीते हुए अन्न (भक्षणीय पदार्थ) वालेसे जनमने वाले को द्वेष करने वालेके पाँवोंसे हत (लतियाया हुआ) आदमी बर्फको नष्ट करने पालेके शत्रुको धारण करने वालोंसे व्याप्त आकाशका अभिनन्दन करता है ।। १२० ।।

'वैसे ही' । श्लोकके पूर्वार्धमें '**शयितौ**' की पूर्वक्रिया '**परावृत्य**' दी है । '**तथैव**' से '**परावृत्य**' का ही परामर्श है : पीठफेरकर सोये हुओंने जब वैसे ही (परा-वर्तन) किया, तो उनके मुँह अपने आप आमने-सामने हो गये, और राग के कारण स्वैर (आवेशपूर्ण) चुम्बन सम्भव हो गया । इस प्रकार यहाँ '**तथैव**' से साक्षात् निर्देश होते हुए भी अर्थके विषयमें सम्मोह बना रहत्ता है । अतः यह **सम्मूढा** प्रहेलिका है ।[2]

शयितौ पद **शीङ् स्वप्ने** (अदादि०) से अकर्मक होनेके कारण कर्तृवाक्य में 'क्त' से निष्पन्न 'शयित'का एकशेष है : शयितश्च शयिता च ।[3] **कामिनौ** —कामोऽनुरागोऽस्त्यस्येति कामी । कामी च कामिनी चेति कामिनौ (एक-शेष ।। ११६ ।।

(१३) **पारिहारिकी**—प्रकृत १२०वें श्लोकमें 'ग्रीष्मके सूर्यकी किरणोंसे

---

१. 'हिमापहा···व्योम' को भामहने 'अवाचकत्व' दोषके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है । और भोजने समूचे श्लोकको 'क्लिष्ट' नामक पददोषके उदाहरणके रूपमें :
'हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम् ।
साक्षादरूढं वाच्येऽर्थे नाभिधानं प्रतीयते ।। काव्याल० १।४१
दूरे यस्यार्थसंवित्तिः क्लिष्टं नेष्टं हि तत् सताम् । सरस्वती० १।११
'विजितात्म···नन्दति ।।' अत्र··· व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टमेतत् ।

२. दण्डीको इस भावकी प्रेरणा कदाचिद् अमरुशतकके निम्न श्लोकसे मिली है :
एकस्मिञ्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषोर्
भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ।। २१

३. अष्टा०३।४।७२ : गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थाऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यति-भ्यश्च । १।२।६४ : सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । ६७ : पुमान् स्त्रिया ।

सन्तप्त मनुष्य मेघाच्छादित आकाशका अभिनन्दन करता है।' इस अर्थको ऐसे पदोंसे कहा है, जो सम्बन्धोंकी परम्परासे सूर्य और मेघोंका अभिधान करते हैं : वैदिक संहिताओंमें उल्लेख है कि श्येन (बाज) देवराज इन्द्रके लिये सोम लाता है।[1] इतिहास-पुराणमें इस कथाका रूप बदल गया : गरुड देवराज इन्द्रसे अमृतकलश जीत लाये[2]। इसी कथाके आधारपर दण्डीने 'वि=पक्षीने जिसका अन्न जीत लिया है, वह **'वि-जितान्न**=इन्द्र' कहा है। उससे **भव**=जन्म है अर्जुनका। उसका **द्वेषी**=शत्रु कर्ण है। उसका **गुरु**—पिता सूर्य है। इस प्रकार 'सूर्य' अर्थको नाना सम्बन्धोंके योगसे बताया है। इसी प्रकार **हिम**—बर्फका **अपह** विनाशक अग्नि है। उसका **अमित्र**—शत्रु जल है। **धर** उसे मेघ धारण करते हैं। इस तरह **'मेघैः'** या **'जलधरैः'** कहनेके लिये सम्बन्धोंकी लम्बी परम्पराका प्रयोग किया गया है। अतः वास्तविक सञ्ज्ञापदका परिहार करके व्यामोह करनेके कारण यहाँ **'पारिहारिकी'** नामक प्रहेलिका है॥ १२०॥

---

१. ऋ० ३।४३।७ : इन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण आ यं ते श्येन उशते जभार, ४।१८।१३: अधा मे श्येनो मध्वा जभार। २६।६ : ऋजीषी श्येनो ददमानो अंशुं पदावतः शकुनो मन्द्रं मदम्। सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय॥ २७।४। ६।२०।६ : प्र श्येनो न मदिरमंशुमस्मै शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्। ८।८२।९ : यं ते श्येनः पदाभरत् तिरो रजांस्यस्पृतम्। पिबेदस्य त्वमीशिषे॥ काठकसं ३७।१४ में इन्द्र ही श्येनका रूप धारण करके शुष्ण नामक दानवके मुखसे अमृतको चुराकर लाये बताये हैं : असुरेषु तर्ह्यमृतमासीच्छुष्णे दानवे। तच्छुष्ण एवान्तरास्येऽबिभः।...तस्येन्द्रः श्येनो भूत्वाऽऽस्यादमृतं निरमुष्णात्।

२. वैदिक सुपर्ण और गरुत्मान् ऋग्वेदीय श्येनके ही पर्याय हैं। श्येन द्वारा सोमाहरणकी कथा ब्राह्मणोंमें सुपर्ण (गरुड) द्वारा सोमाहरणमें बदल गई थी : ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधिष्णोः। अन्तः पतत् पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद् वैः (ऋ० ४।२७।४) तुलना करें जैमिनीय ब्राह्मण १।३५५ : सोमं वै राजानं यत् सुपर्ण आजहार। तस्य यत् पर्णमपतत्, स एव पर्णोऽभवत्। महाभारत आदिपर्व ३०।४०-४४ तथा ३२-३३ अध्याय देखें।'
समुत्पाट्यामृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान्॥ आदिपर्व ३३।१०

(१४) न स्पृशत्यायुधं जातु, न स्त्रीणां स्तन-मण्डलम् ।
अमनुष्यस्य कस्यापि हस्तोऽयं न किलाफलः ॥ १२१ ॥
(१५) केन कः कस्य सम्भूय, सर्वकार्येषु सन्निधिम् ।
लब्ध्वा, भोजन-काले तु यदि दृष्टो निरस्यते ॥ १२२ ॥

(१४) न छूता शस्त्र कभी यह, न रमणीका स्तन-मण्डल (छूता है) । मानवसे अन्य किसी का हाथ यह, नहीं प्रसिद्ध है निष्फल ॥ १२१ ॥

(१५) किसके साथ कौन किसका मिलकर, सब कार्योंमें उपस्थिति पाकर (भी) अगर भोजनके समय दिख जाये, तो हटाया जाता है ? ॥ १२२ ॥

---

(१४) **एकच्छन्ना**—१२१वें श्लोकमें किसी वस्तुके हाथका तो वर्णन किया है, पर वह किसका है, यह छुपाया गया है । मनुष्यके हाथकी तीन ही सार्थकतायें हैं : (१) शूरवीर पुरुषका हाथ शस्त्र धारण करता है, (२) कामी पुरुषका हाथ कामिनी-कुच-मर्दनमें सार्थकता पाता है, और (३) दानीका हाथ दानमें । किसी पदार्थका यह हाथ इन तीनों ही गुणोंसे विधुर है, किंतु निष्फल नहीं है । ऐसा यह हाथ किसका है ? यह प्रश्न अनुत्तरित ही है । इस प्रकार (एक आश्रय, हस्तवान्) का गोपन करनेसे यह **एकच्छन्ना** है । समाधान यह है : एरण्डको 'गन्धर्व' नामक मृगविशेषके हाथके समान आकार वाले पत्तोंसे युक्त होनेके कारण 'गन्धर्व-हस्तक' कहते हैं ।[1] एरण्ड मनुष्येतर होनेसे अमनुष्य है । उसका हाथ (पत्र) आयुधस्पर्श, कामिनी-कुच-मण्डल-स्पर्श, दान नहीं करता । किंतु अतः इसमें फल होते हैं । अतः यह अफल नहीं है ॥१२१॥

(१५) **उभयच्छन्ना**—१२२वें श्लोकमें किसी पदार्थके कार्योंका तो वर्णन किया है, पर वह क्या है, कहाँ, किसके आश्रित है, ये आश्रय और आश्रयी दोनों बातें छुपाई गई हैं । अतः **उभयच्छन्ना** पहेली है । समाधान यह है : क (शिर)[2] के साथ (आश्रयाश्रयि भावसे) सम्बद्ध होकर स्थित ईश (विधाता) अर्थात् केश है । यह स्नान आदि सब माङ्गलिक और अमाङ्गलिक कार्योंमें वर्धन वपन आदिके रूपमें सन्निधि (विशिष्ट स्थान) पाता है । किन्तु भोजन के समय अगर एक भी बाल दिखलायी देता है, तो अमेध्य तथा अरुचिकर होनेके कारण उसे हटाना पड़ता है ॥ १२२ ॥

---

१. अमरकोष २।४।५०-५१ : अथ व्याघ्रपुच्छ-गन्धर्वहस्तकौ ॥ एरण्ड उरुबूकश्च । रामाश्रमी : गन्धर्वस्य मृगभेदस्य हस्त इव पत्रमस्य ।

२. अमर० ३।३।५ : मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः, कं शिरोऽम्बुनोः ।

(१६) **सहया सगजा सेना सभटेयं न चेज्जिता ।**
अमातृकोऽयं मूढः स्याददक्षरज्ञस्तु नः सुतः ।। १२३ ।।
सा नामान्तरिता-मिश्र-वञ्चिता-रूप-योगिनी ।
एवमेवेतरासामप्युन्नेयः सङ्कर-क्रमः ।। १२४ ।।

(१६) घोड़ों सहित, गजों सहित, सैनिकों वाली यह सेना अगर नहीं विजय की, बिना माँ वाला यह मोहग्रस्त हो जाये, किन्तु जो अक्षरोंको जानने वाला (पढ़ा-लिखा) है, वह हमारा बेटा हो जाये ।। १२३ ।।

वह उपर्युक्त प्रहेलिका (६) नामान्तरितासे मिली हुई (२) वञ्चिताके रूप (लक्षण)के योग वाली सङ्कीर्ण है । इसी प्रकार अन्य प्रहेलिकाओंके भी मिश्रण का प्रकार समझ लेना चाहिये ।। १२५ ।।

---

(१६) **सङ्कीर्णा**—प्रकृत श्लोकमें चतुरङ्गिणी सेनाके तीन अङ्गों अश्व, गज, पत्ति (पैदल) का कथन करके इसे न जीत पाने वालेको अमातृक (बिना माँका) तथा मूढ बताया है । जो अक्षरोंका जानकार है, उसे कविका प्रिय पुत्र बताया है । यह कथन व्यामोहकारी है । इसका समाधान यह है : ह, य, ग, ज, इ, न, स, भ, ट, आ तथा अनुस्वार वर्णोंसे युक्त वर्णमाला[1] (मातृका) अगर जीती नहीं है, उसका सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, तो वह अमातृक—मातृका—(वर्णमाला)से रहित मनुष्य मूढ होता है । किन्तु जो अक्षरों (वर्णों) को जानता है, वह हमें बेटेके समान प्रिय है ।

इस उदाहरणकी सङ्गति अगले श्लोकमें की है ।। १२३ ।।

सङ्कीर्ण प्रहेलिकाकी सङ्गति —यहाँ 'अमातृकः' नामपदमें (१) **'न विद्यते माता यस्य, स'**, (२) **'न विद्यते मातृका वर्णमाला यस्य, सः'** के रूपमें नाना अर्थोंकी कल्पना तो है ही, 'मातृका' शब्द वर्णमाला अर्थमें निरूढ है और 'माँ' अर्थमें निगूढ है । हय, गज, सेना, भट शब्द अन्य अर्थोंमें रूढ हैं, किन्तु उनकी अन्य अर्थमें कल्पना करके श्रोताका प्रतारण किया गया है । नाममें अन्यार्थ-कल्पना तथा अन्यत्र रूढका अन्य अर्थमें प्रयोग एक दूसरेपर आधारित है : अन्यार्थकल्पना अङ्ग है, वञ्चना मुख्य है—अन्यार्थकल्पनाके द्वारा रूढसे अन्य अर्थमें प्रयोग किया गया है । अतः (६) **नामान्तरिता**से मिली हुई (२) **वञ्चिताके** रूपसे योग (सम्बन्ध) है । इस लिये यह **सङ्कीर्ण** है ।

---

१. इस उक्तिमें ग, ज, ट, न, भ वर्ण स्पर्शोंके पाँच वर्गोंके, य अन्तस्थोंका, स, ह ऊष्मोंके एवम् आ और इ स्वरोंके तथा अनुस्वार अयोग-वाहोंका प्रतिनिधि हैं ।

इसी प्रकार अन्य भेदोंका भी परस्पर मिश्रण हो सकता है। सुधीजन उन्हें प्रयोगोंमें स्वयम् अभ्यूहित करें। रत्नश्रीज्ञानने (१) समागता और (३) व्युत्क्रान्ताका, (५) समानरूपा और (११) समान-शब्दाका तथा (१३) पारिहारिकी और (८) प्रकल्पिताका **सङ्कीर्ण** भेद उदाहरणसे प्रस्तुत किया है।[1] दोसे अधिक प्रहेलिकाओंका भी सङ्कर इस कथनसे उपलक्षित है।

तिरुपतिसंस्करण तथा रेड्डीसंस्करणमें यहाँ कुछ श्लोक और दिये हैं, जिनसे तृतीय परिच्छेदकी समाप्ति तथा चतुर्थका आरम्भ सूचित होता है। तिरुपतिसंस्करणमें तो तीसरा और चौथा परिच्छेद पृथक्-पृथक् दिये भी हैं। किन्तु तीनों प्राचीन टीकाओंमें इन श्लोकोंके अस्तित्वसे परिचयका कोई चिह्न नहीं है। तरुणवाचस्पतिने **प्रहेलिका**का उपसंहार १२४वें श्लोकपर बताया है। ये उपर्युक्त श्लोक यहाँ उन्हें उपलब्ध रहे होते, तो प्रहेलिकाके उपसंहार की उत्थानिका उन श्लोकोंके पूर्व दी होती। चतुर्थ परिच्छेदका प्रारम्भ भी पूर्व परिच्छेदोंकी शैलीमें ही वादीजीने मङ्गलाचरणसे, और तरुणवाचस्पतिजीने पूर्वापरसम्बन्धकथनके द्वारा किया होता। इससे प्रकट होता है कि तृतीय परिच्छेदकी समाप्तिके तथा चतुर्थके प्रारम्भके सूचक ये श्लोक इन लोगोंके समय तक काव्यादर्शका अंश नहीं बन पाये थे। कालान्तरमें प्रक्षिप्त हुए हैं। अतः काव्यादर्शके उपलब्ध अंशमें तीन परिच्छेद ही प्रमाणिक हैं। चार परिच्छेदोंमें विभाजन प्रामाणिक नहीं है।

३।१७१ में उक्त '**कलापरिच्छेद**'को आचार्य रत्नश्रीज्ञानने '**चतुर्थः कलापरिच्छेदोऽस्य दण्डिनोऽस्ति। स त्विह न प्रवर्तते।**' कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थका प्रकृत परिच्छेद सारा एक ही है। तृतीय-चतुर्थमें विभाजित नहीं है। '**कलापरिच्छेद**' पर विचार उक्त स्थलमें देखें॥ १२४॥

---

१. सुराप्रयोगे प्रसृता विप्राः शूद्रान्नभोजिनः।
आम्नायाध्ययनं त्यक्त्वा युध्यन्तः पाप(माश्रिताः)॥ समागता-व्युत्क्रान्तयोः संकरः। विशालेऽत्र गिरौ दृष्टो गिरिर्न सक्तनिर्झरः।
यश्चार्क(पिशितासा)ख्यो दोलायेत प्रतिक्षणम्॥ समानरूपा-समान-शब्दयोरयं संकरः।

लक्ष्मीधरपतेः कान्तं गता गङ्गाधराङ्गना।
चन्द्रा(धारे) परीतापः कुतोऽयं मे तवोदये॥ पारिहारिकी-प्रकल्पितयोः संकरः।

अपार्थं[१] व्यर्थमेकार्थं[२] ससंशयमपक्रमम्[३] ।
शब्दहीनं[४] यतिभ्रष्टं[५] भिन्नवृत्तं[६] विसन्धिकम्[७] । १२५ ॥

(१) अपार्थ, (२) व्यर्थ, (३) एकार्थ, (४) ससंशय, (५) अपक्रम, (६) शब्दहीन, (७) यतिभ्रष्ट, (८) भिन्नवृत्त, (९) विसन्धिक ॥ १२५ ॥

पकारस्य व्ययादेस्तु[१] मासस्यान्त्ये दले गुरौ ।
द्वादश्यां धनुषि ग्लावि प्रबोधिताः प्रहेलिकाः ॥ १ ॥
अभ्रैः रह्याप्यसंस्पृष्टं नभ एतदपर्तुकम् ।
न भाति रमणीचक्षुरकज्जलं यथोज्ज्वलम् ॥ २ ॥

—०—

षष्ठेऽह्नचस्मिन्नगस्त्यस्य, तद्द्विगुणे नभः सुदि ।
सायाह्ने ख्यातुमारप्स्ये दश दोषान् बुधोदितान् ॥ १ ॥
दोषाकरस्तु चन्द्रोऽयं, दोषज्ञो धिषणो गुरुः ।
दोषैषा क्षणदा रम्या, वन्द्यो दोषो बुधादृतः ॥ २ ॥
अर्धनारीस्तनं पातु कलयन्तौ सुतावुभौ ।
स्नपयन्ती गणेट्स्कन्दौ स्निग्धलोचनकान्तिभिः ॥ ३ ॥
अनुजे पक्षपातस्य शङ्कयाऽरुणितेक्षणम् ।
आमृशन्ती षडास्यं सा स्नेहादव्यादुमा तु माम् ॥ ४ ॥

दोष : आचार्य दण्डीने काव्यादर्शका प्रारम्भ ही दोषोंकी हेयता बतानेसे किया था, यह प्रथम परिच्छेदके ६-८ श्लोकोंमें देख चुके हैं । गुणप्रकरणमें भी हम देख चुके हैं कि काव्यमें गुणवत्ता कई दोषोंके विपर्ययके फलस्वरूप ही आ पाती है । गुणत्वविघातक दोषोंका प्रतिपादन गुणप्रकरणमें आचार्य कर चुके हैं । वे दोष मार्गविशेषमें ही दोष हैं । दूसरे मार्गमें वही गुण हो जाते हैं । अतः उन विशेष दोषोंका निरूपण आचार्यने मार्गविभागके प्रकरण में किया है । द्वितीय परिच्छेदमें सर्वमार्गसाधारण शोभाकारक तत्त्वों उपमादि अर्थालङ्कारोंका निरूपण आचार्यने किया है । फिर तृतीय परिच्छेद में सुकर दुष्कर शब्दालङ्कारों यमक, चित्रबन्धों वर्णस्थाननियम तथा उभया-

---

१. ज्योतिषमें पूर्व भावको अगले भावका 'व्यय' कहा जाता है । वर्णमाला में 'प' वर्णसे पूर्ववर्ण 'न' है । वह आदिमें है 'नभस्' शब्द के, जो श्रावण का वाचक है : श्रावणे तु स्यान्नभाः श्रावणिकश्च सः (अमरकोष १।४।१६) । नभः खं श्रावणो नभाः। श्रावण सुदि द्वादशी समाप्ति-तिथि है ।

देश-काल-कला-लोक-न्यायागम-विरोधि[10] च ।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ।। १२६ ।।

(१०क) देश, (ख) काल, (ग) कला, (घ) लोक, (ङ) न्याय एवम् (च) शास्त्रसे विरोध रखना । ये दोष दस ही हैं । काव्योंमें बुद्धिमानोंको इनका परिहार करना चाहिये ।। १२५-१२६ ।।

लङ्कारत्वकी ओर उन्मुख दुष्कर प्रहेलिकाका निरूपण करके काव्यमें, शोभा-कारक धर्मोंका निरूपण समाप्त किया है । अब शेष रह जाता है सर्वमार्ग-साधारण दोषोंका विवेचन । इसे आचार्यने तृतीय परिच्छेदके शेष भागमें (क) उद्देश (१२५-१२८) और (लक्षण १२८-१७८)की प्रक्रियासे करनेके बाद (ख) दोष की भी कुछ परिस्थितियोंमें गुणरूपता (१७९-१८५ में) बताकर (ग) काव्यादर्शके विषयका सिंहावलोकन (१८६-१८७ श्लोकोंमें) करके प्रकृत का उपसंहार किया है ।

'दोष'के स्वरूपपर विचार मार्गविभागके प्रसङ्गमें प्रथम परिच्छेदमें (पृष्ठ १०३, १०४, ११०, १२९-१३३, १३८-१४१ में) किया जा चुका है । अतः यहाँ पुनर्वचन अपेक्षित नहीं है ।

आचार्य भरतने निम्नलिखित दस काव्य-दोष बताये हैं : (१) गूढार्थ, (२) अर्थान्तर, (३) अर्थहीन, (४) भिन्नार्थ, (५) एकार्थ, (६) अभिप्लुतार्थ, (७) न्यायापेत, (८) विषम, (९) विसन्धि तथा (१०) शब्दच्युत ।[1] इनमें से कुछ दोष परवर्ती आचार्योंने लिये हैं, कुछ नहीं । इसका निरूपण आगे किया जायेगा ।

(१) **गूढार्थ** दोष पर्याय (कल्पित) शब्दोंसे अभिधान करके रूढ शब्दको छुपानेसे होता है । दण्डी द्वारा प्रोक्त (१०) **समानशब्दा प्रहेलिकामें** यह दोष अर्थगूढताकी विवक्षाके कारण गुण (अलङ्कार) हो जाता है । दोष नहीं रहता । अन्यत्र दोष ही रहेगा । इसका प्रयोग प्रहेलिकामें हो चुका है, इस लिए आचार्य दण्डीने इसकी गणना दोषोंके इस प्रकरणमें नहीं की है । (२) **अर्थान्तर** दोष अवर्ण्य (अविवक्षित) का भी वर्णन होनेसे होता है ।[2] दण्डीका **ससंशय** इसीके निकटका दोष है । (३) **अर्थहीन** दोष असम्बद्ध अथवा

---

१. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ।। ना० १६।८९

२. (१) पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसञ्ज्ञितम् ।
(२) अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ।। नाटच० १६।९०

सावशेष (अपूर्ण) अर्थका अभिधान होता है। दण्डीका (१) **अपार्थ** इसीसे मिलता-जुलता दोष है। (४) **भिन्नार्थ** दोष भरतने दो प्रकारका बताया है: (क) असभ्य अथवा ग्राम्य ढंगसे अभिधानसे होता है। आचार्य दण्डी इसे सर्वमार्गसाधारण **ग्राम्यता**के नामसे प्रथम परिच्छेद (१२६-१३३) में दे चुके हैं। (ख) विवक्षित अन्य अर्थका अन्य अर्थसे भेद न करना भी **भिन्नार्थ** दोष होता है।[1] दण्डीका **व्यर्थ** एवं **ससंशय** इससे मिलता-जुलता दोष प्रतीत होता है। (५) **एकार्थ** दोष एक ही अर्थको पुनः कहनेसे होता है। दण्डीने इसे इसी नामसे दिया है। (६) **अभिप्लुतार्थ** दोष वहाँ होता है, जहाँ चारों पादोंके अर्थ वहीं सिमट जाएँ, इनमें परस्परसम्बन्ध न हो।[2] दण्डीने इसे '**अपेतार्थ**' नाम दिया है। (७) **न्यायापेत** दोष वहाँ होता है, जब कोई बात प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विपरीत कही जाये। दण्डीने इस दोषके छह अवान्तर भेद बताये हैं। (८) **विषम** वहाँ होता है, जहाँ छन्दमें कोई त्रुटि आ जाती है।[3] दण्डीने इसे दो दोषोंमें बाँटा है: (७) **यतिभ्रष्ट**, (८) **भिन्नवृत्त**। (९) **बिसन्धि** दोष शब्दोंका उपश्लेषण (सन्धि) न होनेपर (सन्धियोग्य स्थलमें सन्धिभङ्ग होनेपर) होता है।[4] दण्डीने इसे दिया है। (१०) **शब्दहीन** दोष शब्दशास्त्रमें अप्रसिद्ध पदोंके प्रयोगसे होता है।[4] दण्डीने इसे भी दिया है। सन्धि शब्दशास्त्रका ही विषय है। अतः (९) **विसन्धि**का समावेश (१०) **शब्दहीन**में ही उचित है।

आचार्य अभिनवगुप्तने इस स्थलमें यह विचार किया है: (क) कुछ दोष नित्य हैं, जैसे **अपशब्द**; (ख) कुछ अनित्य हैं, जैसे **ग्राम्य**; हास्यादिमें वह इष्टतम होता है। इनमेंसे उत्तरोत्तर स्थूल हैं। जैसे **गूढार्थ** दोष गूढलेख, प्रहेलिका, पताकास्थानक आदिमें प्रयोज्य हैं; **अर्थान्तर** अनुवादमें, **अर्थहीनादि**

---

१. (३) अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।
(४) (क) भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च।। नाट्य० १६।९०
(ख) विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्य-विचक्षणाः।। ९१

२. (५) अविशेषाभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम्।
(६) अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते।। नाट्य० १६।९२

३. (७) न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्।
(८) वृत्तभेदो भवेद् यत्र, विषमं नाम तद् भवेत्।। नाट्य० १६।९३

४. (९) अनुपश्लिष्टशब्दं यत् तद्विसन्धीति कीर्तितम्।
(१०) शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात्।। नाट्य० १६।९४

"प्रतिज्ञा-हेतु दृष्टान्त हानिर्दोषो न, वेत्यसौ ।
विचारः कर्कशप्रायस्, तेनालीढेन किं फलम् ॥ १२७ ॥

(११) प्रतिज्ञा, हेतु (लिङ्ग) और दृष्टान्त (उदाहरण)की हानि (त्रुटि) दोष नहीं है, या है, इस प्रकारका यह विचार अधिकतासे कर्कश है । उसे चाटनेसे क्या लाभ ? ।। १२७ ।।

हास्यमें; **भिन्नार्थ** जब श्रोता आदि वक्ता हों, तब; **एकार्थ** दूसरोंको अर्थबोध करानेमें, **अभिप्लुतार्थ** उन्मादादिमें, **भिन्नवृत्त** और **विसन्धि** अपने विषयमें प्रयोग करनेपर दोष नहीं रहते । **अपशब्द** सभी स्थितियोंमें दोष ही होता है । क्योंकि उससे कोई अर्थप्रतीति नहीं होती ।। १२५-१२६ ।।

भरतके पश्चात्के काव्यलक्षणकार दस दोषोंके अतिरिक्त न्यायशास्त्रके अनुमिति प्रमाणके आवश्यक तीन अवयवों प्रतिज्ञा, हेतु एवम् दृष्टान्तमें उनके लक्षणकी सङ्गति पूरी तरह न होनेपर **प्रतिज्ञाभास**, **हेत्वाभास** एवं **दृष्टान्ताभास**को काव्यमें भी दोष मानकर अपने ग्रन्थोंमें इनका निरूपण करना उचित मानते थे । प्रथमतः तो न्यायशास्त्रके इन दोषोंका स्वरूप समझना तर्ककर्कश है । कोमलमति काव्यप्रेमियोंको वह उद्वेजक होगा । दूसरे, न्यायशास्त्रमें वह दोष है, तो काव्यमें वह दोष होगा, कि नहीं, इसपर भी मतभेद हो सकता है । अतः उस कर्कश तर्कदोषको यहाँ काव्यलक्षणके अध्येता मन मारकर आलेहन करें, तो इससे लाभ क्या ? कितनी तो परिस्थितियाँ काव्यमें उस दोषकी होंगी कि उसके ज्ञानके लिये बोझिल, कर्कश विषयका समावेश काव्यलक्षणमें किया जाये ! अतः उसके निरूपणका क्षेत्र काव्यशास्त्र नहीं है । काव्यमें तो किस विषयका ज्ञान अपेक्षित नहीं होता ? काव्यलक्षण ग्रन्थमें उन सबका समाहार न सम्भव है, न अपेक्षित है और न उचित है । तत्तत् शास्त्रसे ही उसे प्राप्त करना उचित है । रोगीको कड़वी ओषध मधुमें लपेटकर चटाई जाती है । पर न कवि रोगी है और न प्रतिज्ञाहान्यादिदोष कड़वी ओषध है कि उसे चाटना आवश्यक हो ।

इस दोषका निरूपण **भरत**ने नहीं किया है । पर इसका समावेश उनके **न्यायापेत**में हो सकता है : न्यायसे लोकका स्वभावसिद्ध मार्ग भी अभीष्ट होता है, तो शास्त्र भी । वस्तुतः दण्डीका दसवाँ दोष देश, काल, कला, लोक, न्याय और आगमका **विरोध** भरतके **न्यायादपेत**का ही विवरण है । यही कारण है कि उन्होंने उन्हें एक ही दोषके अवान्तर भेद माना है । इसीलिये उन्होंने (१२६ में) '**दशैव**' ('दस ही') कहा है ।

भामहके दोषनिरूपणमें दण्डीसे भेद केवल प्रतिज्ञादिहानि दोषको लेकर है। अन्यथा दोनों आचार्योंका शब्दविन्यास एक ही है।[1] ग्यारहवें दोषके बारेमें भामहका कहना है कि स्वादु काव्यरसमें मिले हुए शास्त्रका उपयोग भी कवि लोग कर दिया करते हैं : पहले मधु चाटे हुए रोगी कड़वी दवा पी लेते हैं। अतः काव्यशास्त्रमें अल्पबुद्धियोंको दुर्बोध होते हुए भी शास्त्रसम्मत पदार्थोंका सही स्वरूप और उसके दोष जानना अपेक्षित है।[2] भामहने इन दोषोंके ज्ञानके लिये अपेक्षित पदार्थका सङ्क्षिप्त शास्त्रीय विवेचन करनेके बाद उसके काव्यमें अपेक्षित स्वरूप और **प्रतिज्ञाभास, हेत्वाभास** एवं **दृष्टान्ताभास** दोषोंका निरूपण ५।३३-६० में किया है।[3] पूर्ववर्ती दस दोषोंका विवेचन काव्यालङ्कारके चतुर्थ अध्यायमें किया है।

यहाँ दण्डीने भामहके ग्यारहवें दोषका खण्डन किया है, या भामहने ही दण्डीके निरूपणका उत्तर देनेको इतने विस्तारमें जाकर इन दोषोंको काव्यशास्त्रमें उपयोगिता सिद्ध की है तथा पञ्चम अध्यायमें पृथक्से इस दोषका निरूपण किया है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। इनमेंसे एकने दूसरेका खण्डन

---

१. अपार्थं···विरोधि च। प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥ ४।१-२

२. प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् बिभ्यत्यमेधसः।
तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्यायलवाच्चयः ॥ २
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ ३
न स शब्दो, न तद् वाच्यं, न स न्यायो, न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥ ४ तुलनीय :
न तच्छ्रुतं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
न स भोगो, न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ॥ नाट्य० १।११६
या विद्या, यानि शिल्पानि, या गतिर्, यच्च चेष्टितम्।
लोकालोकस्य जगतस्तदस्मिन्नाटकाश्रये ॥ नाट्य० ५।५६
नाट्यशास्त्र ७।६३; ८।३६; १३।६६-६७, ७४ भी देखें।

३. लक्ष्म प्रयोगदोषाणां भेदेनानेन वर्त्मना।
सन्धाऽऽदिसाधनासिद्धयै शास्त्रे तूदितमन्यथा ॥ काव्याल० ५।३२
तज्ज्ञैः काव्यप्रयोगेषु तत् प्रादुष्कृतमन्यथा।
तत्र लोकाश्रयं काव्यमागमास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३३

(१) **समुदायार्थशून्यं यत्** तदपार्थ**मितीष्यते।**
तन्मत्तोन्मत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ।। १२८ ।।

(१) जो सामूहिक अर्थसे शून्य होता है, वह **अपार्थ** इस नामसे इष्ट है। वह नशेमें मदहोश, उन्मादरोगग्रस्त (पागल) और बच्चोंकी उक्तिसे अन्य उक्तियोंमें दोष होता है ।। १२८ ।।

अवश्य किया है। किन्तु **एकार्थ** दोषके दण्डीने (१) **अर्थतः** और (२) **शब्दतः** दो भेद बताये हैं। भामहने **शब्दजन्य एकार्थ**का खण्डन किया है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ भी भामह ही दण्डीके विपरीत **प्रतिज्ञादिहानि** दोषका औचित्य सिद्ध कर रहे हैं। यदि इसका उलट होता, तो दण्डीने भामहके मतके विपरीत **शब्दजन्य एकार्थता**की स्थापनामें कोई युक्ति दी होती ! ।। १२७ ।।

(१) **अपार्थ**—'अपार्थ'का शाब्दिक अर्थ होता है **अर्थादपेतः**। जिस प्रकार पदसमुदायकी परस्पर सङ्गतिसे वाक्यार्थ निष्पन्न होता है, वैसे ही वाक्योंके समुदायमें सङ्गति होनेसे महावाक्यार्थ (प्रकरणार्थ) निष्पन्न होता है। प्रकरणार्थ रूप महावाक्यार्थोंकी सामूहिक एकवाक्यतासे प्रबन्धार्थकी निष्पत्ति होती है। इनमें से किसी भी स्थितिमें समुदायार्थ यदि निष्पन्न नहीं होता है, तो वह पद, वाक्य या प्रबन्धप्रयोग विवक्षित अर्थसे रहित होनेसे '**अपेतार्थ**' कहलाता है।

भरतने इसे '**अभिप्लुतार्थ**' नामसे दिया है। उन्होंने काव्यका सबसे छोटा अवयव होनेके कारण पादके समुदायार्थशून्यत्वको '**अभिप्लुतार्थ**' दोष नाम दिया है : जो पादसे समेट दिया जाता है, जिसका पादके बाद सम्बन्ध नहीं रहता, उसे 'अभिप्लुतार्थ' जानना चाहिये।[1] इसका शाब्दिक अर्थ होगा : **अभिप्लुतः अभिद्रुतः अपेतः अर्थः समुदायार्थरूपो यस्मात्** ।

दण्डीने भरतका अनुकरण करते हुए पादकी समुदायार्थशून्यताका उदाहरण दिया है। उन्होंने पदोंकी समुदायार्थ-शून्यताका निरूपण न लक्षणमें किया है, और न उदाहरण ही इस दृष्टिसे दिया है।

भामहने दण्डीकी शब्दावली देते हुए इसे (१) **पदगत** और (२) **वाक्यगत** बताकर पदोंकी समुदायार्थशून्यताका ही **उदाहरण** दिया है : अनार दस, छह

---

१. अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते ।। नाटच० १६।९२

पूए ।' यहाँ अनार और पूए सञ्ज्ञापद अपने-अपने निकटवर्ती विशेषण सङ्ख्या पदोंसे अन्वित होकर तत्तत्पदार्थगत अर्थको प्रतीत कराते हुए भी दोनों सञ्ज्ञा-पदोंके समुदायकी सङ्गतिरूप अर्थ नहीं प्रतीत करा पाते । इसलिये ये दोनों संज्ञा पद और उनके माध्यमसे विशेषणीभूत सङ्ख्या पद किसी सामूहिक (अन्वित) अर्थकी प्रतीति नहीं करा पा रहे हैं । यह प्रयोग उपलक्षण है पादों और वाक्योंकी अन्वितार्थताके अभावमें निष्पन्न **अपार्थता**का ।

आचार्य रत्नश्रीज्ञानने इस प्रसङ्गमें कहा है कि प्रकरणको देखते हुए पदों के समुदायके सम्बन्धसे निष्पन्न वाक्यरूप समुदायका अर्थ गौण-प्रधानभावसे स्थित क्रिया और कारकोंके विशेष (समुदाय) सम्बन्धके रूपमें व्यवहारमें आता है; उससे रहित 'समुदायार्थशून्य' होता है । केवल पदोंके अर्थके रूपमें नहीं । क्योंकि वह तो कहीं भी व्यभिचरित नहीं होता । 'दस अनार, छह पूए' इत्यादिमें भी पदोंके अर्थकी प्रतीति तो होती ही है ।[२]

इसी तर्कको आगे बढ़ाकर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पद-समुदाय रूप वाक्यमें पदोंके द्वारा समुदायार्थकी प्रतीति न करानेपर **अपार्थता** हो जाती है, वैसे ही वाक्यसमुदायरूप महावाक्य तथा तत्समुदायरूप प्रबन्धमें भी अवयवोंके द्वारा समुदायार्थकी प्रतीति न करानेपर **अपार्थता** दोष होगा। भरतका **पाद** और भामहके **पद** एवं **वाक्य** इसी विशाल अर्थके उपलक्षक हैं ।

दण्डीके अनुसार अपार्थ अनित्य दोष है : इस प्रकारके अपेतार्थ प्रयोग सर्वदा दोष होते हों, ऐसा नहीं है । बुद्धिके हेतुज या अहेतुक विकासके अभाव में इस प्रकारके कथन स्वाभाविक हैं । (१) मद्यादि पानके कारण बुद्धिकी

१. अपार्थमित्यपेतार्थं, स चार्थः पद-वाक्ययोः । काव्याल० ४।३
समुदायार्थशून्यं यत्, तदपार्थकमितीष्यते ।
'दाडिमानि दशापूपाः षड्' *इत्यादि यथोदितम् ।। ८
*तुलनीय महाभाष्य १।२।४५ वा० १ : 'दश दाडिमानि षडपूपाः
···स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति । समुदायोऽत्रानर्थकः ।
शाबरभाष्य १।१।५, आनन्दाश्रम, पृष्ठ ४७ : लौकिकानि वचनान्युप-पन्नार्थान्यनुपपन्नार्थानि च दृश्यन्ते । यथा 'देवदत्त गामभ्याज' इत्येव-मादीनि, 'दश दाडिमानि, षडपूपा' इत्येवमादीनि च ।

२. रत्नश्री : समुदायस्य, प्रकरणात् पदसम्बन्धिनो वाक्यस्यार्थोऽभिधेयम-ङ्गाङ्गिभूतक्रियाकारकसम्बन्धविशेषलक्षणं सांव्यवहारिकम् । तेन शून्यं रहितम् । न पदार्थमात्रेण, तस्य क्वचिदप्यव्यभिचारात् । दश दाडिमानि, षडपूपा' (भामह ४।८) इत्यादावपि पदार्थप्रत्ययोदयात् ।

समुद्रः पीयते देवैरहमस्मि जराऽऽतुरः ।
अमी गर्जन्ति जीमूता, हरेरैरावणः प्रियः ।। १२९ ।।
इदमस्वस्थ-चित्तानामभिधानमनिन्दितम् ।
इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम् ? ।। १३० ।।

(२ क) **एकवाक्ये** (ख) **प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।**

समुद्र देवों द्वारा पिया जाता है । मैं बुढ़ापेसे पीडित हूँ । ये मेघ गरज रहे हैं । इन्द्रको ऐरावत गज प्रिय है ।। १२९ ।।

अस्वस्थ चित्त वाले लोगों (मत्त, उन्मत्त और बालकों) का यह कथन निन्दित नहीं है । स्वस्थ चित्त वाले लोगोंके विषयमें कौन कवि इस प्रकार का प्रयोग करेगा ? ।। १३० ।।

(२ क) एक वाक्यमें या (ख) प्रबन्धमें आगे-पीछेसे विरोध वाला कथन

विक्षिप्तावस्थामें, (२) उन्मादादि रोगके कारण पागलपनकी स्थितिमें और (३) स्वभावतः अविकसितचित्तताकी स्थितिमें, यदि इन स्थितियोंमें, अपार्थ प्रयोग किये जाते हैं, तो वे दोष नहीं कहलायेंगे । अपितु इन स्थितियोंके पात्रोंसे अपार्थरहित प्रयोग करवाना दोष होगा । इस प्रकारके प्रयोग दोष होंगे स्वस्थचित्तताकी स्थितिमें । उनसे काव्यको बचाना चाहिये ।

भामहने इस दोषके निरूणमें पद और वाक्यके स्वरूपपर तो विचार किया है, समुदायार्थशून्यताकी ग्राह्यतापर विचार नहीं किया है ।। १२८ ।।

उदाहरण—प्रकृत उदाहरण (श्लोक १२९) में चारों पादोंमें चार वाक्य दिये हैं । ये स्वयंमें तो सङ्गत है, पर इनमें आपसमें सङ्गति नहीं है । सङ्गतार्थके विपरीत अपगतार्थ हैं । अतः यहाँ **अपार्थता** दोष है ।। १२९ ।।

सङ्गति—उपर्युक्त कथन यदि अस्वस्थ चित्त वाले (१) मदमस्त, (२) पागल या (३) बालकोंके कथनके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है, तब तो उनकी मानसिक अस्वस्थताको व्यक्त करनेके कारण यह दोष नहीं कहलायेगा । स्वस्थचित्त लोगोंसे तो कौन समझदार कवि इस प्रकारकी बातें कहलायेगा ? अर्थात् कोई कवि ऐसा नहीं करेगा ! यदि कोई इस प्रकार कहलाता है, तो वह कविका दोष होगा । कविको ऐसे प्रयोगोंसे बचना चाहिये । इससे व्यक्त होता है कि अपार्थता दोष अनित्य है ।। १३० ।।

(२) **व्यर्थ**—'व्यर्थ' की व्युत्पत्ति है : वि (विरुद्धः) अर्थः । अर्थात् विरोधी अर्थ 'व्यर्थ' है विरोध द्विष्ठ धर्म है । पूर्व और अपर कथनोंमें परस्पर व्याघातकता यदि है, तो वह 'व्यर्थता' दोष होता है । परस्पर व्याघातकता अर्थगत है । अतः पदोंके समुदायके विना यह व्याघातकता नही हो

विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥ १३१ ॥

विरुद्ध अर्थ वाला होनेके कारण (वि=विरुद्ध+अर्थ वाला=, **व्यर्थ** नामसे) दोषोंके मध्य पढ़ा जाता है ॥ १३१ ॥

सकती। फलतः पदसमुदाय रूप वाक्यमें यदि परस्पर विरोधी पदोंका प्रयोग है, तो वह **वाक्यगत** व्यर्थता है। इसी प्रकार वाक्यसमुदाय रूप मुक्तकादि सर्गबन्धान्त काव्यके अवयवोंमें परस्पर विरोधी कथन हैं, तो बह **प्रबन्धगत** व्यर्थता है।

पूर्वापराहतम्' कहनेसे ही 'व्यर्थ' का स्वरूप स्पष्ट हो जानेपर भी '**विरुद्धार्थतया**' कहनेका प्रयोजन 'वि' के 'विगतता' आदि अर्थोंका स्पष्टतः परिहार करना है।

भरतने इस नामसे कोई दोष नहीं दिया है। उनके **भिन्नार्थ**का द्वितीय प्रकार इससे मिलता-जुलता हो सकता है: जहाँ विवक्षित ही अन्य (एक) अर्थ दूसरे अर्थसे भिन्न (खण्डित) कर दिया जाता है, तो उस काव्यको **भिन्नार्थ** कहते हैं।[1]

भामहने शब्दभेदसे दण्डीका लक्षण ही **वाक्य** और **प्रबन्ध**की बात छोड़कर दिया है।[2] उन्होंने इसके दो उदाहरण एक ही प्रकार(वाक्योंमें विरोध) के दिये हैं, जिनमें पूर्ववाक्य और उत्तरवाक्यमें परस्पर विरोधी कथन है।[3] अतः पुनरुक्तमात्र है। दण्डीने उदाहरण तो वाक्य-विरोधका ही दिया है। पर इस दोषकी द्विविधता शब्दतः बताई है ॥ १३१ ॥

---

१. विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।
   भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः ॥ नाट्य० १६।९१
   अभिनवभारती : तृतीयं भिन्नार्थं यथा—'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्युक्त्वा 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' इति। उद्दिष्टं ह्यत्र रावणस्यानुपादेयत्वं 'क्व नु पुनः' इत्यनेनान्यथा करणाद् भेदितम्।

२. विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं, विरुद्धं तूपदिश्यते।
   पूर्वापरार्थव्याघाताद् विपर्ययकरं, यथा ॥ काव्या:ल० ४।९

३. सखि, मान प्रिये धेहि, लघुतामस्य मा गमः।
   भर्तुश्छन्दानुवर्तिन्यः प्रेम घ्नन्ति नहि स्त्रियः ॥ काव्याल० ४।१०
   (क) उपासित-गुरुत्वात् त्वं विजितेन्द्रिय-शत्रुषु।
   (ख) श्रेयसो विनयाधानमधुनाऽऽतिष्ठ केवलम् ॥ काव्याल० ४।११

(क) जहि शत्रुकुलं कृत्स्नं, जय विश्वम्भरामिमाम् ।
(ख) न हि ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ।। १३२ ।।
अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः ।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती ।। १३३ ।।
(क) परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते ! ।
(ख) पिबामि तरलं तस्याः कदा नु दशनच्छदम् ! ।। १३४ ।।

(क) नष्ट कर समूचे शत्रुसमूहको । जीत इस विश्व (सब) का धारण पोषण करने वाली (पृथ्वी) को । (ख) नहीं है सब (जड-चेतन) पदार्थोंपर तुम कृपालु का कोई शत्रु ।। १३२ ।।

(राग-द्वेषादि भावोंसे) पराभूत मनकी वह कोई अवस्था होती है, जिसमें विरुद्ध अर्थ वाली वाणी भी अभीष्ट हो सकती है ।। १३३ ।।

(क) मुझ आर्य (सच्चरित) की परस्त्रियोंके प्रति इच्छा कैसे उचित होगी ? (ख) उस (प्रिय परस्त्री) के चञ्चल अधरका पान कब कर पाऊँगा ? ।। १३४ ।।

'व्यर्थ'का दण्डीका उदाहरण—१३२वें श्लोकमें मुक्तक प्रबन्धमें तीन वाक्य हैं । प्रथम दो वाक्योंवाले पूर्वार्धमें जो बात कही गई है, उसका विरोधी कथन उत्तरार्धमें दिये वाक्यमें दिया है : (क) पूर्वार्धमें समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेका और सर्वभूतधात्री पृथ्वीको जीतनेका विधान किया है । (ख) उत्तरार्धमें इसका पहला विरोधी कथन तो यह है कि शत्रुसमूहका नाश करने को विहित पुरुषका कोई शत्रु ही नहीं है । तब क्या वह हवामें तलवार भाँजेगा ? दूसरा विरोध यह है कि जब वह सब भूतोंके प्रति दयालु है, तो हिंसा कैसे करेगा ? इस प्रकार यहाँ चतुर कविने एक ही उदाहरणमें (क) वाक्योंमें विरोधका प्रदर्शन भी कर दिया : प्रथम वाक्यके **'जहि'** क्रिया पद का विरोध चतुर्थपादके **सर्वभूतानुकम्पिनः** पदसे और **'शत्रुकुलं कृत्स्नं'** कारकांशका विरोध तृतीय पादके पदोंसे; और (ख) मुक्तक प्रबन्धमें आन्तरिक विरोधका भी प्रदर्शन कर दिया है ।। १३२ ।।

'व्यर्थ' अनित्य दोष है : जिस प्रकार बुद्धिकी विशेष अवस्था हेतुज या सहेतुक अस्वस्थतामें (१) **अपार्थ** दोष नहीं होता, वैसे ही बुद्धिकी रागादिसे परिभूतताकी स्थितिमें **'व्यर्थ'** भी दोष नहीं होता । अतः यह अनित्य दोष है । यह विचार भी भरत और भामहने नहीं किया है ।। १३३ ।।

'व्यर्थ' की निर्दोषताका उदाहरण : १३४वें श्लोकमें कविने मनके रागावेशकी स्थितिमें **वाक्यगत व्यर्थ**की निर्दोषताका उदाहरण दिया है ।

किसी भले आदमीको कोई परस्त्री भा गई। उसके मनमें अपनी इस स्थितिको लेकर अन्तर्द्वन्द्व है: उसे अपनी सच्चरितताका भी भान है। ऐसी स्थितिमें उसे पराई नारकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहिये, चाहतकी तो बात ही दूर हैं। पर मनमें उसके प्रति आसक्तिका काँटा जो चुभ रहा है, वह उसे उसके सङ्गसुखके लिये व्याकुल कर रहा है। इस अन्तर्द्वन्द्वको प्रकाशित करने वाला यह विरोधी कथन कथमपि दोष नहीं कहला सकता। **'व्यर्थ'** कथन हर हालतमें दोष नहीं है, अपितु चित्तवृत्तिके विरोधी स्थितिमें अवस्थिति होनेपर, यह गुण हो जाता है।

इस भावकी आंशिक प्रेरणा दण्डीको **शाकुन्तलम्**में शकुन्तलाको देखकर उसपर आसक्त दुष्यन्तकी अन्यथा वर्णित मनोदशासे मिली प्रतीत होती है।[1] यों, लोचन (२।३) में भावशबलताके लिये उद्धृत एक श्लोकमें भी इस प्रकार का प्रबन्धगत वाक्यविरोध है।[2]

लोचनोद्धृत श्लोकके स्थलके बारेमें विद्वानोंमें मतभेद है: (क) कुछ लोग इसे उर्वशीको देखकर मोहित पुरूरवाकी उक्ति मानते हैं, तो (ख) अन्य लोग शुक्रकन्या देवयानीको देखकर उसपर आसक्त राजा ययातिकी उक्ति मानते हैं। **विक्रमोर्वशीय**में यह श्लोक उपलब्ध नहीं है। १८७९ की विक्रमोर्वशीयकी पाण्डुलिपिमें इसे १२२वें पृष्ठपर चौथे अङ्कमें अधिक पाठके रूपमें जोड़ा हुआ है।[3] लोचनके अतिरिक्त[4] यह श्लोक सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१७७) और काव्यप्रकाश (४।५३) में उद्धृत है। स्थलसङ्केत कहीं नहीं है। उपर्युक्त दो मत काव्यप्रकाशके टीकाकारोंके हैं।[5] यदि यह श्लोक **विक्रमोर्वशीय**का है, तो इसका स्थल द्वितीय अङ्कमें है, जहाँ राजा देवराजके पास गई हुई उर्वशीको याद करके बेचैन है। दिव्य (इन्द्रकी अप्सरा) उर्वशी पार्थिव पुरुरवाके लिये परदारा है। जयन्त और महेश्वरके मतमें चौथे अङ्कमें

---

१. (असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा) यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। शा० १।२०

२. क्वाकार्यम्, शशलक्ष्मणः क्व च कुलं?' भूयोऽपि दृश्येत सा;
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतम्; अहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः? स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा;
चेतः, स्वास्थ्यमुपेहि; कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति? ॥

३,५. काव्यप्रकाश ४।५३ पर झळकीकरटीका देखें।

४. अभिनवगुप्तने अभिनवभारती (१६।१३५) में भोजका उल्लेख किया है। अतः 'लोचनके पश्चात्' नहीं कहा है।

(३) **अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते ।**
अर्थतः शब्दतो वाऽपि, तदेकार्थं **मतं यथा ।। १३५ ।।**

(३) पूर्वोक्तको उसमें कोई विशेषता बताये बिना अगर (क) अर्थसे, या (ख) शब्दसे फिरसे कहा जाता है, तो वह **एकार्थ** माना गया है। जैसे—।। १३५ ।।

इसके होनेकी झलकीकरोक्त सम्भावना इसके भावसे मेल नहीं खाती : (१) तीसरे अङ्कमें मिलनके बाद उर्वशीको प्रेम करना अकार्य कैसे है ? (२) 'पुनरुपलब्ध उर्वशीके प्रति उक्ति' बताना श्लोकके '**भूयोऽपि दृश्येत सा**', '**स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा**' कथनोंके विरुद्ध है । अतः यह मत उचित नहीं है । यदि चतुर्थाङ्कमें इस श्लोकका कोई स्थल है, तो राजा द्वारा उदयवतीकी ओर ध्यान देनेसे कुपित उर्वशीके लताके रूपमें परिणत होनेके बाद राजाके विलाप का अङ्ग होना हो सकता है। चतुर्थपादान्तमें राजाकी चिन्ता इस प्रसङ्गके तो बहुत अनुकूल नहीं है, द्वितीय अङ्कमें उचित है; पर उर्वशीके अप्सरा (वहुभोग्या) होनेके कारण कदाचित् समाधान किया जा सकता है । देवयानीका कोप शर्मिष्ठा द्वारा उसे कूपमे धकेलनेके कारण प्रसङ्गोचित है । अतः देवयानीको मनमें रखकर ययातिकी उक्ति मानना ही अधिक उचित लगता है । इसलिये **श्रीवत्सलाञ्छन**, **कमलाकर**, **वैद्यनाथ**, **भीमसेन** तथा **श्रीराम षारक** (लोचनकी बालप्रियाके कर्ता) का इसे 'शुक्रकन्या देवयानीको देखकर आसक्त राजाकी उक्ति' बताना ही उचित है। **झलकीकर** इस स्थलमें उचित विचार नहीं कर सके हैं ।। १३४ ।।

(३) **एकार्थता दोष**—पूर्वोक्तको (क) अर्थके द्वारा या (ख)शब्दके द्वारा उसी रूपमें पुनः कहना पिष्टपेषणके समान कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करता । अतः इस प्रकारका पुनरुक्त सुधीजनोंकी दृष्टिमें दोष है । यदि पूर्वो-क्तकी अपेक्षा उत्तरोक्तमें वर्ण्यका कुछ भेद प्रतिपादित है, तो वह पुनरुक्त दोष नहीं है ।

(क) अर्थके द्वारा पुनरुक्तता तब होती है, जब पूर्वप्रतिपादित अर्थको पर्याय शब्दके द्वारा, पर्यायकी अल्पान्तरताको ध्यानमें न रखते हुए केवल समानार्थताको ध्यानमें रखकर, कहा जाता है ।

(ख) शब्दके द्वारा पुनरुक्तता तब होती है, जब पूर्वोक्त वाचक शब्दको ही फिरसे प्रयोगमें लाया जाता है ।। १३५ ।।

उत्कामुन्मनयन्त्येते बालां तदलकत्विषः ।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः ।। १३६ ।।
अनुकम्पाऽऽद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि, प्रत्युतेयमलङ्कृतिः ।। १३७ ।।

उन्मना कर रहे ये उड़े-उड़े मन वाली बाला (नवयुवती) को उसकी लटोंसी कान्ति वाले (कारे कजरारे) बदरा, बिजुरीसे युक्त, (गर्जन) गम्भीर गरजते बादल ।। १३६ ।।

कृपा आदि मनोभावोंकी कोई अधिकता अगर बतलानी अभीष्ट होती है, तो पुनरुक्ति भी दोष नहीं होती । अपितु यह अलङ्कार हो जाती है ।।१३७।।

एकार्थका दण्डिसम्मत उदाहरण—१३६वें श्लोकमें आचार्य दण्डीने (क) अर्थके द्वारा पुनरुक्तता दोषका उदाहरण दिया है : **'उत्का'** (१) शब्दशास्त्र (व्याकरण और कोष)के अनुसार **'उन्मनस्'** का पर्याय है ।[1] **'उत्का'** विशेषण को कर्म बनाकर उसीके पर्याय **'उन्मनस्'** नाम पदसे निष्पन्न नामधातुके[2] प्रयोगसे कविने उसी अर्थको पूर्णतः (अर्थान्तररहित) समानार्थक पर्यायके द्वारा पुनः कहा है । अतः यह अर्थके द्वारा पुनरुक्त (एकार्थता) है । (२) **'अम्भोधर'** और **'तडित्वत्'** शब्द **'उत्का'** और **'उन्मनस्'**के समान अन्तररहित पर्याय नहीं हैं, अपितु इनमें 'जलको धारण करने' और 'विद्युत्से युक्त' होनेके रूपमें अन्तर है,[3] तथा वह बालाकी विप्रलम्भ **रति**के उद्दीपनके रूपमें कविको अभिप्रेत भी है । अतः विशेषका अभाव न होनेसे यह पुनरुक्त दोष नहीं है ।[4] (३) **'गम्भीर'** शब्द गर्जनाके कारण सम्पन्न गम्भीरताके कारण मेघका विशेषण है । **'स्तनयित्नु'** शब्द भी गर्जन करते मेघका वाचक है । अतः इस प्रयोग में 'गर्जन ध्वनि' अर्थकी विशेषरहित पुनरुक्ति दोषकी कोटिकी है ।। १३६ ।।

एकार्थता अनित्य दोष है—यास्कका कहना है कि पुनरुक्तिसे अर्थकी भूयस्ता लोकसम्मत है ।[5] पाणिनिके अनुसार विशेष अर्थोंकी विवक्षामें शब्दकी

---

१. अष्टा ५।२।८० । अमरकोष ३।१।८ : उत्क उन्मनाः ।

२. उन्मनसं कुर्वन्तीति उन्मनयन्ति । तत्करोति तदाचष्टे (वार्तिक) ।

३. अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः ।। अमर० १।३।६
धाराधरो जलधरस्तडित्वान्वारिदोऽम्बुभृत् । ७

४. विशेषविवक्षामें पर्यायके द्वारा पुनरुक्तकी निर्दोषताके लिये देखें :
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ।। किराता ३।१

५. निरुक्त १०।४२ : अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते । यथा—'अहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीया' इति ।

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा ।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी, हन्यते मञ्जुभाषिणी ।। १३८ ।।

पीडित की जा रही है वह सुन्दर अनुपात (से युक्त अङ्गों) वाली बिना कारणके शत्रु बने कामदेवके द्वारा। पीडितकी जा रही है सब सुन्दर अङ्गों वाली, पीडित की जा रही है मधुमयबयनी ।। १३८ ।।

द्विरुक्ति होती है।[1] कुछ अर्थोंमें खास (अमुक) शब्दोंकी, और कुछ अर्थोंमें किसी भी शब्दकी पुनरुक्ति हो सकती है। इन पुनरुक्तियोंके हेतु अर्थविशेषके अतिरिक्त स्थलोंमें भावावेश—असूया, कोप, कुत्सन, भर्त्सन, सम्भ्रम, पीडा—भी होता है। यह तो है दैनन्दिन व्यवहारकी बात। काव्यमें भी यदि दया आदि भावोंको व्यक्त करनेको (क) अर्थकी या (ख) शब्दकी पुनरुक्ति की जाती है, तो वह **एकार्थ** दोष नहीं होगी। अपितु अलङ्कृति होगी। काव्यमें शोभाका विघात न करके उसका आधान करेगी। इस प्रकारकी पुनरुक्ति **अर्थावृत्ति और पदावृत्ति** नामक अलङ्कार (२।११६) होगी। इस प्रकार **एकार्थता** अनित्य दोष है ।। १३७ ।।

एकार्थताकी अलङ्कारताका उदाहरण—१३८वें श्लोकमें आचार्य दण्डीने **शब्दजन्य पुनरुक्तता**को दोषके विपरीत शोभावहके रूपमें प्रस्तुत किया है। किसी कोमल, सुन्दरगात्री, मधुमयबयनीके किसीके प्रेममें व्याकुल होनेकी स्थितिका वर्णन कविने किया है। यहाँ उस सुकुमारीकी पीड़ाकी अधिकता देखकर उसके प्रति दयालुतावश पीड़ावाचक अर्थमें भेद न करते हुए ही **'हन्यते'** क्रियापदका तीन बार प्रयोग किया है। विशेष भावकी अभिव्यक्ति अभीष्ट होनेसे यह प्रयोग दोषकी बजाय **'पदावृत्ति'** नामक अलङ्कार (२।११६) बन गया है।[2]

---

१. अष्टा० ८।१।१-१५ तथा इसपर वार्तिकोंमें (क) वर्जनमें परिकी, सामीप्य में उपरि, अधि और अधस्की, असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन एवं भर्त्सन मेंवाक्यादिस्थ आमन्त्रितकी, प्रकार अर्थमें गुणवाचककी, कर्मव्यतिहार (अदलाबदली)में सर्वनामकी, अकृच्छ्रमें प्रिय एवं सुखकी, यथास्व अर्थमें यथाकी यथायथम्के रूपमें, रहस्य और मर्यादावचनमें 'द्वन्द्व' शब्दमें द्विकी पुनरुक्तिका और (ख) नित्यता, वीप्सा, पीडा, आनुपूर्व्य, सम्भ्रमसे प्रवृत्ति, क्रियासमभिहार अर्थोंमें किसी शब्दकी पुनरुक्तिका विधान है।

२. सरस्वतीक० ५।४५७ : अत्र 'हन्यत' इत्यमङ्गलार्थम्, 'वरारोहा' इत्यश्लीलार्थम्; 'हन्यते', 'हन्यते' इति पुनरुक्तम्; 'चारुसर्वाङ्गी' इत्युक्त्या 'वरारोहा' इति व्यर्थम्। त एते सजातीयाश्चत्वारोऽपि दोषगुणाः सङ्कीर्यमाणाः कस्यचिदुन्मत्तभाषिणोऽनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामभ्यनुज्ञायन्ते।

अन्य आचार्योंके मतमें एकार्थ—शब्दावली भिन्न होते हुए भी दण्डीके '**एकार्थ**'का आधार **भरतका** एकार्थ है : एक अर्थका अभिधान 'एकार्थ' होता है।[1] दण्डीने (१) भरतके 'एक' अर्थके अभिधानको 'अविशेषेण फिरसे कहना' के रूपमें स्पष्ट करके कहा है। (२) अर्थतः और शब्दतः भेदोंकी कल्पना तथा (३) मनोभावविशेषकी विवक्षामें अलङ्कृतित्वकी व्यवस्था भी दण्डी का स्वतन्त्र योगदान है।

भामहने भी भरतका लक्षण ही शब्दभेदसे उसमें केवल (१) 'अन्योन्यं' ('आपस में') जोड़कर दिया है। इसके अतिरिक्त, (२) अन्यों (दण्डी)के '**शब्दतो वाऽपि**' भेदकथनको स्थूल होनेके कारण यहाँ उसका वर्णन उचित न समझकर केवल अर्थसे पुनरुक्तिको ही स्वीकार किया है। शब्दतः पुनरुक्ति विक्षिप्त ही कर सकता है।[2] विक्षिप्तचित्तताके अतिरिक्त भय, शोक, ईर्ष्यामें और हर्ष तथा आश्चर्यमें भी जो 'जाओ, जाओ' जैसा कहना होता है, उसे 'पुनरुक्त' (दोष) नहीं कहते।[3] यहाँ (दोषप्रकरणमें) अर्थसे जो पुनरुक्त होता है, वही 'एकार्थ' (दोष) इष्ट है। क्योंकि उक्तको पुनः कहनेपर अर्थप्रतीति रूप कार्य (प्रयोजन) सम्भव नहीं होता।[4] जैसे—महलोंपर बादल द्वारा छोड़े (और) पतनालोंसे गिरने वाले पानीकी आवाज़ उस (सुन्दरी) को अवश्य ही उन्मन मनवाली बना रही है।[5]

भामहके इस निरूपणमें (१) भरतसे तो अभिन्नता है; अन्यों (दण्डी)के (२) शब्दतः एकार्थताका शिथिलसा खण्डन किया गया है, (३) चित्तवृत्तियों के आवेगमें शब्दतः पुनरुक्तिका उदाहरण देकर इसे आचार्यने दोष नहीं माना; इससे इन परिस्थितियोंमें आर्थिक पुनरुक्तिकी निर्दोषता भी उपलक्षित होती

---

१. एकार्थस्याभिधानं यत्, तदेकार्थमिति स्मृतम्। नाट्य० १६।६३

२. यदभिन्नार्थमन्योन्यं, तदेकार्थं प्रचक्षते।
पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः॥ काव्याल० ४।१२
न शब्दपुनरुक्तं तु स्थौल्यादत्रोपवर्ण्यते।
कथमक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यति ?॥ १३

३. भयशोकाभ्यसूयासु, हर्षविस्मययोरपि।
यथाऽऽह 'गच्छ, गच्छे'ति, पुनरुक्तं न तद् विदुः॥ काव्यालं० ४।१४

४. अत्रार्थपुनरुक्तं यत्, तदेवैकार्थमिष्यते।
उक्तस्य पुनराख्याने कार्यासम्भवतो, यथा॥ १५

५. तामुक्तमनसं नूनं करोति ध्वनिरम्भसाम्।
सौधेषु घनमुक्तानां प्रणालीमुखपातिनाम्॥ १६

है; (४) दण्डीकी 'अनुकम्पादि' उक्तिका विस्तार विक्षिप्तचित्तता तथा भय आदि पाँच अवस्थाओंके परिगणनसे किया है। (५) उदाहरणमें दण्डीके उदाहरणकी अर्थच्छाया होते हुए भी उसकी अपेक्षा अर्थसौन्दर्य तो है ही नहीं, दोषप्रदर्शन भी उतना चातुर्यपूर्ण नहीं है : 'उन्क'में 'मन' अर्थतः समाहित है, उसी शब्दार्थांशको 'मनस्' से पुनः कहा है। इस प्रकार यहाँ अर्थकी पुनरुक्ति है। भामहके भाष्यकार पं० देवेन्द्रनाथ शर्माने 'सौध' का अर्थ 'कोठा' किया है। उन्हें वेश्याका कोठा तो अभिप्रेत नहीं होगा। पर 'सौध'का अर्थ 'राजसदन' होता है।[1] इसके अतिरिक्त, उन्होंने श्लोकके शेष तीन पादोंमें भी एकार्थता मानी है : जलसे ध्वनि तभी होगी, जब वह मेघसे बरसे, या नाली आदिसे गिरे। अतः 'ध्वनि' कहना ही पर्याप्त था; कोठोंकी छतपर बरसने और नालीसे गिरनेका वर्णन पुनरुक्त मात्र हुआ।[2] पर यदि इसे दोष माना जायेगा, तब तो प्रकृतिचित्रण आदिमें कविको विषयका सङ्केतमात्र देकर पुनरुक्तको बचाना होगा। क्या **'अम्भसां ध्वनिः'** मात्र कहनेपर, **'मेघमुक्तानाम्'** आदि विशेषणोंका प्रयोग न करनेपर, नेयत्व दोष नहीं हो जायेगा ? दूसरे, यहाँ अभिन्न अर्थकी पुनरुक्ति कहाँ है ? दो विशेषणोंसे जलध्वनिका द्वैविध्य क्या इसे भिन्न नहीं कर देता ? भामहने 'अभिन्न'के और भरतने 'एक' शब्दके प्रयोगसे उसी 'अविशेषेण अभिन्नता या एकता'को सूचित किया है, जिसे दण्डीने स्पष्टतः लक्षणमें समाविष्ट किया है। अतः यहाँ ध्वनिका विशेष अभिप्रेत होनेसे भी पुनरुक्तता नहीं है।

इस विवरणसे यह सिद्ध होता है कि दण्डीका एकार्थनिरूपण भरत और भामहके निरूपणसे निर्भ्रान्त, स्पष्ट, पूर्ण, अधिक सूचनासे युक्त एवं सुन्दर तथा चातुर्यपूर्ण है। **अहो सूक्ष्मेक्षिकाऽऽचार्यदण्डिनः।**

दण्डीके उदाहरणकी रेँड़ पीटी है **भोजने**। उन्होंने उसमें दो परिवर्तन किये : (१) वर्षाकालके कारण उन्मनस्कताका विषय कोमल होनेसे अधिक उचित बालाको न बनाकर पुरुषको बनाया है; (२) शब्दपौनरुक्त्यको प्रस्तुत करनेको **'बालां तदलकत्विषः'** के स्थान पर **'गम्भीराः स्तनयित्नवः'**को रखकर द्वितीय पादके शब्दोंकी पुनरुक्ति चतुर्थ पादमें बताई है। इससे यही उदाहरण

---

१. अमरकोष २।२।१० : सौधोऽस्त्री राजसदनम्।

२. काव्यालङ्कार, बिहारराष्ट्रभाषापरिषत्, पटना, पृष्ठ ६३।

(४) निर्णयार्थं प्रयुक्तानि संशयं जनयन्ति चेत् ।
वचांसि दोष एवासौ ससंशय **इति स्मृतः ॥ १३९ ॥**

(४) निर्णयके लिये प्रयुक्त वचन यदि संदेह उत्पन्न करते हैं, तो वह **'ससंशय'** नामसे स्मृत दोष ही है ॥ १३९ ॥

शब्दपौनरुक्त्यका होनेसे सङ्क्षेप तो धाराधराधीशने कर दिया,[1] परंतु उदाहरणके अर्थसौन्दर्यको धराशायी कर दिया। दोषयुक्तको भी काव्य-सौन्दर्यसे युक्त तो होना चाहिये।

रत्नश्रीज्ञानने इस प्रसङ्गमें एक श्लोक उद्धृत किया है : विस्मयमें, विषादमें, क्रोधमें, दीनतामें, निषेधमें, प्रसन्नतामें और हर्षमें एक पदका दो बार कथन होता है[2] ॥ १३८ ॥

(४) **ससंशय दोष**—कोई भी बात कहते समय शब्दोंका प्रयोग होता तो है सन्देहनिवारणके लिये, किन्तु तब भी यदि संदेह ही उत्पन्न होता है, तो वह वचनविन्यास निश्चयके विपरीत एकाधिक अर्थोंका प्रतिपादक होनेसे संशययुक्त होनेके कारण 'ससंशय' कहलाता है।

निर्णयार्थम्—प्रकरणके अनुसार काव्यके अर्थका निर्णय = निश्चय जिसका साध्य होनेके कारण अर्थ = प्रयोजन है, वह 'निर्णयार्थं' है। यह पद **'प्रयुक्तानि'**में निहित क्रियाका विशेषण है।[3] यह निर्णयकी अपेक्षामें संशय दोषकारक होता है। जिस स्थितिमें दोष नहीं होता, वह स्थिति आगे १४१-१४३ श्लोकोंमें खोलकर बताई है।

भरतके दोषोंमें इस प्रकारके दोषकी गणना नहीं है। (४ ख) **भिन्नार्थ**-की व्याख्यासे कदाचित् यह दोष निकल सकता है : विवक्षित (निर्णयार्थ उक्त) अर्थ यदि अन्य अर्थ (विकल्प) से भेद दिया जाता है, विवक्षित अर्थके साथ

---

१. पदं पदार्थश्चाभिन्नौ यत्र, तत् पुनरुक्तिमत् ॥ सरस्वती० १।२२
'उल्कानुन्मनयन्त्येते गम्भीराः स्तनयित्नवः ।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः' ॥ उदाहरण २८
रत्नदर्पण : सङ्क्षेपार्थं त्वेकमुदाहरणम् ।

२. विस्मये च विषादे च कोपे दैन्ये च वारणे ।
प्रसादे चैव हर्षे च पदमेकं द्विरुच्यते ॥

३. रत्नश्री : निर्णयो=निश्चयः प्रकरणात् काव्यार्थविषयः, संशय-विपर्यास-विरोधी प्रत्ययः, अर्थः=प्रयोजनं साध्यत्वाद् यस्मिन् प्रयोगे इति क्रियाविशेषणम् ।

मनोरथप्रियालोकरसलोलेक्षणे　　सखि ।
आराद्वृत्तिरसौ माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम् ।। १४० ।।

मनचीते प्रियको देखनेके आनन्दसे चञ्चल नयनों वाली हे सखि, आराद् विद्यमान वह माँ है । ऐसेको नहीं देख सकती ।। १४० ।।

अन्य अर्थकी प्रतीति यदि होती है, तो एकाधिक अर्थोंकी प्रतीति करानेके कारण इस प्रकारका अभिधान 'ससंशय' ही तो होगा । इस प्रकार भरतके (४) **भिन्नार्थ**की द्विविध व्याख्यासे दण्डीके (३) **व्यर्थ** और (४) **ससंशय** दोष विकसित हुए हों, यह हो सकता है ।

भामहने इस दोषका निरूपण यों किया है : एकाधिक पदार्थोंके समान धर्मोंका शब्दके द्वारा कथन होनेसे और उनमें भेद बताने वाले धर्मोंका कथन न होनेसे जो ज्ञान प्रतिष्ठा (निश्चयकी स्थिति) को न प्राप्त कर सके, ऐसा जो ज्ञान होवे, उसे यहाँ 'ससंशय' जानते हैं ।[1] इस ज्ञानको उत्पन्न करने वाले वचनको 'ससंशय' कहते हैं । वाक्यका प्रयोजन निश्चय अभीष्ट होता है, जिससे कि वह झूले नहीं ।[2] जैसे—भूभृत् व्यालोंसे युक्त, दुर्गम, रत्नों वाले, फलोंसे युक्त होते हैं । प्रमादशील लोगोंको उनसे सदा भय होता है ।[3] इस उदाहरणमें प्रयुक्त सञ्ज्ञापद **'भूभृत्'**के दो अर्थ हैं : राजा, पर्वत ।[4] भूभृत्के लिये जिन विशेषणोंका प्रयोग किया है, वे दोनों अर्थोंपर लागू होते हैं । अतः सामान्यधर्मोंका यहाँ श्रवण है । राजा और पर्वतमें भेद करने वाले विशेषणोंका यहाँ प्रयोग नहीं किया गया है । अतः यह निश्चय नहीं हो पाता कि यहाँ राजा विवक्षित है, या पर्वत । अतः यहाँ ससंशय दोष है ।। १३९ ।।

ससंशयका उदाहरण—प्रस्तुत (१४०वें) श्लोकमें अपने प्रियतमको देखनेके आनन्दसे चञ्चल हुए नयनों वाली अर्थात् प्रियको देखनेका आनन्द उठानेको अत्यन्त आतुर रमणीके प्रति उसकी सखी कहती है कि वो माँ आरात् है । ऐसे को नहीं देख सकती । यहाँ उत्तरार्धसे यह निश्चित नहीं होता कि वह

---

१. श्रुतेः सामान्यधर्माणां, विशेषस्यानुदाहृतेः ।
अप्रतिष्ठं यदत्रैतज्ज्ञानं तत् 'ससंशयं' विदुः ।। काव्याल० ४।१७

२. 'ससंशय'मिति प्राहुस्ततस्तज्जननं वचः ।
इष्टं निश्चितये वाक्यं, न दोलायेत, तद् यथा ।। काव्याल० ४।१८

३. व्यालवन्तो, दुरारोहा, रत्नवन्तः, फलान्विताः ।
विषमा भूभृतस्तेभ्यो भयमाशु प्रमादिनाम् ।। काव्याल० ४।१९

४. अमर ३।३।६१ : भूभृद् भूमिधरे नृपे । २।३।१ महीध्रे क्षमाभृदहार्यधरपर्वताः ।

ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलङ्कार एवासौ, न दोषस्तत्र, तद् यथा ॥ १४१ ॥

इस प्रकारका (संशययुक्त वचन) अगर संशयके लिये ही कभी प्रयोगमें लाया जाता है, तब वह अलङ्कार ही होगा। उस (कथन)में दोष नहीं है। जैसे—॥ १४१ ॥

माता आराद् होनेसे उसकी इस चेष्टाको नहीं देख सकती, या माँ निकट (आरात्) होनेके कारण वह रमणी अपने प्रियको नहीं देख सकेगी, माँ जो देख रही है। यहाँ सखीने यह विवरण दिया तो था निश्चय करनेको, पर उससे ही उत्पन्न हो रहा है संशय। क्यों कि '**आरात्**' पद 'दूर' और 'निकट' दोनों अर्थोंका वाचक है।[1] श्लोकके पूर्वार्धमें भी '**मनोरथप्रिय**' शब्द 'अभीष्ट' अर्थमें हो सकता है : **आलोक** = प्रकाश घरसे बाहरके प्रति रुचिसे, बाहर निकलकर घूमनेके आनन्द या रुचिसे चञ्चल नयनों वाली है सखि, तुम जा सकती हो; माँ दूर है, तुम्हारा जाना नहीं देख सकती, अथवा माँ नजदीक है, तुम बाहर जाकर नहीं देख सकती[2]। यहाँ '**असौ**' भी परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनोंके लिये प्रयुक्त होनेसे निश्चित अर्थका अभिधान नहीं करता।[3] और '**आरात्**'के दूर और समीप दोनों अर्थोंसे ठीक अन्वित होता है : (क) '**असौ**' (वह प्रिय) दूर है। माँ उसे नहीं देख सकती। तुम झटपट जाकर उससे मिल लो। (ख) यह माँ निकट है। इस लिये तुम ऐसे (मातृदृष्ट प्रिय) को नहीं देख सकती। चुपचाप बैठो। इस प्रकार यहाँ पूर्वार्धका आमन्त्रण वाक्य भी अनिश्चितार्थक है। और उत्तरार्धका वाक्य पूर्वार्धके अर्थके विधान या निषेध किसी भी एक अर्थका निर्णय करनेमें समर्थ नहीं है अतः इस कविताके अङ्ग-अङ्गमें संशय छाया हुआ है॥ १४० ॥

ससंशय अनित्य दोष है—यदि कभी संशयमें पर्यवसित होने वाला वचन निर्णयकी विवक्षतासे नहीं, अपितु संशयकी विवक्षासे ही प्रयुक्त होता है, तो वह दोष नहीं होगा। अपितु '**ससंशय**' ('**ससन्देह**') नामक अलङ्कार (२।२६ तथा ३५६) होगा। संशयकी अविवक्षामें यदि संशय आ धमकता है, तो वह अनिष्ट मेहमान दोष ही तो माना जायेगा ! ॥ १४१ ॥

---

१. अमरकोष ३।३।२४२ : आराद् दूर-समीपयोः।

२. रत्नश्री : यद्वा 'मनोरथप्रिय इष्टः आलोकः प्रकाशो बाह्यः। तद्गतरसलोलेक्षणत्वं न संवृतम्। आत्मानमन्तस्तिष्ठन्तं नेच्छसि। किंतु यथेष्टं बहिरालोके भ्रमितुं वाञ्छसि।' इत्यभिप्रायेणैवमामन्त्रयते।

३. मेदिनीकोष ३२।१५ : अदः परस्मिन्नत्र स्यात्।

पश्याम्यनङ्गजातङ्कलङ्घितां तामनिन्दिताम् ।
कालेनैव कठोरेण ग्रस्तां किं नस्त्वदाशया ।। १४२ ।।

कामार्ता, घर्मतप्ता वेत्यनिश्चयकरं वचः ।
युवानमाकुलीकर्तुमिति दूत्याह नर्मणा ।। १४३ ।।

उस अनिन्दित सुन्दरी अनङ्गज (क. अनङ्ग=कामसे जन्य, ख. न अङ्गज) आतङ्क (क. पीडा, कामबाधा, ख. सन्ताप, गर्मी) से लङ्घित कठोर (भीषण) काल (क. मृत्यु. ख. ग्रीष्मकाल) से ही ग्रस्त देख रहा हूँ। तुम्हारे आशा (बाँधने)से हमें क्या लेना है ? ।। १४२ ।।

(वर्ण्य बाला क.) कामपीडित है, या (ख) गरमीसे सन्तप्त है, यह निश्चय नहीं करने वाला वचन दूती युवक (प्रेमी)को व्याकुल करनेको प्रणयपरिहासमें कहती है ।। १४३ ।।

ससंशयकी अलङ्कारताका उदाहरण—प्रकृत (१४२वें) श्लोकमें किसी सुन्दरीकी कष्टावस्थाका वर्णन किया है। इससे प्रकट होता है कि वह सुन्दरी (क) कामबाधासे पीडित है, या (ख) उसे गर्मी लग गई है, यह निश्चित नहीं हो पा रहा। यहाँ '**अनङ्गज**'के दो अर्थ हैं : (क) अनङ्गसे होने वाला है, (ख) जो अङ्गज (कामका) नहीं है, कामेतर कारणसे है, इसी प्रकार '**काल**' शब्दके भी दो अर्थ हैं : (क) मृत्यु, कामपीडाकी अन्तिम अवस्था, (ख) ग्रीष्म समय। '**आतङ्क**' और '**कठोर**' शब्द दोनों स्थितियोंमें अनुकूल हैं : (क) वह कामबाधाकी उस अन्तिम स्थितिको पहुँच गई है, और तुम अब भी अगर उसके जीनेकी आस लगाये बैठे हो, तो नादान प्रेमी, हम क्या कहें; (ख) वह ग्रीष्मबाधासे पीडित है, कामबाधासे नही, और तुम इसे अगर प्रेमबाधा समझकर उसका प्यार पानेकी आस लगाये बैठे हो, तो हम क्या करें ! इस प्रकार यहाँ दोनों अर्थ विवक्षित होनेसे संशय विवक्षित है। इस लिये दोष नहीं है, अपितु '**ससंशय**' अलङ्कार है ।। १४२ ।।

उदाहरणकी सङ्गति—किसी दूती (रमणीका सन्देश लेकर उसके प्रियके पास गई उसकी सखी आदि) रमणीके प्रेममें व्याकुल प्रियको और व्याकुल करनेको (क) 'वह उसके प्रेममें व्याकुल है,' या (ख) 'लू लगनेसे उसकी वैसी हालत हो गई है', यह निश्चय न करने वाले, संशययुक्त, शब्दोंमें कह रही है। अतः संशयके विवक्षित होनेसे यहाँ '**ससंशय**' अलङ्कार है।

कामबाधा और ग्रीष्मबाधाकी समानताके लिये शाकुन्तल (३।७) देखें।

(५) उद्‌देशानुगुणोऽर्थानामनुदेशो न चेत् कृतः।
अपक्रमाभिधानं तं दोषमाचक्षते बुधाः[1] ।। १४४ ।।
स्थिति-निर्माण-संहार-हेतवो जगतामजाः।
शम्भु-नारायणाम्भोजयोनयः पालयन्तु वः ।। १४५ ।।

(५) पदार्थोंका अनुकथन यदि उद्देश (पूर्व कथन) के अनुसार नहीं किया गया है, तो विद्वान् लोग उसे **अपक्रम** नामक दोष कहते हैं ।। १४४ ।।

लोकोंकी (क) स्थिति (पालन), (ख) सृष्टि एवं (ग) संहार जिनके कारण होते हैं, वे अजन्मा (क) शिव, (ख) विष्णु एवं (ग) कमलयोनि (ब्रह्मा) तुम्हारी रक्षा करें ।। १४५ ।।

वहाँ चतुर्थ पादमें संशयनिवारण किया गया है ।[2]

यह दोष **भरतके** दस दोषोंमें नहीं है । **भामहने** संशय ज्ञानका शास्त्रीय स्वरूप बताकर यह कहा है कि वाक्यका प्रयोग निश्चत ज्ञानके लिये इष्ट होता है, जिसमे कि श्रोता झूलता न रहे । उन्होंने ससंशयकी अलङ्कारताके विषयमें कुछ नहीं कहा है ।। १४३ ।।

(५) अपक्रम दोष--काव्योंमें कई पदार्थोंका परिगणन जिस क्रममें किया गया है, उनका अनुदेश (बादमें प्रतिपादन) यदि उसी क्रममें न किया जाये, पूर्वोक्त क्रमको तोड़कर किया जाये, तो वह **अपक्रम** (क्रमभङ्ग) नामक दोष होता है । पाणिनिके अनुसार उद्दिष्टोंका अनुदेश उद्देशकी सङ्ख्याके अनुसार होना चाहिये ।[3] यह नियम काव्यमें भी पालनीय होता है । इसका भङ्ग करनेपर काव्य सदोष हो जाता है ।। १४४ ।।

उदाहरण—प्रकृत (१४५वें) श्लोकमें कविने पूर्वार्धमें तीन देवताओंके तीन कार्योंका वर्णन जिस क्रमसे किया है, उत्तरार्धमें उनके सम्बन्धी देवताओं

---

१. रत्नश्रीमें 'बुधाः' की व्याख्या नहीं की है, 'यथा' की की है, 'आचक्षते' के कर्ताके रूपमें 'कवयः' का अध्याहार किया है : अपक्रमं नाम दोषं तं यथोक्तमाचक्षते कथयन्ति कवयः । 'यथा' इत्युदाहरति ।

२. राजा—बलवदसुस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते । (सवितर्कम्) तत् किमयमातपदोषः स्याद्, उत यथा मे मनसि वर्तते ? अथवा कृतं सन्देहेन
स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं,
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं, मनसिजनिदाघप्रसरयोर्
न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ।।

३. अष्टा० १।३।१० : यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ।

यत्नः सम्बन्ध-[1]विज्ञान-हेतुः कोऽपि कृतो यदि ।
क्रमलङ्घनमप्याहुर्न दोषं सूरयो, यथा ।। १४६ ।।
बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु ।
आद्यन्तावायतक्लेशौ, मध्यमः क्षणिकज्वरः ।। १४७ ।।

(उद्दिष्ट और अनुदिष्टमें) सम्बन्ध (अन्वय) के विशिष्ट ज्ञान (अथवा निर्बाध ज्ञान) में कोई (शाब्द अथवा आर्थ) यत्न किया गया हो, तो क्रमके उल्लङ्घनको भी बुद्धिमान् लोग दोष नहीं कहते । जैसे—।। १४६ ।।

(क) भाईबन्द मित्र आदिका त्याग, (ख) शरीरका त्याग (मृत्यु), (ग) देशत्याग (देशनिकाला) इन तीनोंमें पहला (बन्धुत्याग) और अन्तिम (देशत्याग) दीर्घ अथवा अनियन्त्रित कष्ट देने वाले हैं । बीच वाला (तनुत्याग, मरण) क्षणिक पीड़ा है ।। १४७ ।।

का कथन उसी क्रममें नहीं किया है : (क) स्थितिके कर्ता देवता नारायणको आदिमें न कहकर मध्यमें कहा है, (ख) निर्माणकर्ता ब्रह्माका कथन मध्यमें न करके अन्त (ग) में किया है और (ग) संहारकर्ता शम्भुको अनुदेशके आदि (क) में रखा है । इस प्रकार यहाँ क्रमभङ्ग होनेसे 'अपक्रम' दोष है । इसके अतिरिक्त उद्देशमें भी युक्तियुक्त क्रम (क) निर्माण, (ख) स्थिति और (ग) संहारको भङ्ग करके दिया गया है । इससे आचार्य काव्यमें उक्त (शब्द से उपात्त) क्रम ही नहीं, अपितु लोकमें औचित्यलभ्य, न्यायोपात्त क्रमके भङ्गको भी **अपक्रम** समझते हैं, यह आशय प्रकट होता है ।। १४५ ।।

अपक्रम अनित्य दोष है—उद्दिष्ट और अनुदिष्टमें क्रमकी दृष्टिसे एकता होनेपर अन्वयप्रतीतिमें बाधा नहीं होती । इससे अर्थप्रतीति समीचीनतया हो जाती है । क्रमभङ्गसे उनमें सम्बन्धके भङ्ग होनेसे अन्वितार्थकी प्रतीति नहीं होती । किन्तु इस सम्बन्धका ज्ञान यदि किसी पृथक् प्रयत्न (अलग कथन) से करा दिया जाता है, तो अन्वयप्रतीतिमें क्रमभङ्ग करनेपर भी बाधा नहीं आती और अर्थ सम्यक् एवं निर्बाध रूपसे तो प्रतीत होता ही है, भग्नक्रम पदार्थोंके ज्ञानमें भी कुछ विशिष्टता आ जाती है । अर्थात् इस प्रकारका क्रमभङ्ग यथाक्रम कथनकी अपेक्षा अतिरिक्त शोभाका जनक हो जाता है । इसलिये विद्वान् लोग ऐसे **अपक्रम**को दोष नहीं मानते ।। १४६ ।।

अपक्रमकी अदोषताका उदाहरण—१४७वें श्लोकमें पूर्वार्धमें (क) बन्धुत्याग, (ख) तनुत्याग और (ग) देशत्याग ये तीन चीजें बताई हैं । फिर

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १।१।२ में 'निर्ज्ञान' पाठ है । रत्नश्रीमें इसे पाठान्तर बताया है । रत्नश्रीमें 'यत्नसम्बन्ध०' पाठ इष्ट प्रतीत होता है ।

इनमें पहली और तीसरी चीजको अलग करके क्रमभङ्ग किया गया है। इन दोनों आदिम पदार्थ बन्धुत्याग और अन्तिम पदार्थ देशत्यागका सम्बन्ध आयत अथवा अयत क्लेशसे युक्त होनेके साथ करनेको पृथक् यत्न इनका कथन करके किया गया है। ऐसा करनेसे क्रमभङ्ग अवश्य हुआ है। पर इससे भग्नक्रम पदार्थोंकी तनुत्यागसे विशिष्टता अतिरिक्त रूपसे केवल क्रमभङ्गके कारण ही प्रकट होती है। तीन पदार्थोंमेंसे दोषका सम्बन्ध 'आयत-क्लेश' विशेषणमें और देशत्यागका सम्बन्ध 'क्षणिकज्वरत्व' से करनेमें यहाँ विशेष यत्न है। अतः यह क्रमभङ्ग दोष नहीं है, अपितु गुण है।

यह दोष **नाटचशास्त्र**में नहीं है। **भामह**ने अपक्रमका दण्डयुक्त स्वरूप लक्षणोदाहरण मात्रसे शब्दभेदसे प्रस्तुत किया है। अपक्रमकी अदोषतापर भामह मौन हैं।[1] भोजने दण्डीके लक्षण उदाहरण लेकर उनकी व्याख्या की है।[2] रत्नदर्पणमें इसका अच्छा विवेचन किया गया है[3]॥ १४७॥

---

१. यथोपदेशं क्रमशो निर्देशोऽत्र क्रमो मतः।
तदपेते विपर्यासादित्याख्यातमपक्रमम्॥ काव्याल० ४।२०
विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्र-हिम-सच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भु-शार्ङ्गिणौ॥ २१
वि + √धा का अर्थ 'करना' प्रसिद्ध है। भामहने शुद्ध √धा के अर्थ 'धारण' में प्रयोग किया है। यह विचित्र है।

२. सरस्वतीकण्ठाभरण १।११२ : 'यत्नः···क्षणिकज्वरः॥' 'आद्यन्तौ', 'मध्यम' इति सम्बन्धनिर्ज्ञानहेतोर्विधानान्न शाब्दक्रमलङ्घनं दोषः। वक्तुश्च बन्धुत्याग-देशत्यागयोस्तनुत्यागाद् गरीयस्त्वेनाभिमतत्वाद् इत्यर्थक्रमलङ्घनस्यापि गुणत्वम्।

३. रत्नदर्पण १।११२ : क्रमभ्रंशे हि यथाऽभिमतान्वयप्रतीतिप्रत्यूहो दूषकताबीजम्। तद् यदि कुतश्चिद् विशेषादस्खलितैव प्रतीतिरुपजायते, तदा बीजाभावेन तथाभावो निवर्तत एव। स च विशेषः प्रतिपदमनुक्रमितुं न शक्यत इति 'कोऽपि यत्न' इति सामान्येन प्रतिपादितम्। सोऽयं शब्दक्रमलङ्घनापवादः।

अर्थक्रमलङ्घने तु अभिप्रायविशेषः। तथाहि—'बन्धुत्याग' इत्यादौ बन्धुत्याग-तनुत्याग-देशत्यागान् क्रमेणोद्दिश्य तथैवानुदेशोऽप्यर्हति। न तु 'आदिममुद्दिश्य ततोऽन्त्यस्ततो मध्यम' इति उद्देशानुदेशलक्षणशास्त्रक्रमभ्रंशजातीयत्वेऽपि सम्बन्धज्ञानहेतुयत्नकरणाददूषणत्वं व्यवस्थाप्यते।

(६) शब्द-हीनमनालक्ष्य-लक्ष्य-लक्षण पद्धतिः ।
पद-प्रयोगोऽशिष्टेष्टः, शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ।। १४८ ।।

(६) उदाहरण और स्वरूपप्रतिपादक शास्त्रका मार्ग जिसमें दृष्टि-गोचर नहीं होता, ऐसा अशिष्टजनोंको अभीष्ट सुबन्त और तिङन्त रूप पदों का प्रयोग **शब्दहीन** (नामक दोष) होता है। किन्तु (ऐसा शास्त्रप्रतिकूल प्रयोग यदि) शिष्टोंको इष्ट होता है, तो दोष नहीं होता ।। १४८ ।।

---

(६) **शब्दहीन दोष**—भगवान् **भाष्यकार**के अनुसार लक्ष्य (उदाहरण) और लक्षण (स्वरूपनिरूपणपरक विधान, सूत्र) दोनों मिलकर व्याकरण शास्त्र' निष्पन्न होता है।' यों, कोई भी शास्त्र उदाहरण और नियम दोनों को मिलाकर पूर्ण होता है। 'शब्दहीन' दोषके सन्दर्भमें आचार्य दण्डीको **'लक्ष्य-लक्षण'**से साध्य शब्द एवं साधक सूत्र वार्तिक आदिमें व्यवस्थित 'व्या-करण शास्त्र' अभीष्ट है। **न आलक्ष्या=सम्यग् द्रष्टुं शक्या लक्ष्यलक्षणयोः व्याकरणशास्त्रस्य पद्धतिः मार्गः पाणिन्यादिभिस्तत्तत्सम्प्रदायाचार्यैः यस्य, स अनालक्ष्य-लक्ष्य-लक्षण-पद्धतिः।** अर्थात् शब्दोंका अनुशासन करनेका तत्तत् सम्प्रदायके रूपमें प्रथित मार्गका अनुसरण जिस प्रयोगमें दिखाई नहीं देता है, जो शब्दानुशासनके अनुसार सही नहीं उतरता है, वह शब्दप्रयोग 'अना-लक्ष्य लक्ष्य और लक्षणकी पद्धति वाला' है।

यत्नश्चायमेव यद् 'आदि' पदैरुल्लेखः। तानि हि तत्तत्स्थानविशेषगामिन एवं प्रतीतिमुपजनयन्ति। अवश्यं चानेन क्रमेणात्र वक्तुमुचितं, तनुत्या-गस्य, विजातीयताविवक्षया पृथगेव वक्तुमर्हत्वात्। एवं चानुपपत्तिः। लोके बन्धुत्यागापेक्षया शरीरत्यागस्यातिकृच्छ्रत्वेन प्रसिद्धिः। अतश्च 'मध्यम आयतक्लेश, आद्यन्तौ क्षणिकज्वरौ ।।' इति वचनमुचितम्। इति आर्थक्रमभ्रंशः कथं न भवति? तत्राह 'वक्तुश्च (बन्धुत्यागदेश-त्यागयोस्तनुत्यागाद् गरीयस्त्वेनाभिमतत्वात्। इत्यर्थक्रमलङ्घनस्यापि गुणत्वम्। सरस्वती० १।११२ वृत्तिः)' इति। 'अभिमतत्वाद्' इत्यनेन, अभिप्रायाविशेषोऽपवादहेतुः।

'यथारुचि यथाऽर्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासो व्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः' ।।

इति न्यायादुपपन्नमेवैतदिति।

१. पस्पशाभाष्य, प्रथम आह्निक, वार्तिक १७ : लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम्। लक्ष्यं च लक्षणं चैतत् समुदितं व्याकरणं भवति।···शब्दो लक्ष्यः। सूत्रं लक्षणम्।

इस प्रकारका शास्त्रके द्वारा अननुमोदित पदोंका प्रयोग अनधीतशास्त्र (अशिष्ट) लोग किया करते हैं। अतः व्याकरणके नियमोंका उल्लङ्घन करना उन व्याकरणज्ञानशून्य लोगों (अशिष्टों) को इष्ट होता है। इस प्रकारका व्याकरणविरुद्ध पदप्रयोग शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे हीनएवम् अपशब्द के रूपमें होनेके कारण **'शब्दहीन'** कहलाता है। इसे **'शब्दच्युत'** भी कहा जाता है।

व्याकरणसे सिद्ध नहीं होने वाला पदप्रयोग भी शिष्टोंको, शब्दशास्त्रके अनुकूल प्रयोग करने वाले आप्त पुरुषोंको, यदि इष्ट है, वे इसके प्रयोगमें दोष नहीं देखते हैं, तो ऐसा शिष्टानुमोदित प्रयोग दोष नहीं होता। मूर्धन्य ध्वनियोंके दन्त्यी करण, दन्त्य ध्वनियोंके मूर्धन्यविधान, आत्मनेपद-परस्मैदके प्रयोगमें व्युत्क्रम, देशज शब्द आदि इसी श्रेणीमें आते हैं। इसके अतिरिक्त, व्याकरण मुख्यतया परोक्षवृत्ति शब्दों तक अपना कार्य करता है। अतिपरोक्ष-वृत्ति शब्दोंको मान्यता उसे भी उनके आप्त-गृहीत होनेके कारण देनी पड़ती है। धातुपाठमें ऐसी बहुतसी धातु हैं, जो संस्कृतकी धातुओंसे विकसित हुई हैं। संस्कृतके ध्वनिशास्त्र (वर्णविज्ञान) के अनुसार वे संस्कृतकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं हैं। पर शिष्टेष्ट होनेके कारण उन्हें धातुपाठोंमें समाविष्ट कर लिया गया है। जैसे √घिण्ण्, √घुण्ण् और √घृण्ण् धातु संस्कृत √गृह्ण अङ्गसे बिकसित हैं: संस्कृत 'ऋ' का उच्चारण कुछ प्रदेशोंमें इकारश्रुतिसे होता है, तो कुछ प्रदेशोंमें उकारश्रुतिसे[1], महाप्राण ह्' के लोपकी क्षतिपूर्ति अल्पप्राण 'ग्' के 'घ्' के रूपमें उच्चारणसे होती है। (क) अल्पप्राणयोंके इस प्रकार महाप्राणीकरण, (ख) 'ऋ' के रेफातिरिक्त स्वरांशके 'इ' 'उ' के रूपमें उच्चारणकी देशज प्रवृत्तियोंसे ये तीन धातु संस्कृत 'गृह्णाति' या 'गृह्णीते' से विकसित हुई हैं और संस्कृत धातुपाठोंमें ग्रहण कर ली गई हैं।[2] यही स्थिति व्याकरणके अन्यविध नियमोंकी है। यह नियमोंका उल्लङ्घन भाषाके विकासकी प्रक्रियामें जब तक तरल रहता है, अभिजात वर्ग द्वारा समादृत नहीं होता है, तब तक इसे 'अशिष्टेष्ट' कहा जाता है, और ये प्रयोग दोषकी कोटिमें आते हैं। जब ये अभिजात वर्गमें प्रवेश कर लेते हैं, तब ये शिष्टोंके चहेते (शिष्टेष्ट) बन जानेके कारण लोकमें और लोकका ही आराधन करने वाले काव्यमें भी स्वीकृत हो जाते हैं। मनस्=मन,=मन् की वात्रा इस प्रकारकी है। 'मन्'

१. निरुक्तमीमांसा, पृष्ठ ४३३ देखें।

२. पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण: घिणि, घुणि, घृणि ग्रहणे। विशेषार्थ सिद्धान्तकौमुदी, भवतोषिणी, भ्वादिगण तथा धातु-सूची देखें।

अवते भवते बाहुर्महीमर्णवशक्वरीम् ।
महाराजन्नजिज्ञासौ[1] नास्तीत्यासां गिरां रसः ।। १४९ ।।

हे महाराजन्, आपके लिये बाहु रक्षा कर रहा समुद्ररूपी शक्वरी (करधनी) वाली पृथ्वीकी । इस वाणीका रस (शब्दगत अनुप्राससे लभ्य मिठास) अजिज्ञासुके प्रति नहीं है ।। १४९ ।।

उच्चारणमें शिष्टेष्टताको प्राप्त होकर भी अभी लिपिमें स्वीकृत नहीं हुआ है । 'कवि' शब्द 'कव्' बननेकी ओर चल पड़ा है । जो व्याकरणविरुद्ध प्रयोग समाजके किसी वर्गका अङ्ग न बनकर नितान्त वैयक्तिक प्रयोगका विषय हैं, वे तो प्रयोक्ताको उपहासका पात्र बनाने वाला दोष समझे जाते हैं ।।१४८।।

शब्दहीनका उदाहरण—प्रकृत (१४९वें) श्लोकमें कविने 'अवते'में आत्मनेपदका प्रयोग व्याकरणलक्षणविरुद्ध किया है : अव् धातुपाठमें उदात्तेत् परस्मैपदी धातुओंमें पठित है ।[2] यहाँ आत्मनेपदमें दी है । अतः शब्दहीन है । '**अवते**'का सम्बन्ध '**बाहुः**' सञ्ज्ञापदसे समुचित हैं, अतः शेष (कारकेतर) सम्बन्धमें षष्ठी होनी चाहिये । चतुर्थीके कारण इसका '**अवते**' क्रियापदसे सम्प्रदान सम्बन्ध प्रकट होता है, जो अपेक्षित नहीं है । पुरुषके दो भुजाएँ होनेके कारण '**बाहु**'में द्वित्व उचित है । एकवचन शास्त्रविरुद्ध या आप्तविरुद्ध होनेसे दोष है । '**अर्णवशक्वरीम्**'में बहुव्रीहि समास है : **अर्णवः शक्वरी मेखला[3] यस्याः, ताम्** । दीर्घकारान्त स्त्रीलिङ्ग उत्तरपदमें होनेपर समासान्त '**क**' (कप्) प्रत्यय शास्त्रसम्मत है ।[4] '**अर्णवशक्वरीकाम्**' होना चाहिये । वह नहीं किया है । अतः शब्दहीन है । '**महांश्चासौ राजा**' व्युत्पत्तिसे कर्मधारय तत्पुरुषसे '**महाराज**' (अदन्त) शब्द निष्पन्न होता है ।[5] उसकी सम्बुद्धिमें

---

१. रत्नश्रीज्ञान : 'महाराजन्, न जिज्ञासा नास्तीत्यासां गिरां रसः ।।' इत्यपि पाठः । तत्र 'आसां गिरां रसो नास्तीति ईदृशी जिज्ञासा न विद्यते । हेयत्वादीदृशस्य रसस्य ।' इति व्याख्येयम् । वादिजङ्घालदेव और तरुणवाचस्पतिने इसी पाठकी व्याख्या की है ।

२. पाणिनीय धातुपाठ, वर्ग १५ : अथावत्यन्ताः परस्मैपदिनः ।

३. मेदिनीकोष २७।२२१ : शक्वरी छन्दसो भेदे, नदी-मेखलयोरपि ।। अवन्तिसुन्दरीकथा, पृष्ठ १५७, पंक्ति १८ : राज्ञी तु 'नानुरूपा तवाकृतेरसावसारा मेखला' इति स्वशक्वरीप्रेषणातिप्रसादेन विन्ध्यसेनामभ्यानन्दयत् ।

४. अष्टाध्यायी ५।४।१५३ : नद्यृतश्च ।

५. अष्टाध्यायी ५।४।९१ : राजाहःसखिभ्यष्टच् ।

दक्षिणाद्रेरुपसरन् मारुतश्चूतपादपान् ।
कुरुते ललिताधूतप्रवालाङ्कुरशोभिनः ॥ १५० ॥

दक्षिण पर्वत (मलय)से आता हुआ वायु आम्रवृक्षोंको ललित प्रकार (कोमलता)से थोड़ा-थोड़ा कम्पित कोंपलों और मञ्जरियोंसे शोभायुक्त बना रहा है ॥ १५० ॥

'महाराज' बनता है । अतः यह प्रयोग शब्दहीन है । इस प्रकार यह उदाहरण क्रिया, कारक, सङ्ख्या और समासान्तकी दृष्टिसे आदिसे अन्त तक व्याकरण-शास्त्रसे च्युत होनेके कारण नितान्त दोषयुक्त है । भाषाकी तनिकसी समझ रखने वालोंको भी इससे उद्वेग होगा । अधीतशब्दशास्त्र अथवा शब्दपारावार-वेत्तृचूडामणियोंको होने वाले वैरस्यका तो कहना ही क्या है !

यदि यह कहा जाए कि **'अवते भवते'** में व्याकरणकी ऐसी-तैसी **अनुप्रास** के लिए की गई है, तो यह उचित नहीं है । क्योंकि अनुप्रासादि उसे रस प्रदान करेंगे, जो उसे जानना चाहेगा । उद्वेजक होनेके कारण इस प्रकारके काव्यके प्रति सहृदयकी जिज्ञासा ही नहीं होगी, तो रसबोध किसे होगा ? ॥ १४९ ॥

व्याकरणनियमके उल्लङ्घनमें भी निर्दोषताका उदाहरण—प्रकृत (१५०) वें श्लोकमें शतृमें √सृका प्रयोग शास्त्रविरुद्ध है : 'उपधावन्' प्राप्त है । किन्तु शिष्टोंके अनुसार **धाव्** 'तीव्र गति' (दौड़ना) अर्थमें प्रसिद्ध है । अतः यदि वायुकी मन्दगतिकी विवक्षामें √**धाव्**का प्रयोग न करके √**सृ** (सरकना, रेंगना, धीरे-धीरे चलना) का प्रयोग किया है, तो यह व्याकरणनियमोल्लङ्घन दोष नहीं होता । अपितु शिष्टजन विवक्षितार्थको आदर देकर इसका अनुमोदन ही करेंगे ।[1] इसी प्रकार **'मारुतः'**के क्रियापद **'कुरुते'**में प्रयुक्त आत्मनेपद भी तब उचित शास्त्रानुसारी होता, अगर हवा खुदके लिये बहती ।[2] पर यह तो अन्य लोगोंके सुखके लिये बह रही है । अतः परस्मैपद शास्त्रानुसारी है । इसी प्रकार **'उपसरन्'**के योगमें दक्षिणाद्रिकी अपादानता भी उचित नहीं है । 'उपसरन्'का कर्म यदि कोई उक्त होता, तो अपादानता उचित होती । पर 'दक्षिणाद्रिसे' आनेकी कहनेसे वायुकी सुगन्धिता विवक्षित है । अतः यह प्रयोग शिष्टसम्मत है । **रत्नश्रीज्ञानने** 'दक्षिणाद्रिको स्पर्श करके' अर्थकी **विवक्षामें**

---

१. अष्टा० ७।३।७८ : प्रा-घ्रा-ध्मा···सर्ति-शद-सदां···धौ-शीय-सीदाः ।
२. अष्टा० १।३।१२ : स्वरित-ञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।

इत्यादि शास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम् ।
अपभाषणवद् भाति, न च सौभाग्यमुज्झति ।। १५१ ।।

इस प्रकारका प्रयोग शास्त्रके माहात्म्य (प्रभाव अथवा गहराई) के दर्शन में आलस्ययुक्त चित्त वाले लोगोंको अपशब्द (शब्दहीन, व्याकरणविरुद्ध) जैसा प्रतीत होता है। (ऐसा प्रयोग) सौन्दर्यका त्याग नहीं करता (अर्थात् शोभाघातक, दोष नहीं होता) ।। १५१ ।।

पञ्चमीसे समाधान किया है।[1] पर जब पञ्चमी शास्त्रानुसार है, तब शब्द-हीन कैसे हुआ ? अतः यह समाधान अनपेक्षित है ।। १५० ।।

शास्त्रोल्लङ्घनमें भी दोषाभावताकी सङ्गति—विशेष अर्थकी विवक्षासे किये ऐसे शास्त्राननुमोदित प्रयोग शास्त्रकी गम्भीरताको नहीं समझनेवाले, केवल प्राप्तिज्ञ लोगोंको दोष प्रतीत हो सकते हैं। पर काव्यका प्रयोजन अर्थ-को सुचारु रूपमें प्रस्तुत करना होता है। यदि शास्त्रकी किसी बातका उल्लङ्घन उसमें बाधा नहीं पहुँचाता, उससे अर्थकी सौन्दर्यसे प्रस्तुतिमें सुकरता ही आती है, तो वह अप-प्रयोग दोष (शोभाविघातक) नहीं होगा। उदा-हरणार्थ पाणिनिने √सृ को √धौ का आदेशमात्र किया है। पर शिष्टोंने उसका प्रयोग 'वेगित गति'में ही माना है।[2] अतः √सृ का शतृमें प्रयोग पाणिनीय शास्त्रके विरुद्ध होते हुए भी मन्दगतिमें शिष्टेष्ट होनेसे दोष नहीं है। काव्यमें दोषता अदोषताका मानदण्ड शोभाका त्याग या-आधान है।

भरतने इस दोषकी उद्भावना यों की है : अशब्दके योंजनसे 'शब्दहीन' दोष समझना चाहिये।[3] 'अशब्द' का तात्पर्य 'शब्दशास्त्रविरुद्ध', या 'शब्द-शास्त्राननुमोदित' है। **भामह**ने इस दोषका निरूपण यों किया है : सूत्रकार

---

१. अत्र किल दक्षिणाद्रेरुपसरणे भावात्पञ्चमी न युज्यतेऽपायलक्षणत्वात् तस्याः। उपसरणापेक्षया त्वाधारेण, व्याप्येन वा दक्षिणानिलेन भाव्यम्। ततश्च सप्तमी, द्वितीया वा युज्यते।...न चैतदेवम्—उपसरणं हि तत आगमनमिति विश्लेषयोगाद् दक्षिणाद्रिमामृश्योपसरन्निति ल्यब्लोप-लक्षणा पञ्चम्येव युज्यते।

२. काशिका ७।३।७८ : सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति। अन्यत्र 'सरति', 'अनुसरति' इत्येव भवति।

३. शब्द-हीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात् ।। नाट्य० १६।६५

(७) श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः ।

(७) श्लोकोंमें निश्चित स्थानोंमें पदोंके तोड़नेको यति जानते हैं ।

(पाणिनि आदि), पदकार (पदविच्छेदादिसे सूत्रपाठके व्याख्याता)[1] को इष्ट प्रयोगसे जो भिन्न (विपरीत) होवे, उसे 'शब्दहीन' कहते हैं ।[2] क्योंकि आप्त श्रोताओंमें उस लक्षणविरुद्ध शब्दकी सिद्धि नहीं है । भामहने इस अन्तिम कथनसे इस दोषके विषयमें आप्त पुरुषोंको भी प्रकारान्तरसे प्रमाणकोटिमें रख लिया है । पर दण्डीके समान निर्भ्रान्त स्पष्ट रूपसे लक्षणविरुद्ध किन्तु आप्तश्रावकसिद्ध (दण्डीके 'शिष्टेष्ट') प्रयोगको निर्दोष नहीं बताया है । इस अंशमें भी दण्डी भामहसे बाजी मार ले गये हैं । **अभिनवगुप्तने** 'अपशब्द' (शब्दहीन)को दोष ही माना है । पर उनके तर्कसे प्रतीत होता है कि उन्हें 'अपशब्द'से शिष्टों द्वारा अननुमत शास्त्रविरुद्ध प्रयोग अभीष्ट है । उनका कहना है कि अपशब्दसे किसी प्रकारकी अर्थप्रतीति नहीं होती । वह सङ्केत-ग्रहण न होनेसे किसी भी प्रकार भावसम्प्रेषण नहीं कर पाता । अतः अपशब्द दोष ही है ।[3] अभिनवगुप्तका यह कथन दण्डीके कथन जितना युक्तियुक्त नहीं है । दण्डी द्वारा प्रस्तुत लक्षणविरुद्ध किन्तु शिष्टेष्ट उदाहरणमें अर्थप्रतीति-विरह नहीं है । वह भामहकी शब्दावलीमें **'आप्तश्रावकासिद्ध'** भी नहीं है । अतः उसे दोष कैसे कह सकते हैं ? ।। १५१ ।।

(७) यतिभ्रष्ट दोष—'यतिभ्रष्ट' दोष बतानेसे पूर्व आचार्यने यतिका

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसकने 'पदकार'से महाभाष्यकार पतञ्जलिको लिया है । द्र० संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३३२ । परन्तु महाभाष्य ३।१।१०९, ६।१।२०७ तथा ८।२।१६ में उल्लिखित 'पदकार' के प्रयोगसे विदित होता है कि सूत्रके संहितापाठका पदविच्छेद करने वाले व्याख्यातामात्र 'पदकार'के रूपमें अभीष्ट हैं, व्यक्तिविशेष नहीं । इन स्थलोंपर प्रदीप देखें । अतः यहाँ सूत्रके व्याख्याता वार्तिक-भाष्य-कार इष्ट हो सकते हैं ।

२. सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत् ।
तमाप्त-श्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा ।। काव्याल० ४।२२
'स्फुरत्तडिद्वलयिनो वितताम्भोगरीयसः ।
तेजस्तिरयतः सौरं घनान् पश्य दिवोऽभितः' ।। २३

३. अभिनवभारती १६।९४ : अपशब्दस्तु दोष एव । ततः कस्याश्चिदर्थं-प्रतीतेरभावात् । स हि न कांचिद् भाषामनुपतति, सङ्केताभावान्न तमर्थं प्रतिपादयेत् ।

तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं, यथा ॥ १५२ ॥

उससे रहित, कानोंका उद्वेजक **यतिभ्रष्ट** दोष होता है । जैसे—॥ १५२ ॥

स्वरूप बताया है । आचार्य **पिङ्गलने** विच्छेदको यति बताया है ।[1] श्लोक और तदन्तर्गत पदोंमें विच्छेद, उच्चारणविराम उच्चारणमें सुविधा और लयमें श्रुतिसुख लानेको किया जाता है । **भरतने** यति अर्थात् विराम के दो प्रकार बताये हैं : (१) छन्दःशास्त्रके नियमोंके अधीन किया जाने वाला (वृत्तपादसमुद्भव) विराम उच्चारण करने वालेके प्राणबलके अनुकूल[2] उच्चारणसुविधाके लिये होता है । अतः उन्होंने इसे '**प्राणवश विराम**' कहा है । (२) अभिनयमें रस भावकी सम्यग् अभिव्यक्तिके लिये अर्थके किसी उचित अंशपर विराम '**अर्थवश विराम**' होता है । उनकी दृष्टिमें अभिनयकी मुख्यताके कारण **प्राणवशा यतिकी** अपेक्षा **अर्थवशा यति** महत्त्वपूर्ण है । पद्यमय काव्यमें उसका महत्त्व नहीं होता । अतः छन्दःशास्त्रमें **प्राणवशा** यतिका ही विधान किया जाता है । भरतने **विराम**की अवधि एक मात्रासे लेकर छह मात्रा तक बताई है ।[3]

---

१. छन्दःशास्त्र ६।१ : यतिर्विच्छेदः । नाट्यशास्त्रमें विराम (१७।१३० गद्यके बाद) भी देखें ।

२. इदमत्रावगन्तव्यमवधानविवर्जितः ।
यावन्ति शक्नुयाद्वक्तुमप्राणन्नेव मानवः ॥ वेङ्कट, ऋग्भा ६।८।१।२१
तावद्भिरक्षरैरर्थः प्रायेण प्रतिपाद्यते । २२

३. ये विरामाः स्मृता वृत्ते तेष्वलङ्कार* इष्यते ।
समाप्तेऽर्थे पदे वाऽपि, तथा प्राणवशेन वा ॥ नाट्य० १७।१३८
कार्यो विरामः पादान्ते, तथा प्राणवशेन वा ।
शेषमर्थवशेनैव विरामं सम्प्रयोजयेत् ॥ १३९
कलाकालप्रमाणेन पाठ्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १४१
शेषाणामर्थयोगेन विरामे विरमेदिह ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्कलं च बिलम्बितम् ॥ १४२
अथवा कारणोपेतं प्रयोगं कार्यमेव च ।
समीक्ष्य वृत्ते कर्तव्यो विरामो रसभावतः ॥ १४४
ये विरामाः स्मृताः पाठ्ये वृत्तपादसमुद्भवाः ।
उत्क्रम्यापि क्रमं तज्ज्ञैः कार्यास्ते स्यू रसानुगाः ॥ १४५
*उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुतविलम्बितौ ।
पाठ्यस्यैते ह्यलङ्कारा लक्षणं च निबोधत ॥ ११२

सबसे स्थूल विराम तो होता है श्लोकार्धमें। उससे कम स्थूल होता है पादान्तमें।[१] उससे सूक्ष्म विराम पादकी लम्बाईके अनुसार अपेक्षित उच्चारणसुविधाके लिये एक बार या दो बार लयमें सौन्दर्य जैसे भी आए, वैसे किया जाता है। पादमें यह विच्छेद पदोंके छेदके रूपमें होता है, क्योंकि पाद पदसमुदाय ही होता है। पदोंका यह छेद लम्बे छन्दमें आवश्यकताके अनुसार निश्चित स्थानपर, निश्चित अक्षरसङ्ख्यापर, विहित है। निश्चित स्थानपर भी पदच्छेदके कुछ नियम हैं। शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ वे सङ्क्षेपसे प्रस्तुत किये जा रहे हैं। विस्तरार्थ छन्दःशास्त्रकी हलायुधकी **मृतसञ्जीवनी** तथा अन्य छन्दोविषयक ग्रन्थ देखें।

(१) विच्छेद (i) व्यक्त विभक्ति वाले पदपर या (ii) समासमें अव्यक्त विभक्ति वाले पदपर होना चाहिये।[२] (२) पूर्वापर वर्णोंके एक वर्ण न होनेपर पदके मध्यमें भी यति हो सकती है। पदका यह मध्य तोड़नेपर श्रवणोंको कटु न लगे, यह अपेक्षित है। द्व्यक्षर एवं त्र्यक्षर पदके मध्यमें यति नहीं करनी चाहिये। चतुरक्षर पदमें दो अक्षरोंके बाद उचित है। पदमध्ययति पादान्तमें नहीं होनी चाहिये।[३] (३) स्वरोंकी एकादेश सन्धिमें आदेशोपनत स्वरको कभी पूर्वशब्दका अन्तवत् माना जाता है। जैसे '**दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्त०**' (नीतिशतक १), '**तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः** (वही ८)। कभी परशब्दका आदिवत् माना जाता है। जैसे '**स्कन्धं विन्ध्याद्रिबुद्धया निकषति महिष, स्याहितोऽसूनहार्षीत्**। एकादेश सन्धिमें भी यह बात ध्यानमें रखें कि आदेशके अनन्तर पूर्व या पश्चात् एकाक्षर न रहे। जैसे—**अस्या वक्त्राब्जमवजितपूर्णेन्दुशोभं विभाति**।[४] (४) यणादेश सन्धिमें यणादेश परवर्ती पदका आदिवत् होता है।[५] जैसे **शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्ति नः केवलम्** (नीतिशतक ३९)। (५) च, वा, ह, तु

---

१. यतिः सर्वत्र पादान्ते, श्लोकार्धे तु विशेषतः। हलायुधटीका ६।१

२. समुद्रादिपदान्ते च व्यक्ताव्यक्तविभक्तिके। हलायुध ६।१

३. क्वचित्तु पदमध्येऽपि समुद्रादौ यतिर्भवेत्।
यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ॥
पदमध्ये यतिः पादान्ते मा भूत्। हलायुध ६।१

४. पूर्वान्तवत् स्वरः सन्धौ, क्वचिदेव परादिवत्। हलायुध ६।१

५. द्रष्टव्यो यतिचिन्तायां यणादेशः परादिवत्। हलायुध ६।१

'स्त्रीणां सङ्गीत, विधिमयमा, दित्यवंश्यो नरेन्द्रः,

'यह सूर्यवंशी राजा यहाँ शिष्टजनोंके साथ स्त्रियोंके क्लेश (कष्ट)के

आदि निपातोंसे पूर्व यति नहीं होती, क्योंकि इनका सम्बन्ध हमेशा पूर्ववर्ती पदसे होता है। **'स्वादु स्वच्छं, च हिमसलिलं प्रीतये कस्य न स्यात् ?'** में **'च'** से पूर्व यति उचित नहीं है। **'प्रत्यादेशादपि च, मधुनो विस्मृतभ्रू विलासम्'** (मेघदूत २।२८) में **'च'** के बाद यति है, वह उचित है। (५) **प्र, परा** आदि जब उपसर्गके रूपमें प्रयुक्त होते हैं, तब उनका सम्बन्ध परवर्ती पदसे होता है, इस लिये इनके पश्चात् यति नहीं करनी चाहिये। किन्तु यदि ये कर्म-प्रवचनीयके रूपमें प्रयुक्त हैं, तो इनके पश्चाद् यति की जा सकती है।[1] जैसे **'दुःखं मे प्र,क्षिपति हृदये दुस्सहस्त्वद्वियोगः'**में **प्र**पर यति उचित नहीं है। किन्तु **'द्वारारूढप्रमोवं हसितमिव परिस्पष्टमासां सखीभिः ।'** में **परि** के पश्चात् यति उचित है।[2]

इस प्रकार विहित यतिका भङ्ग होनेपर काव्य श्रुतिकटु हो जाता है। अतः उद्वेगकर होनेके कारण यह दोष होता है ॥ १५२ ॥

यतिभ्रष्ट दोषका उदाहरण—अगले (१५३वें) श्लोकके पूर्वार्धमें आचार्य ने 'यतिभ्रष्ट' दोषका उदाहरण कतिपय यतिभङ्गोंसे प्रदर्शित किया है। यह श्लोक मन्दाक्रान्ता छन्दमें निबद्ध है। उसके पादमें चौथे, दसवें और सत्रहवें

---

१. नित्यं प्राक्पदसम्बन्धाश्चादयः प्राक्पदान्तवत् ।
परेण नित्यसम्बन्धाः प्रादयश्च पटादिवत् ॥ हलायुधटीका ६।१

२. पादान्त एव केच्चिच्च पादमध्येऽपि केचन ।
यतिं वदन्ति; तत्रापि विशेषः स्फुटमुच्यते ॥ मन्दारमरन्द, शेषबिन्दु
(i) धातुनामस्वभिन्नेषु　यतिर्भवति,　नान्यथा ।
(ii) उपसर्गान्ततश्छेदः, (iii) प्रत्ययादौ तयोः क्वचित् ॥
(iv) स्वरसन्धौ　तु　सम्प्राप्तसौन्दर्याद्यतिरिच्यते ।
(v) तु, चादयो न प्रयोज्या विच्छेदात् परतस्तथा ॥
(vi) प्रत्ययादौ　यतिर्नाम्नां षष्ठ्यामेवेति केचन* ॥
स्वरसन्धिकृते प्रायो, धातुभेदे तदिष्यते ।
नामभेदे च शेषेषु न दोष इति सूरयः ॥

तरुणवाचस्पति द्वारा उद्धृत यह विवरण वामनके कथन (काव्यालङ्कारसूत्र २।२।४)का सङ्क्षेप है।

*जैसे 'न तव बलमनङ्गस्यापि वा दुःखभाजो' । आश्चर्यचूडामणि ५।६

पश्यत्यक्लिष्, टरसमिह शिष्, टैरमेत्यादि दुष्टम् ।
'कार्याकार्या, ण्ययमविकला, न्यागमेनैव पश्यन्
वश्यामुर्वीं, वहति नृप इ, त्यस्ति चैवं प्रयोगः' ।। १५३ ।।
लुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।

विपरीत सुखकारी रससे युक्त सङ्गीतके अनुष्ठानको देख रहा है ।' इस तरह का प्रयोग दोषयुक्त है ।

'समस्त कार्यों और अकार्योंको शास्त्र (रूपी आँख)के द्वारा ही देखता हुआ यह राजा अपने बसमें आई हुई पृथ्वीका पालन करता है ।' इस प्रकारका यह (उचित) प्रयोग है ।। १५३ ।।

पदके अन्तमें (विभक्तिका) लोप होनेपर शेष अंशकी पदस्वरूपता जैसे

अक्षरपर यति होती है ।[1] प्रकृत श्लोकके प्रथम पादमें चौथा अक्षर 'सङ्गीत' पदका मध्यम वर्ण 'ङ्गी' है, तो दसवाँ अक्षर 'आदित्य'का आदिम वर्ण 'आ' है । प्रथम यतिमें यतिके दोनों ओर एकेक अक्षर रहता है । तथा द्वितीय यतिमें यति वाला वर्ण एकाक्षर भाग है । अतः यह यति द्वितीय यतिनियमके विरुद्ध अनुचित प्रकारसे है । इस लिये प्रथम पादमें दो बार यतिभङ्ग लयमें बाधक है । अतः दोष है । इसी प्रकार द्वितीय पादमें चतुर्थ अक्षर 'अक्लिष्ट' का मध्यम अक्षर 'क्लिष्' है । दशम अक्षर 'शिष्टै'के प्रथम वर्ण 'शिष्'के पश्चात् यति प्राप्त है । दोनोंमें ही उभयतः एकेक अक्षर शेष रहनेके कारण उचित यति नहीं है । अतः यह पाद भी द्वितीय यतिनियमके अनुसार सदोष है ।

उचित यतिका उदाहरण—मन्दाक्रान्ता छन्दमें निबद्ध १५३वें श्लोकके उत्तरार्धमें कविने पदके मध्यमें उचित विच्छेदका उदाहरण प्रस्तुत किया है । 'कार्याकार्या, ण्ययमविकला, न्या'में 'चौथे 'र्या' और दसवें 'ला' पर यति पदके मध्यमें ही है । यहाँ पूर्वापर पद यण् सन्धिसे जुड़े हुए हैं । सन्धिज यण् (य्) चतुर्थ यतिनियमके अनुसार परवर्ती पदका आदिम अवयव हो गया है । अतः यहाँ यति पदमध्यमें न मानी जाकर पदान्तमें ही मानी जायेगी । उच्चारणमें भी यह यति वैरस्यकारक नहीं है । चतुर्थ पादमें चौथे अक्षरपर यति पदान्तमें होनेके कारण उचित है । दसवें अक्षर 'इत्यस्ति'के 'इ' पर भी यणसन्धिके परादिवद्भावसे पदान्तपर ही है । अतः निर्दोष है ।। १५३ ।।

पदमध्यमें विरामके अदोषत्वकी सङ्गति—आचार्यने यतिभ्रंश दोषका कारण पदपर विच्छेद बताया है । पर उत्तरार्धमें उदाहरण दिये हैं पदमध्यमें

---

१. मन्दाक्रान्ता म्भौ न्तौ तगौ ग् समुद्रर्तुस्वराः । छन्दःशास्त्र ७।१९

तथा सन्धिविकारान्तं पदमेवेति गण्यते ।। १५४ ।।

निश्चित होती है, वैसे ही सन्धिके (कारण होने वाले) विकारोंसे युक्तका अन्त भी पद ही है, यह कहा जाता है ।। १५४ ।।

विच्छेदके । वहाँ यतिभ्रष्ट दोष कैसे नहीं है ? आचार्यने अगला श्लोक इस शङ्काको दृष्टिमें रखकर दिया है ।

पाणिनिके अनुसार सुप्-प्रत्ययान्त और तिङ्-प्रत्ययान्त शब्द 'पद' होता है ।[1] किन्तु समासमें तथा नामधातुओंमें विभक्तियोंका लोप होनेपर भी अन्तर्वर्तिनी विभक्तिको निमित्त मानकर वहाँ पदत्व माना जाता है । तो, पदके अन्तिम भाग विभक्तिका लोप होनेपर भी जैसे वहाँ पदत्व अव्याहत माना जाता है, वैसे ही पदके अन्त भाग विभक्तिकी परवर्ती पदसे एकादेशरूप या अन्य प्रकारकी यण्, अयादि आदेशके रूपमें सन्धि होनेपर भी विकृत हुए अंशोंके पूर्वान्तवद्भाव या परादिवद्भावसे तथा व्यञ्जनको परवर्ती स्वरसे मिलानेके कारण पराङ्गताके कारण सम्बन्धको रखकर विकारांशसे पूर्ववर्ती या परवर्ती अंशको भी 'पद' मान लिया जाता है ।[2] अतः सन्धिविकारोंपर यति होनेसे वह पदमध्यका विच्छेद नहीं, अपितु पदका ही विच्छेद समझा जाता है । इसका सीधा-सा तात्पर्य आचार्य वामनने यह लिया है कि नाम भाग (प्रातिपदिक) और धातु भाग (विकरणान्त अङ्ग)के मध्य यदि विच्छेद होता है, तभी दोष होता है । यह भागविच्छेद यदि स्वरसन्धिके होनेपर होता है, तब दोष नहीं होता ।[3]

दण्डीने केवल यणसन्धि होनेपर पदविच्छेदके तीन स्थल प्रकृत उदाहरणमें दिये हैं । एकादेशसन्धि होनेपर पदविच्छेदका उदाहरण नहीं देनेका कारण सम्भवतः यह है कि एकादेश सन्धिमें पदत्व छन्दःशास्त्रकी परम्परामें ही विदित है, व्याकरणमें नहीं । अतः लोकमें अप्रसिद्ध होनेके कारण उसका ही प्रदर्शन आचार्यने किया है ।। १५४ ।।

---

१. अष्टा० १।४।१४ : सुप्तिङन्तं पदम् ।

२. अष्टा० ६।१।८४-८५ : एकः पूर्वपरयोः । अन्तादिवच्च । अज्झीनं परेण संयोज्यम् । पूर्वाङ्ग-पराङ्गताका विवेचन हमारे शीघ्र प्रकाश्य 'शिक्षा-वेदाङ्ग' ग्रन्थमें देखें ।

३. काव्यालङ्कारसूत्र २।२।३-४ : विरस-विरामं यतिभ्रष्टम् । तद् धातु-नाम-भाग-भेदे स्वरसन्ध्यकृते । वृत्ति : 'स्वर-सन्ध्यकृत' इति वचनात् स्वरसन्धिकृते भेदे न दोषः ।

तथापि कटु कर्णानां कवयो न प्रयुञ्जते ।
'ध्वजिनी तस्य राज्ञः केतूदस्तजलदे'त्यदः ॥ १५५ ॥

तब भी कानोंको कडुवा लगने वाला प्रयोग कवि लोग नहीं किया करते। जैसे 'ध्वजिनी तस्य राज्ञः केतूदस्त-जलदा'[1] यह प्रयोग है ॥ ११५ ॥

कर्णकटु पदमध्यविराम वर्जनीय है—आचार्य दण्डीने पदमध्यमें ग्रहणीय यति बतानेके बाद प्रकृत (१५५वें) पद्यमें वर्ज्य पदमध्य यति बताई है।[2] पदमध्यमें भी कवि लोग कानोंको अप्रिय लगे, ऐसी यतिका प्रयोग नहीं करते। 'कर्णोंको कटु' कहनेका आशय यतिकी वर्ज्यताका निमित्त श्रुतिकटुत्व-जन्य उद्वेग बताना है। उत्तरार्धमें प्रदत्त उदाहरणके दो पादोंके मध्य अपेक्षित यति द्वितीय (श्लोकके चतुर्थ) पादके आदिम द्व्यक्षर 'केतू' पदके मध्यमें 'के' पर पड़ती है। यह सुननेमें अच्छी नहीं लगती। अतः यह यतिदोष है। यह कर्णकटुत्व यहाँ और यतिशेष पदभागके एकवर्णात्मक होनेसे है।[3]

भरतने 'यतिभ्रष्ट' दोषको पृथक् न मानकर इसे कदाचिद् 'विषम' वृत्त-दोष में ही समाहित किया है।[4] छन्दःशास्त्रके पिङ्गल आदि आचार्य यति एवं गणव्यवस्था दोनोंको वृत्तके स्वरूपमें समाहित मानते हैं, यह (क) वृत्ताधिकार में यतिका लक्षण देनेसे तथा (ख) वृत्तोंके लक्षणमें विराम और गणव्यवस्था दोनोंको देनेसे सिद्ध होता है।

---

१. उस राजाकी सेना ध्वजोंसे उत्क्षिप्त मेघों वाली (ऊँचे हाथियों पर लगे होनेसे गगनचुम्बी ध्वजों वाली) है।

२. रत्नश्रीज्ञान, वादी जी और तरुणवाचस्पतिने इस श्लोकको सन्धि-विकारान्त पदके भङ्गमें यतिकी वर्जनीयताका उदाहरण बताया है। पर 'केतु + उदस्त = केतूदस्त' स्थिति न होनेपर 'केतुक्षिप्त' पाठ यदि होता, तो 'के' पर यति होती, तो क्या यह यति वर्जनीय न होती? सन्धिविकारसे निष्पन्न दो पदोंके अन्तवद्भाव और आदिवद्भावसे यदि यति निष्पन्न होती, तो उसे 'सन्धिविकारान्त श्रवणोद्वेजक यति' कहा जा सकता था। अतः यहाँ पदमध्यमें वर्ज्य यतिका विवरण मानना ही उचित है।

३. पृष्ठ १८२ में हलायुधका द्वितीय यतिनियम देखें।

४. वृत्तदोषो भवेद् यत्र 'विषमं' नाम तद् भवेत्। नाट्यशास्त्र १६।६३ वृत्तरत्नाकर १।१२ 'यतिर्विच्छेदसञ्ज्ञितः' पर नारायणभट्ट : भरता-दयस्तु यतिमेव नेच्छन्ति।

पिङ्गलने विरामके स्थानोंका तो निर्देश किया है, किन्तु उस स्थानमें भी विच्छेद करनेसे कहीं लय टूटनेसे छन्द दूषित होगा, यह स्पष्टत: नहीं कहा है। प्राचीन छन्द:शास्त्रियोंकी तो यह दृष्टि थी कि एकाधिक अक्षर कम या अधिक होनेसे छन्दस्त्व व्याहत नहीं होता।[1] परवर्ती आचार्योंकी यह मान्यता है कि प्राचीन छन्द:शास्त्रमें यतिभङ्ग जैसा कोई दोष नहीं था; यदि था, तो केवल इस रूपमें कि प्रदत्त स्थानपर यति न करके अन्य स्थान पर कर दी जाये, तब यतिभङ्ग होता है। इसलिये अर्वाचीन आचार्योंने यतिके स्थानातिरिक्त नियमोंको वृत्तका अङ्ग नहीं माना। गुरुलघुव्यवस्थाको ही वृत्त माना।[2] इस प्रकार यतिके नियम और गुरुलघुव्यवस्था दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। और इनमें दोष होनेसे क्रमश: यतिदोष और वृत्तदोष होते हैं। यह भरतोत्तरवर्ती आचार्योंकी दृष्टि है। यों, इस दृष्टिका मूल भरतमें उपलब्ध है: उन्होंने अभिनयके समय काव्यके पाठमें जहाँ भिन्नवृत्तका निषेध किया है, वहीं बिना विराम (यति) के विश्राम करनेका भी निषेध किया है।[3] यह स्पष्ट ही यतिभ्रंशका निषेध है। भरतने अपने शास्त्रके प्रयोगप्रधान होनेके कारण उसके अनुकूल उसकी वर्जनीयता अभिनय (वाचिक) में बताई है; जबकि दण्डी आदि काव्यशास्त्रियोंने काव्यके प्रणयन

---

१. शतपथब्राह्मण १२।२।३।३ : नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्याम्। कौषीतकिब्रा० २७।१ : न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति; नो द्वाभ्याम्।

२. छन्द:शास्त्र ५।१ पर मृतसञ्जीवनी : तथा चोक्तम्—एकदेशस्थिता जातिर्वृत्तं गुरु-लघु-स्थितम्। वृत्तरत्नाकर १।१२ पर नारायणभट्ट : यतिर्वृत्तस्वरूपाद् भिन्नाऽपि गुणालङ्काराद्यपेक्षयाऽन्तरङ्गाङ्गत्वात् सूत्रकारादिभिर्लक्षणमध्ये निबद्धा, न तु वृत्तस्वरूपतया। मात्रागुरुलघुनियमनं हि वृत्तलक्षणम्, विरामात्मकत्वं च यते:। काव्यालङ्कारसूत्र २।२।५ : न वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो, वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात्। ६ : न, लक्ष्मण: पृथक्त्वात्। वृत्ति : गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तम्। विरामात्मिका च यतिरिति।

३. (क) नापशब्दं पठेत् तज्ज्ञो (ख) भिन्नवृत्तं तथैव हि।
(ग) विश्रमेन्नाविरामेषु (घ) दैन्ये काकुं न दीपयेत्॥ १७।१४६
(क) 'अपशब्द' को १६।८९ में 'शब्दच्युत' और ९५ में 'शब्दहीन' कहा है। (ख-ग) १६।९४ में प्रोक्त 'वृत्तदोष' अपरनाम 'विषम'का विवरण है। (घ) 'काकु'का सम्बन्ध वाचिक अभिनयसे है, छन्दसे नहीं। यह गद्य पद्य दोनोंमें हो सकती है।

(८) वर्णानां न्यूनताऽऽधिक्ये गुरु-लघ्वयथास्थितिः ।
यत्र, तद् भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः ।। १५६ ।।

(८) जहाँ अक्षरोंकी (क) कमी या बेशी हो, (ख) गुरु और लघुका उसके विपरीत विन्यास हो, वह **'भिन्नवृत्त'** होवे । यह दोष बहुत निन्दित दोष होता है ।। १५६ ।।

में ही यतिभ्रंशको दोष (वर्ज्य) बताया है । इसी दृष्टिके तहत दण्डी या उनसे पूर्वके आचार्योंने भरतके **'विषम'** नामक वृत्तदोषको ही **'यतिभ्रष्ट'** और **'भिन्नवृत्त'** नामक दो दोषोंमें विभाजित कर दिया ।

भामहका 'यतिभ्रष्ट'का विवेचन दण्डीसे कुछ भिन्न है : छन्दमें प्रयुक्त शब्दोंकी वि-चारणा यति होती है । उससे भ्रष्ट 'यतिभ्रष्ट' कहलाता है ।[1] भामहने पिङ्गलके 'विच्छेद' और दण्डीके 'पदच्छेद' जैसे स्पष्टार्थक शब्दोंके स्थानपर 'शब्दोंकी विचारणा' जैसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति दी है । उनके उदाहरणमें तो और भी गड़बड़ है : तमाल+असित='तमालासित' में दीर्घ एकादेश सन्धिके अन्तवद्भावके कारण 'तमाला' के शब्दत्व या पदत्वमें न छन्दःशास्त्रियोंके अनुसार यतिभ्रंश दोष है, और न कविपरम्परामें । महाकवियोंने इस प्रकारकी सन्धियोंपर यतिके असङ्ख्य प्रयोग किये हैं । यदि कविसम्प्रदायमें इन्हें दोष माना जाता, तो वे ऐसे प्रयोग क्यों करते ? अतः भाम-हका न लक्षण निर्दोष है, और न उदाहरण ही ठीक है ।

निष्कर्ष : यतिभङ्ग दोषके बारेमें दण्डीका विवेचन समस्त आचार्यपरम्परा में सर्वाधिक युक्तिसङ्गत एवं यथार्थपरक है । यतिका उद्देश्य श्रुतिसुख है । श्रुतिकटु यतिका परिहार कविको करना चाहिये । **कविकल्पलता**के आचार्य का यह कथन दण्डीके मतकी ही पुष्टि करता है : यति मधुरताका हेतु है । उसे इस रूपमें करना चाहिये कि वह उद्वेजक न बने[2] ।। १५५ ।।

(८) **भिन्नवृत्त दोष**—छन्दमें तीन बातें होती हैं : (क) अक्षरोंकी नियत सङ्ख्या; इसमें भेदसे छन्दोंकी जाति बदल जाती है; (ख) गुरु लघुके

---

१. यतिश्छन्दोऽधिरूढानां शब्दानां या विचारणा ।
तदपेतं यतिभ्रष्टमिति निर्दिश्यते, यथा ।। काव्याल० ४।२४
विद्युत्वन्तस्तमाला,सितवपुष मे वारिवाहा ध्वनन्ति ।। २५

२. वृत्तरत्नाकर १।१२ पर नारायणभट्ट : तदुक्तं कविकल्पलतायाम्
एवं यथा यथोद्वेगः सुधियां नोपजायते ।
तथा तथा मधुरतानिमित्तं यतिरिष्यते ।।

नियत क्रमसे अक्षरोंका विन्यास; मात्रिक छन्दोंमें मात्राओंका तथा वार्णिक छन्दोंमें अक्षरों (केवल स्वरों या व्यञ्जनारूढ स्वरों)का क्रमविशेषमें व्यवस्थित विन्यास; (ग) नियत सङ्ख्यापर विराम अर्थात् यति। यतिदोष का निरूपण पीछे (१५२-१५५ श्लोकोंमें) विस्तरेण किया जा चुका है। अब छन्दकी शेष दो विशेषताओंमें दोष आनेसे होने वाले वृत्तदोषका निरूपण १५६-१५८ श्लोकोंमें आचार्यने किया है।

(क) शतपथ और कौषीतकि ब्राह्मणोंके प्रमाणसे पीछे देख चुके हैं कि एक दो अक्षरोंकी कमीसे 'छन्दोभङ्ग नहीं माना जाता था। किन्तु वहाँ भी दो स्थितियाँ शास्त्रकारोंने बताई हैं : (i) यदि अक्षरोंकी न्यूनता एकादेश अथवा यणादि सन्धिके कारण है, तो उसे सन्धिच्छेद (व्यूह[1])के द्वारा पूरा किया जाता है।[2] ये सन्धिज छन्दोभङ्ग कविकृत नहीं थे, अपितु भाषामें सन्धियोंका स्वरूप बदलनेपर संहिताकारोंने भाषाके नवविकसित स्वरूपके

---

१. व्यूहकी आवश्यकताके बारेमें वेङ्कटमाधवका ऋग्वेदके छठे अष्टकके सातवें अध्यायकी व्याख्याके प्रारम्भमें दिया वक्तव्य द्रष्टव्य है :
समीचीना यदा वृत्तिर्न व्यूहेऽपि भवेदिह।
न तदा व्यूहमिच्छन्ति; तत्रैतल्लिङ्गदर्शनम्॥ ७॥
'अक्षरे पादक्लृप्तिः स्यान्न च हल् केवलोऽक्षरम्।
संयोगानामतो व्यूहो न कार्य' इति बह्वृचाः॥ १०॥
भवतो द्वौ यणादेशौ यदैकस्मिन् पदे, तदा।
तथा व्यूहेद् यणादेशं यथा वृत्तिर्न दुष्यति॥ ११॥
व्यूहे च वृत्त्यसिद्धिश्चेद्, व्यूहं नेच्छन्ति केचन।
व्यूहेनाक्षरसङ्ख्या च कार्येत्याह माधवः॥ १२॥ श्लोकौ भवतः
'चत्वारि सन्धिजातानि यैश्छन्दो ह्रसते न च।
प्रश्लिष्टमभिनिहितं क्षिप्रसन्धिरभिद्रुतम्॥ १॥
एतानि सन्धिजातानि मिमानश्छन्दसोऽक्षरैः।
द्वैधं कुर्यादसम्पूर्णे, न पूर्णे किञ्चनेङ्गयेत्'॥ २॥ इति।

२. व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे॥ ऋक्प्रातिशाख्य १७।२२
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः पदैः॥ २३
छन्दःशास्त्र ३।२ : इयादिपूरणः। ऋक्सर्वानुक्रमणी १।३ : पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्।
प्रथम परिच्छेदकी भूमिका, पृष्ठ ३-४ भी देखें।

(क i) **'इन्दुपादाः शिशिरा स्पृशन्तीत्यूनवर्णता ।**
(ii) **'सहकारस्य किसलयान्यार्द्राणीत्यधिकाक्षरम् ।। १५७ ।।**

(क i) 'इन्दुपादाः शिशिरा' (शीतल चन्द्रकिरण छूती हैं) में पादमें एक वर्ण (अक्षर) की कमी है । (ii) 'सहकारस्य किसलयान्यार्द्राणि' (आम की गीली कोंपलोंको) यह काव्य अधिक अक्षर वाला है ।। १५७ ।।

अनुरूप करनेको कविके प्रयत्नके विपरीत जाकर नवीन सन्धियोंका प्रयोग कर के छन्दोभङ्ग कर दिया था । व्यूहन (सन्धिच्छेद) से उसे पुनः यथापूर्व लाया जाता है । (ii) यदि कविकी अशक्तिवश हो गया है, या कविने वैचित्र्यार्थ स्वेच्छासे किया है, तब व्यूहसे काम नहीं चलता है, तो उसे कविके प्रति श्रद्धावश न बदलकर निचृत् भुरिक् या विराट् और स्वराट् नामसे व्यवस्थित कर दिया जाता था ।[1] काव्यशास्त्रियोंने इस प्रकारके औदार्यकी छूट नहीं दी ।[2] अक्षरसङ्ख्या यदि अपेक्षितसे कम या अधिक है, तो उसे दोष ही कहा है । इसका उदाहरण आचार्यने १५७वें श्लोकमें दिया है ।

(ख) छन्दमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है गुरु लघु का व्यवस्थित क्रममें विन्यास । उसका भङ्ग छन्दमें सदा दोष समझा जाता रहा है । छन्दकी लयके भङ्गका सर्वाधिक उद्वेजक हेतु गणभङ्ग (गुरुलघुविन्यासका भङ्ग) है ।

(ग) यतिभङ्गपर विचार १५२-१५५ श्लोकोंमें किया ही जा चुका है । छन्दोभङ्ग दोष हर स्थितिमें वैरस्यकारक ही होता है । अतः यह नित्य दोष है ।। १५६ ।।

(क i) **पादमें अक्षरकी न्यूनतासे भिन्नवृत्तताका उदाहरण—१५७वें** श्लोकके पूर्वार्धमें आचार्यने अक्षरन्यूनताजन्य भिन्नवृत्त दोषकी व्याख्या उदाहरण दे कर की है : इस अर्धालीके अनुष्टुप् छन्दोबद्ध प्रथम पादमें आठ अक्षरोंकी बजाय सात अक्षर हैं । अतः यह पाद सम्पूर्ण श्लोकमें प्रयुक्त लयको भङ्ग करनेके कारण उद्वेजक होनेसे दोष है ।

---

१. छन्दःशास्त्र ३।५९-६२ : ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ । द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ । आदितः सन्दिग्धे । देवताऽऽदितश्च । छन्दोंसे देवताओंके सम्बन्धके आदिम उल्लेखके लिये ऋ० १०।१३०।४-६ देखें ।

२. हलायुधवृत्ति ३।६३ : वैदिकेष्वेवच्छन्दस्सु निचृद्भुरिजौ तथा विराट्-स्वराजौ च दृश्येते । न लौकिकेषु ।

(ख i) कामेन बाणा निशाता[1] विमुक्ता, मृगेक्षणाष्वित्ययथागुरुत्वम् ।
(ii) मदनबाणा निशिताः पतन्ति वामेक्षणास्वित्ययथालघुत्वम् ।१५८।

(ख i) 'कामेन बाणा निशाता विमुक्ता' (मृगनयनियोंपर कामदेवने तीखे छोड़े बाण)में गुरु अनुचित है । (ii) 'मदनबाणा निशिताः पतन्ति' (कामदेवके तीखे बाण तिरछी चितवन वालियों पर पड़ते हैं) में लघु वर्ण अनुचित है ।। १५८ ।।

(ii) **अक्षरकी अधिकतासे भिन्नवृत्तताका उदाहरण**—श्लोकके उत्तरार्ध में यण्सन्धिके परादिवद्भावकी स्थितिमें 'किसलया' पर यति होती है । तब इस पादमें आठकी बजाय नौ, एक अक्षर अधिक होनेसे छन्दकी लय टूटती है । इससे यह पाद श्रुतिविरस हो जाता है ।। १५७ ।।

(ख i) **लघुके स्थानमें गुरुके प्रयोगसे भिन्नवृत्तताका उदाहरण**—१५८वें श्लोकके प्रथमपादमें कविने एकादशाक्षर त्रिष्टुप् जातिके इन्द्रवज्राछन्दका प्रयोग किया है । इस छन्दमें सातवां अक्षर दीर्घ नहीं, अपितु लघु अपेक्षित होता है ।[2] किन्तु यहाँ यह **'निशाता'** में **'शा'** के रूपमें दीर्घ है । अतः गुरुका अयथावत् (अनुचित रूपसे) प्रयोग छन्दोभङ्गकारक है । **'निशिता'** पाठसे दोषनिवारण हो जाता है ।

(ii) **गुरुके स्थानमें लघुके प्रयोगसे भिन्नवृत्तताका उदाहरण**—तृतीय पादके द्वितीय अक्षरमें लघु वर्ण 'द'का प्रयोग करनेसे उपजातिमें इस स्थानपर गुरु प्रयोगका उल्लङ्घन हुआ है । अतः यहाँ लघु वर्ण अयथावत् (अनुचित रूपसे) प्रयुक्त हुआ है । इस लिये छन्दोभङ्गके कारण भिन्नवृत्त दोष है । **'मदनबाणाः'**के स्थानपर **'अनङ्गबाणाः'** पाठसे इस दोषका निवारण हो जाता है ।

रत्नश्री और वादिटीकामें **'निशिताः'** पाठ माना है । रत्नश्रीज्ञानने इस पादको उपेन्द्रवज्राका[3] पाद समझकर प्रथम अक्षरमें लघुके स्थानपर दीर्घ **'का'**के प्रयोगसे छन्दोभङ्ग बताया है । उन्होंने ऐसा सम्भवतः द्वितीय और तृतीय पादोंमें उपेन्द्रवज्राके शुद्ध और खण्डित प्रयोगको देखकर किया होगा । पर प्रथम और चतुर्थ पादोंमें इन्द्रवज्रा और बीचके दो पादोंमें उपेन्द्रवज्राके मिश्रणसे उपजातिके[4] सम्भव होते प्रथम और चतुर्थ पादोंमें भी

---

१. रत्नश्री, वादिटीका : निशिता, तरुणवाचस्पति : निशाता ।

२. छन्दः शास्त्र ६।१५ : इन्द्रवज्रा तो ज्गो ग् ।

३, उपेन्द्रवज्रा ज्तौ ज्गौ ग् । ४. आद्यन्तावुपजातयः ।

दण्डीको उपेन्द्रवज्रा ही इष्ट है, और दोनों पादोंमें प्रथम अक्षरमें लघुके स्थानमें दीर्घका अयथावत् प्रयोग है, यह माना जाये, इसमें कोई युक्ति नहीं है। अतः यहाँ प्रथम पादमें इन्द्रवज्रामें ही गुरुका अयथावत् प्रयोग बताने वाला 'निशाता' (मध्यगुरु) पाठ ही ठीक है।

वादिजङ्घालदेवने उपजातिवाले इस श्लोकमें अनुष्टुप्की लघु-गुरु व्यवस्थाका उल्लङ्घन बताया है।[1] इसपर क्या टिप्पणी की जाये ?

भरतने इस दोषका निरूपण **'विषम'** नामसे किया है। यह **'यतिभ्रष्ट'**के प्रसङ्गमें कहा जा चुका है। इसकी व्याख्या उन्होंने 'वृत्तका दोष विषम होता है।' कहकर की है। वृत्तके तीन अवयव पीछे श्लोक १५६ पृष्ठ १८८में बताये जा चुके हैं। अतः भरतके अनुसार इन तीनोंमेंसे किसी भी एक अवयव के लक्षणविरुद्ध होनेसे वृत्तमें दोष निष्पन्न हो जानेसे **'विषम'** नामक छन्दोभङ्ग दोष होगा। आचार्य दण्डीने भरतके कथनको व्याख्यानसे लभ्य इस विशेषप्रतिपत्तिको विस्पष्ट रूपसे **'यतिभ्रष्ट'** और **'भिन्नवृत्त'** दो दोषोंके रूपमें प्रतिपादित किया है। **भामहने** भी शब्दान्तरसे इसी प्रकार इन दोषोंका निरूपण किया है।[2] उन्होंने मालिनी[3] छन्दका उदाहरण दिया है। इसके द्वितीय पादमें नवम अक्षर गुरुके स्थानपर लघु दिया है और बारहवाँ अक्षर दीर्घके स्थानमें लघु दिया है। इसके अतिरिक्त पूरे पादमें १४ अक्षर होनेसे एक अक्षरकी न्यूनता है। आठवें अक्षर **'को'** पर एकादेश सन्धिके अन्तवद्भावसे यति की गई है[4] ॥ १५८ ॥

---

१. वादिटीका ४।३५ : पञ्चमं लघु सर्वत्रानुष्टुप्छन्दस्यषष्ठं द्विचतुर्थयोः पादयोः, षष्ठं गुरु चतुर्ष्वपि भवत्यक्षरमिति नियमः। इह तु 'कामेन बाणा' इति पञ्चमं गुरु। 'निशिता' इत्यषष्ठं लघु। 'द्विचतुर्थयोः' इति विशेषणात् प्रथम-तृतीययोः सप्तमं गुरु भवति। अत्र च प्रथमपादे सप्तमाक्षरस्य लघुत्वादयथागुरुत्वम्।···अयथालघुत्वमाह—'मदनबाणा निशिताः पतन्ति'। 'शि' स्थाने गुरुणा भवितव्यम्। पञ्चमेन च लघुना सप्तमं द्विचतुर्थयोः पादयोर्लघु, प्रथमतृतीययोश्च गुरु भवतीति लघु प्रयुक्तम्। इत्ययथालघुत्वम्। इति 'नि', 'शि' शब्दौ दोषः।

२. गुरोर्लघोश्च वर्णस्य योऽस्थाने रचनाविधिः।
तन्न्यूनताऽधिकता वाऽपि भिन्नवृत्तमिदं यथा ॥ काव्याल० ४।२६

३. ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। वृत्तरत्नाकर

४. भ्रमति भ्रमरमाला काननेषून्मदाऽसौ।
विरहितरमणीकोऽर्हति त्वद्य गन्तुम् ॥ काव्याल० ४।२७

(९) **न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत् ।**
तद् विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्[1] ।। १५९ ।।

(क) **मन्दानिलेन चरता अङ्गनागण्डमण्डले ।**

(९) पदोंमें सन्धि नहीं करनेकी इच्छासे जो सन्धिका अभाव होता है, उसे '**विसन्धि**' नामसे कहा है । **प्रगृह्य** आदिके कारण होने वाला सन्धिका अभाव विसन्धि नहीं होता ।। १५९ ।।

(क) रमणीके गोल-गोल कपोलपर उमगा पसीना आकाशमें और हमारे

---

(९) **विसन्धि दोष**—'विसन्धि' विगत-सन्धिके अर्थमें है । 'सन्धि' का अर्थ है योग, जुड़ाव, सन्धान, संहिता । (i) पदोंके अवयवोंमें आन्तरिक तथा (ii) पदोंमें परस्पर बाह्य सन्धि होती है । (१) प्रथम और द्वितीय पादोंमें एवम् (२) तृतीय तथा चतुर्थ पादोंमें सन्धि होनी चाहिये । इस प्रकार श्लोकार्ध के घटक दो पादोंमें (i) आन्तरिक और (ii) बाह्य सन्धि व्याकरणमें बताये नियमोंके अनुसार अनिवार्य बताई गई है । व्याकरणके अनुसार सन्धिके तीन रूप हैं : (१) कुछ स्थितियोंमें यह नित्य होती है, तो (२) कहीं विकल्प से । इसी प्रकार (३) कुछ स्थितियोंमें सन्धिका अभाव भी शास्त्रोंमें विहित है । इसे पाणिनीय व्याकरणमें 'प्रकृतिभाव' कहा जाता है और प्रातिशाख्यों तथा तदनुसारी शिक्षावेदाङ्गमें 'विवृत्ति' कहा जाता है ।[2] इसके अतिरिक्त, अयादि आदेशोंके पदान्तीय 'य्' और 'व्'का स्वरके पूर्व शाकटायनाभिमत लोप होनेपर अकार और परवर्ती स्वरकी वृद्धि आदि सन्धियाँ नहीं होती ।[3] यह सन्ध्यभाव भी नित्य है । (क) शास्त्रके अनुसार सन्धि जहाँ नित्य विहित है, वहाँ यदि प्रयोक्ता सन्धि नहीं करता तब वह शास्त्रविरुद्ध विवृत्ति सन्धिके जानकारोंको उद्वेजक होनेसे दोष है । किन्तु जहाँ (ख) सन्धिके अभावकी शास्त्रीय विकल्पके कारण प्राप्ति है, अथवा (ii) प्रकृतिभावके कारण, वहाँ वह दोष नहीं होगी ।। १५९ ।।

(क) **विसन्धि दोषका उदाहरण**—प्रकृत १६०वें श्लोकमें प्रथमपादान्त-स्थ '**आ**' ('**ता**') की द्वितीयपादादिस्थ '**अ**' से दीर्घ एकादेश सन्धि छन्दः-

---

१. यह श्लोक त्रिपुरहरभूपालने काव्यालङ्कारसूत्रकामधेनु २।२।८में 'यदवादि दण्डिना' कहकर उद्धृत किया है ।

२. अष्टा० ६।१।११५-१२८; विशेषकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् । ऋक्प्रा० २।३-४ : स्वरान्तरं तु विवृत्तिः । सा वा स्वरभक्तिकाला ।

३. अष्टा० ८।३।१९ : लोपः शाकल्यस्य । ८।२।१ : पूर्वत्रासिद्धम् ।

लुप्तमुद्भेदि घर्माम्भो नभस्यस्मन्मनस्यपि[1] ॥ १६० ॥

(ख i) **'मानेर्ष्ये इह शीर्येते स्त्रीणां** (ii) **हिमऋतौ प्रिये ।**

मनमें चलते हुए मन्द पवनके द्वारा लुप्त हो गया ॥ १६० ॥

(ख) हे प्रिये, इस ठण्डीके मौसममें इन रातोंमें स्त्रियोंके पतिके प्रति मान और जिन्हें मानकी आवश्यकता नहीं पड़ती, उन स्वाधीनपतिका

शास्त्रके अनुसार आवश्यक (नित्य प्राप्त) है । पर यहाँ यह जानकर नहीं की है । अतः विसन्धि दोष है ।

तरुण वाचस्पतिने यहाँ **'मन्दानिलेन** के स्थानपर **'मेघानिलेन'** पाठ मान कर **'नभसि'** का अर्थ नभोमास (श्रावण) किया है । मन्दानिल या मेघानिल का नभस (आकाश या श्रावण मास)से आधाराधेयभाव सम्बन्ध है । मनसे इन दोनोंका सम्बन्ध मनोहरताके कारण मनमें घूमनेका है । इससे सुन्दरीके प्रति रतिका व्यभिचारी भाव औत्सुक्य व्यक्त होता हैं ।

बादिजङ्घाल देवने 'एक और विशिष्ट उदाहरणका ऊह यहाँ किया जा सकता है', कहा है । उसे तरुणवाचस्पतिने दण्डिकृतके रूपमें समझा है ।[2] रत्नश्री में यह उपलब्ध नहीं है । अतः प्रतीत होता है कि वादिजीके परामर्शके बाद यहाँ भ्रमसे समझ लिया गया है । तिरुपतिसंस्करणके संस्कर्ताने बिना विचार किये उसे मूलके रूपमें रख दिया है ॥ १६० ॥

(ख) निर्दोष विच्छेदके दो उदाहरण—व्याकरणमें 'प्रकृतिभाव सन्धि'के नामसे विदित सन्धिके अभावकी स्थितिके दो उदाहरण उपलक्षणार्थ दिये हैं : (i) प्रथम उदाहरण नित्य सन्ध्यभावका है : **'मानेर्ष्ये'** एकारान्त द्विवचनान्त होनेके कारण प्रगृह्य पद है और इसकी परवर्ती स्वरसे सन्धिका प्रकृतिभावके

---

१. प्रथम पादका पाठ तरुणवाचस्पतिने सम्भवतः काव्यालङ्कारसूत्र २।२।८ और सरस्वती० १।२७के प्रभावमें 'मेघानिलेन अमुना' माना है । या वामन और भोजका उदाहरण दण्डीके उदाहरणसे बिल्कुल भिन्न है । लगता है किसी ने अन्य समान उदाहरणके प्रतीकके रूपमें हाशियेपर लिख दिया और कालान्तरमें भ्रमसे दण्डीके श्लोकका पाठ समझ लिया गया ।

२. वादिटीका : 'आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने' इत्यादिकमपि विशिष्टमुदाहरणमूह्यम् । तरुणटीका : 'पादान्ते सन्धेरकरणं न दोषाय' इति केचित् । तदुदाहरति 'आधिव्याधी'ति । तिरुपतिसं० में उत्तरार्ध यों दिया है : को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥

आसु रात्रिष्विति प्राज्ञैरज्ञातन्यङ्गमीदृशम्[1] ।। १६१ ।।

रमणियोंके प्रति ईर्ष्या क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकारका (सन्धिरहित प्रयोग) प्राज्ञोंको दोषरहित प्रतीत होता है ।। १६१ ।।

रूपमें नित्य निषेध है। (ii) द्वितीय उदाहरण सन्धिविकल्पका है : **'हिमऋतौ'** समस्त पद है। इसमें गुण सन्धि प्राप्त है। उसका प्रतिषेध प्रकृतिभावके विकल्पसे होता है। अर्थात् गुण एकादेश सन्धि भी उचित है, उसका अभाव भी। यहाँ गुणका अभाव किया गया है।[2] वह बुद्धिमानोंको न्यङ्ग=अङ्गहीन, दोषयुक्तके रूपमें ज्ञात नहीं है। अर्थात् वे इसे निर्दोष समझते हैं।

भरतने उपश्लेषण=सन्धानसे रहित शब्दवाला होना 'विसन्धि' दोष बताया है।[3] **अभिनवगुप्तने** सन्धिके तीन प्रकार बताये हैं : (क) दो वर्णोंमें निरन्तरता, (ख) विचारका योग (भामहने इसे 'विचारणा' कहा है), (ग)

---

१. रत्नश्री और वादिटीकामें इस श्लोकका पूर्वार्ध धृत, व्याख्यात नहीं है। अपितु उत्तरार्धको १६०वें श्लोकसे मिलाकर व्याख्या की गई है कि इस प्रकारका श्लोकार्धोंके अन्त और आदिमें सन्धिका अभाव शिष्टोंको दोषके रूपमें विदित नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि रत्नश्रीज्ञान यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें विसन्धिको निर्दोष मानते हैं। अर्थात् 'आसु रात्रिषु०' आदि अर्ध उत्तरार्ध है और इसके पूर्व एक पूर्वार्ध है जो किसी कारणसे रत्नश्रीमें विच्छिन्न हो गया है। अन्यथा (१) दो श्लोकोंके अन्तादिकी सन्धि तो कहीं भी विहित नहीं है। उसके अभावमें दोषत्व वा अदोषत्वका प्रश्न ही नहीं उठता। (२) यदि 'मानेर्ष्ये' आदि पूर्वार्ध यहाँ नहीं है, तो यह श्लोकार्ध परिच्छेदमें लटकता रहेगा, जो कोई भी ग्रन्थकार नहीं करेगा। (३) जब श्लोकोंके अन्तादिमें सन्धि होती ही नहीं है, तब इसे 'प्राज्ञैरज्ञातन्यङ्ग' कहनेका क्या अभिप्राय है। जबकि इसे पूरा श्लोक माननेपर प्रकृतिभाव सन्धिके कारण यहाँ सन्धिके अभावकी निर्दोषताका उदाहरण होनेसे यह कथन बिल्कुल प्रासङ्गिक है। अतः भोटपाठ, रत्नश्री और वादिटीकामें उपलब्ध न होते हुए भी 'मानेर्ष्ये०' आदि पूर्वार्ध यहाँ मौलिक ही है।

२. अष्टा० १।१।११ : ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्। ६।१।१२५ : प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्। १२८ : ऋत्यकः।

३. अनुपश्लिष्टशब्दं यत्, तद् 'विसन्धी'ति कीर्तितम्। नाट्यशास्त्र १६।९४

आपसमें मिल जाना (एकादेश) ।[1] **भामह**ने विसन्धिका निरूपण केवल उदाहरण देकर चलता किया है। इसमें सन्धिभङ्गके तीनों स्थल **कान्ते + इन्दुशिरोरत्ने + आदधाने + उदंशुनी** एदन्त द्विवचन होनेके कारण प्राप्त नित्य प्रकृतिभावसे सन्ध्यभावके उदाहरण हैं ।[2] शास्त्रविहित प्रकृतिभावजन्य सन्ध्यभावको दोष माननेकी महती मति भामहमें ही है । भामहके अनुकरणमें **वामन**ने भी इस प्रकारके प्रगृह्यहेतुक विश्लेषको दोष ही माना है ।[3] परवर्ती लोगोंने भामहके उदाहरणमें लगातार तीन विवृत्तियोंको देखकर, उससे संकेत पाकर, भामहादिकी इस अतिवादी दृष्टिमें कुछ नरमी लाकर समन्वयका प्रयास किया है कि पुनः पुनः इस प्रकारके प्रकृतिभावके प्रयोग करना दोष है, एकाध बार करनेपर दोष नहीं है ।[4]

वामनने विसन्धिको एक और आयाम भी दिया : शब्दोंके सन्धानके कारण यदि कोई अश्लील शब्दका प्रतिभास हो जाता है, तो उन्होंने उस अग्राम्यताको भी 'विसन्धि' ही बताया है ।[5] परवर्ती**रुद्रट**, **अग्निपुराणकार** तथा **भोज** आदि सभी आचार्योंने वामनकी दृष्टि ही अपनाई है ।। १६१ ।।

---

१. अभिनवभारती १६।९४ : सन्धानं द्वयोर्नैरन्तर्यं, विचारयोगः, अन्योन्यलयोवेति त्रिधा । तदनुपारूढमयुक्तं पारुष्याद्युत्पादकं वा यत्रापशब्दः स्मृतो मुनित्रयेणादृतः ।

२. कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी ।
पातां वः शम्भुशर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्ध्यदः ।। काव्याल० ४।२८

३. काव्यालङ्कारसूत्र २।२।८ : पदसन्धिवैरूप्यं (i) विश्लेषो (ii) ऽश्लीलत्वं (iii) कष्टत्वं च । (i) वृत्तिविश्लेषो यथा—
मेघानिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने ।
कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः ।।
लोलालकानुबद्धानि आननानि चकासति ।

४. काव्यप्रकाश ७ उ०, २१२ : 'संहितां न करोमी'ति (तु० काव्यादर्श ३।१५९) स्वेच्छया सकृदपि दोषः । प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत् । काव्यालङ्कारकामधेनु २।२।८ : यदवादि दण्डिना, 'न संहितां···न प्रगृह्यादिहेतुकम् ।।' (काव्यादर्श ३।१५९) इति । अत्र प्रगृह्यादिहेतुकं विसन्धि न भवतीति सकृत्प्रयोगविषयमिदं द्रष्टव्यम् । असकृत्प्रयोगे तु दुष्टमेव ।

५. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति २।२।८ : (ii) अश्लीलत्वं यथा—
विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम् ।
चकासे पनसप्रायैः पुरी षण्डमहाद्रुमैः ।।

(१० क) देशोऽद्रि-वन-राष्ट्रादिः, (ख) कालो **रात्रिन्दिवर्तवः।**
(ग) [1]**नृत्य-गीत-प्रभृतयः** कलाः **कामार्थ-संश्रयाः ॥१६२॥**

(१०. क. अ) पर्वत, (आ) वन तथा (इ) राष्ट्र आदि **'देश'** होता है। (ख. अ) रात, (आ) दिन, (इ) मौसम **'काल'** होता है। (ग) काम, (ii) अर्थ पुरुषार्थोंपर आश्रित (अ) नृत्य (आ) गीत आदि **कला** होती हैं ॥१६२॥

---

(१०) **दशम देशादि-विरोध दोषके आधार देशादिके लक्षण**—अगले दो श्लोकों (१६२-१६३)में दशम दोष **देशादिविरोधके देश** आदि छह आधारोंका परिगणन करके उसका लक्षण १६४वें श्लोकमें किया गया है। **देश** आदि छह पदार्थोंके विषयमें कविके प्रमाद (असावधानी)के कारण यदि कोई ऐसी बात कह दी जाती है, जो उन-उन आधारोंमें प्रसिद्धिके विपरीत हो, तो वह क्रमशः (क) **देश-विरोधी**, (ख) **कालविरोधी**, (ग) **कलाविरोधी**, (घ) **लोकविरोधी**, (ङ) **न्यायविरोधी** और (च) **आगमविरोधी** दोष कहलाता है। ये छह दशम दोषके अवान्तर भेद हैं।

इस दोषका मूल **भरतके 'न्यायादपेत'** दोषमें निहित है : प्रमाणों (लोक, वेद तथा अध्यात्म)से रहित कथन न्यायसे रहित होनेसे न्यायापेत (न्याय-विरोधी) दोष होता है।[2] प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे पदार्थके स्वरूपकी परीक्षा 'न्याय' कहलाता है। भरतोक्त या दर्शनशास्त्रोक्त प्रमाणोंके द्वारा परीक्ष्य पदार्थों (प्रमेयों)को काव्यमें इस रूपमें प्रयुक्त करना कि वे प्रमाणोंसे परीक्षा करनेपर सही न उतर सकें, **न्यायापेत** दोष होता है। काव्यके वर्ण्य प्रमेयोंका वर्गीकरण दार्शनिक वर्गीकरणके समान तो नहीं हो सकता। अतः दण्डीने **देश** आदि छह प्रमेय बताकर इनके विषयमें प्रमाणविरुद्ध कथनको

विनाशपथदानाभ्यां पदवादसमुत्सुकम्।
कामधेनु : विरेचक-याभ-पुरीष-विनाश-पदविन्यासैर्विरेचन-मिथुनीभाव-पुरीष-विनाश-प्रतीतेस्त्रिविधान्यश्लीलानि द्रष्टव्यानि।

१. इसका उदाहरण १७०वें श्लोकमें नाट्यसे सम्बद्ध दिया है। अतः उचित पाठ तो 'नाट्य' प्रतीत होता है। नृत्य नाट्य (प्रेक्षणीयक)का ही अङ्ग है, यह समझकर कदाचित् 'नृत्य' कहा है।

२. न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्। नाट्यशास्त्र १६।९३
लोको वेदस्तथाऽध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ॥ २५।१३२

देशादिविरुद्ध दोषके रूपमें निरूपित किया है ।

काव्यके छह प्रमेयोंका स्वरूप आचार्यने निम्नोक्त प्रकारसे बताया है :

(क) देश—प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञेय विषयोंमें सर्वप्रथम पदार्थ है सबका अधिष्ठान देश । काव्यमें देशका वर्णन (अ) पर्वत, (आ) जंगल, नदी, समुद्र, मरुस्थल, (इ) राष्ट्र (प्रशासनिक इकाई), नगर, ग्राम, घर, बाहर आदिके रूपमें किया जाता है । अर्थात् भौगोलिक वर्णन देशका विषय है ।

(ख) काल—समयका वर्णन सूर्य या चन्द्रकी गतिके आधारपर कल्पित लघुतम इकाई 'त्रुटि' अथवा 'क्षण'से लेकर उनके योगसे निष्पन्न प्रातः, सायम्, रात, दिन, सन्ध्या, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि बड़ी मात्राओंके रूपमें किया जाता है । इतिहासभी कालका विषय है ।

(ग) कला—मनुष्यके चार पुरुषार्थों (i) धर्म, (ii) अर्थ, (iii) काम और (iv) मोक्षमें (iv) मोक्ष निवृत्तिमार्ग होनेसे काव्यका प्रमेय कम ही होता है । प्रवृत्तिमार्गी तीन पुरुषार्थोंमें (क) धर्म अर्थका साधन है और (ख) अर्थ कामका है ।[1] इन सबका साध्य सुख (आनन्द) है । आनन्दका ही साधन चौंसठ कलाएँ और १०४ उपकलाएँ हैं । इनमेंसे नाट्य कला आँख और कान, दो, इन्द्रियोंसे रञ्जनके कारण सर्वाधिक मधुर होती है । नाट्यका ही अङ्ग है गान्धर्व कला । वह अन्य कलाओंकी प्रतिनिधि है । नाट्याचार्यों भरत और विशाखिलके अनुसार गान्धर्व विद्याके तीन आश्रय हैं : (i) स्वर (कण्ठ vocal, तन्त्री instrumental music), (ii) ताल (कर-चरणनिक्षेप) और (iii) पद (i. शब्दविधान, ii. छन्दोविधान ।[2] दण्डीने (i, iii) प्रकारके

---

१. दो पुरुषार्थ धर्म और अर्थ साधन हैं और दो काम और मोक्ष क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गके साध्य हैं । कामका साधन अर्थ है और अर्थ-का साधन धर्म है : कामैर्ह स्म वै पुरर्षयः सत्रमासते—'असौ नः कामः । स नः समृध्यताम् ।' इति (श० ब्रा० ४।६।६।२३) । निष्काम भावसे साधित धर्म चित्तशुद्धिकारक होनेसे ज्ञानकी योग्यता उत्पन्न करता है । अतः निष्काम धर्म मोक्षका साधन है । द्रष्टव्य गीता-भाष्य-नवाम्बरा, पृष्ठ ३६ ।

२. गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वर-ताल-पदात्मकम् । नाट्य० २८।११
स्वरा ग्रामावलङ्कारा वर्णाः स्थानानि जातयः ।
साधारणे च शारीर्यां वीणायामेष सङ्ग्रहः ।। १५
व्यञ्जनानि, स्वरा वर्णाः सन्धयोऽथ विभक्तयः ।

(घ) **चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसञ्ज्ञिता ।**
(ङ) **हेतुविद्याऽऽत्मको** न्यायः, (च) **सस्मृतिः श्रुति**रागमः ॥१६३॥

(घ) स्थावर-जङ्गमात्मक पदार्थोंकी प्रवृत्ति (व्यवहार) **'लोक'** है। (ङ) कारणविद्या (तर्कशास्त्र) के रूपमें **'न्याय'** होता है। (च i) स्मृतियों सहित (ii) श्रुति (मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद) **'आगम'** है ॥ १६३ ॥

गान्धर्वका प्रतिनिधित्व करने वाली **गीत** कलाका और (ii) ताल विधाकी उपलक्षक **नृत्य** कलाका कथन किया है। ये कलाएँ (१) पेशेवर प्रयोक्ताके लिए **अर्थ-संश्रय** हैं और (२ अ) आत्मतोषके लिए प्रयोग करने वालेके लिए तथा (आ) श्रोताके लिए **काम-संश्रय** हैं।

ये तीनों प्रमेय भरतके **'लोक'** नामक प्रमाणमें समाहित हैं। दण्डीने इन्हें पृथक् कर दिया है ॥ १६२ ॥

(घ) **लोक**—देश और कालरूप अधिष्ठान तथा कलाओंकी निष्पत्ति उनके आधेय तथा अनुष्ठाता स्थावर जङ्गम भोग्य और भोक्ता पदार्थोंके बिना निष्प्रयोजन है। इसलिये आचार्यने **देश, काल** और **कला**के बाद स्थावरजङ्गमात्मक पदार्थोंको **'लोक'**के नामसे बताया है। (i) स्थावर वृक्ष, लता, आदि **उद्दीपन** विभावके रूपमें और (ii) चेतन पदार्थ **आलम्बन** विभावके रूपमें काव्यमें अपने व्यवहारके माध्यमसे उपयोगी होते हैं। अतः चराचर अव्यक्त, अल्पव्यक्त और सुव्यक्त चैतन्य वाले पदार्थोंके अस्तित्वमात्रका नाम **'लोक'** नहीं है। अपितु इनकी भोक्तृ-भोग्यके रूपमें प्रवृत्ति, व्यवहार ही **लोक**से इष्ट है। वस्तुके स्वरूपावस्थानके बिना कोई भी व्यवहार सम्भव नहीं होता, अतः देशादिमें आधेय वस्तुओंका स्वरूप **'लोक'**में पहले ही समाहित है। काव्यका विषय यही **लोक** है। समस्त **आलम्बन, उद्दीपन विभाव**, उनकी चेष्टाओंके रूपमें **अनुभाव** तथा उनके समस्त मनोजगत्‌में सञ्चरण करनेवाले **संचारी भाव** आदि इस लोकप्रवृत्तिका ही अङ्ग है। अतः **लोक**का ही अङ्ग हैं।

नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धिताः कृतः ॥ १६
छन्दो-विधिरलङ्कारा ज्ञेयः पद-गतो विधिः ।
निबद्धं चानिबद्धं च द्विविधं तत्पदं स्मृतम् ॥ १७
ध्रुवस्त्वावापनिष्कामौ⋯पाद-मार्गाः स-पाणयः ॥ १८-१९
इत्येकविंशतिविधं ज्ञेयं तालगतं बुधैः । २०
अभिनवभारती २८।११ : "आश्रित-वाची 'विधा'-शब्द" इति चिरंतनाः ।⋯तथा च विशाखिलाचार्यः—'स्वर-पद-ताल-समवाये तु गान्धर्वम्' इति ।

तेषु तेष्वयथारूढं यदि किञ्चित् प्रवर्तते ।
कवेः प्रमादाद् देशादिविरोधी**त्येतदुच्यते ।। १६४ ।।**

उन-उन (देशादि) विषयोंमें कविके प्रमादसे यदि प्रसिद्धिके विपरीत कुछ (काव्यमें) होता है, तो वह (१०) **देशादिविरोधी** कहा जाता है ।। १६४ ।।

(ङ) न्याय—'हेतुविद्या' शब्द 'आन्वीक्षिकी'का पर्याय है, जो स्वयं 'दर्शनशास्त्र'का पर्याय है । कार्य-कारण सम्बन्धके विवेचनसे समस्त जगत्का अन्वीक्षण करनेसे यह विद्या 'कारणविद्या', 'हेतुविद्या', 'तर्कशास्त्र', 'अन्वीक्षण', 'दर्शन' आदि शब्दोंसे अभिहित होती है ।[1] **लोक**की प्रवृत्ति तथा उसके प्रयोजनको सूक्ष्मतासे समझनेके लिये **हेतुविद्या**की परम उपयोगिता है । अतः आचार्यने (घ) **लोक**के बाद तथा उससे पृथक् इसका निरूपण किया है । यह अन्य इसी प्रकारकी विद्याओंका उपलक्षक है ।

(च) आगम—विद्यास्वरूप होते हुए भी श्रुति और उसकी अविरोधी या विरोधी परम्परा (स्मृति) सदासे हेतुविद्यासे पृथक् एक प्रमाणके रूपमें मान्य रही है । यह उपलक्षक है इतिहास, पुराण तथा विभिन्न देशों, कालोंमें विभिन्न समाजोंमें विकसित सामाजिक शास्त्रोंका ।। १६३ ।।

काव्यके इस षड्विध वर्ण्य विषयके यथार्थ, प्रमाणसिद्ध स्वरूपके विरुद्ध जो कुछ अपनी अशक्तिसे, या प्रमादसे कवि प्रतिपादित करता है, वह सब जिस-जिस विषयका विरोध उसमें होता है, उस-उसका विरोधी कहलाता है। सहृदय जनको उद्वेजक होनेसे यह दोष है ।

भामहने दण्डी जैसा विस्तार तो नहीं किया है, पर छहों भेदोंका निरूपण प्रायः दण्डीकी दिशामें ही किया है । **वामन**ने सम्भवतः भरतके अधिक अनुकूल होनेकी चेष्टामें (क) देश, काल और स्वभावसे विरोधीको **देशविरोधी** दोष बताया है । और (ख i) कलाशास्त्रों, तथा (ii) चतुर्वर्ग (धर्मार्थकाममोक्ष सम्बन्धी) शास्त्रोंसे विरोधीको '**विद्याविरुद्ध**' नामक दोष बताया है ।[2] इस वर्णनमें वामनके (क) **देश, काल एवं स्वभाव** दण्डीके **देश, काल एवं लोकप्रवृत्ति** हैं । (ख i) **कलाशास्त्र** दण्डीकी **कला** है । (ii) **चतुर्वर्गशास्त्र**में दण्डीके **न्याय** और **आगम** समाहित हैं । १६४ ।।

---

१. तर्कसङ्ग्रह तारोदय, भूमिका, पृष्ठ चार देखें ।

२. काव्याल० सूत्र २।२।२३-२४ : (क) देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि । (ख) कला-चतुर्वर्गशास्त्र-विरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि ।

(१० क. अ) **'कर्पूर पादपामर्श-सुरभिर्मलयानिलः'** ।
(आ) **'कलिङ्ग-वन-सम्भूता मृग-प्राया मतङ्गजाः'** ।। १६५ ।।

(१०. क. अ) 'मलयानिल कपूरके पेड़ोंको छूनेसे सुगन्धित है' ।
(आ) कलिङ्ग देशके वनोंमें उत्पन्न हाथी प्रायः मृग जातिके, अथवा मृगों जैसे छोटे, होते हैं' ।। १६५ ।।

(१० क.) **देशविरोध**—(अ) **अद्रिविरोध** : 'मलय' शब्द दक्षिणमें (तमिलमें) 'पर्वत' का वाचक है । उत्तर भारतमें (संस्कृतमें) यह शब्द दक्षिण के एक पर्वतविशेषके लिये रूढ हो गया है, जिसकी प्रसिद्धि यह है कि वहाँ चन्दनके वृक्ष होते हैं । दक्षिणसे आनेवाली हवा उन्हें छूकर आती है, इसलिये सुगन्धित होती है । प्रकृत १६५वें श्लोकके पूर्वार्धमें मलयानिलकी सुरभिता चन्दनसे न बताकर कपूरके पेड़ोंके स्पर्शसे बताई है । यह यथार्थ नहीं है । क्योंकि (१) कपूरके पेड़ नहीं होते । (२) मलयाद्रिकी कर्पूरपादपके अधिष्ठानके रूपमें प्रसिद्धि भी नहीं है । अतः यहाँ अद्रिरूप देशका अयथार्थ (प्रत्यक्षप्रमाणविरुद्ध) वर्णन करनेके कारण **देशविरोधिता** दोष है ।

(आ) **वन-विरोधी** : श्लोकके उत्तरार्धमें दक्षिणापथके दण्डकारण्य जैसे कलिङ्गवन, अपरनाम 'महाकान्तार', के दक्षिणपूर्वी भागके एक प्रदेशको बहुत प्राचीन कालसे 'कलिङ्ग' कहा जाता था । इसके जङ्गलोंमें पाये जानेवाले हाथी श्रेष्ठ जातिके माने जाते थे ।[1] हाथियोंकी आठ जातियोंमें से श्रेष्ठ जातिका नाम 'भद्र' है । उनका डीलडौल विशाल होता है ।[2] उन्हें कविने 'मृगप्राय' कहा है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं : कलिङ्गवनोंमें उत्पन्न हाथी (१) विशालकाय होनेके बजाय मृगोके समान ह्रस्वाकार होते हैं; (२) वे 'भद्र' जातिके होनेके बजाय गजोंकी तृतीय 'मृग' जातिके होते हैं । रत्नश्रीज्ञानने हाथियोंकी 'भद्र'के समान 'मृग' भी एक जाति बताई है ।[3] जिस प्रकार पुरुषों के बलाबल, आकार, स्वभाव आदिके आधारपर शश, मृग, वाजी आदि भेद

१. कालिङ्गाङ्गगजाः श्रेष्ठाः प्राच्याश्चेति करूषजाः । अर्थशास्त्र २।२
२. भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः··· । काव्यप्रकाश २।१२
वामनझळकीकरटीका : 'भद्रो, मन्दो, मृगश्च' इत्युक्त्वा 'एतेऽष्टौ गजयोनयः ।' इत्युक्तेः ।
३. रत्नश्री ३।१६५ : मृगप्रायाः—'मृग'-लक्षणा हस्तिजातिः प्राया भूयसी येषां, तया वा प्रायाः समधिका मृगप्रायाः । ···कलिङ्गवनजन्मनां हस्तिनां भद्रजातिप्रायत्वात् ।

(इ) **'चोलाः कालागरुश्यामाः कावेरीतीरभूमयः ।'**
इति देश**विरोधिन्या वाचः प्रस्थानमीदृशम् ॥ १६६ ॥**

(इ) 'कावेरी नदीके किनारोंकी धरती वाला 'चोल' नामक जनपद काले अगरसे श्याम है ।'

देशके विरोधवाली उक्तिका स्वरूप ऐसा होता है ॥ १६६ ॥

बताये गये हैं, इसी प्रकार गजोंके भद्र, मृग आदि आठ भेद गजशास्त्रमें प्रोक्त हैं । दोनों ही अर्थोंमें यहाँ **वनरूप देश**का विरोध है : कलिङ्गवनोंमें जब छोटे आकार वाले या मृग जातिके दन्तावल होते ही नहीं, तब वहाँ उन्हें बताना **देशविरोध** है ॥ १६५ ॥

(इ) **राष्ट्रविरोधी कथन** : प्रकृत उदाहरण (१६६वें श्लोक)में दण्डीने (क) **देश**के तृतीय भेद **राष्ट्र**के **विरोध**का उदाहरण दिया है ।

(१) कालागरु वृक्षों (Aquilaria Agallocha, अपरनाम Aloe Wood, Eagle Wood)की उत्पत्ति भारतवर्षमें उत्तरापथमें भूटानमें, पूर्वमें बंगालमें तथा असमके पहाड़ी क्षेत्रों खसिया, गारो, नाग, कछार और सिल्हटमें ही होती है ।[1] दक्षिणापथमें नहीं । सफेद अगरसे काला अगर उत्तम होता है ।[2] यह सिल्हटमें सर्वोत्तम होता है । अतः उत्तरापथमें होनेवाली वस्तुको दक्षिणापथके एक जनपद चोलमें बताना **राष्ट्रविरोध** दोष है ।

(२) दण्डीको यदि इतना ही कहना अभीष्ट होता, तो वे दक्षिणापथको सामान्य रूपसे ही कहते । इससे प्रतीत होता है कि 'चोल जनपदमें' कहनेसे उन्हें कुछ विशेष अभिप्रेत है । वह विशेष यह है कि दक्षिणापथमें चेर और चोल जातिके राजाओंका उच्छेद करके बादामी (वातापी)में चालुक्यों, काञ्चीमें पल्लवों और मदुरामें पाण्ड्योंका राज्य लगभग तीन (छठीसे नौवीं) शती तक रहा । इनमेंसे पूर्वकालमें चोलाधीन कावेरीतीर-भूमि उरैयुर तकका प्रदेश पल्लवसाम्राज्यका भाग था । दण्डीके समय यह परमप्रतापी नरसिंहवर्मा द्वितीय, अपरनाम राजसिंह, के अधीन था ।[3] अतः पल्लवाधीन कावेरीतीर-भूमिको चोलाधीन देश कहनेसे भी राष्ट्रविरोध दोष है । चोलोंका अभ्युदय

---

१. काउंसिल आफ साइण्टिफिक एण्ड इण्डष्ट्रियल रिसर्च, दिल्ली, १९४८ : दी वैल्थ आफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ८९ ।
२. कृष्णं गुणाधिकं तत्तु लोहवद् वारि मज्जति । भावप्रकाश १।६।२३
३. श्रीनीलकण्ठ शास्त्री, ए हिष्ट्री आफ साउथ इण्डिया, अध्याय ७-९ ।

(ख. अ) **पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा,** (आ) **स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।**
(ख. अ) पद्मिनी रातको खिली है । (आ) कुमुदिनी दिनमें चटकती है ।

या तो पल्लवाभ्युदयसे पूर्व था, या नवीं शती ई० में हुआ है । कावेरी-तीर-भूमिको 'चोल' कहनेसे दण्डीके समय कोई छोटी-मोटी चोल नामलेवा रियासत बची भी हो, तो उसका उपहास आचार्यने किया है । क्षेमेन्द्र द्वारा कावेरीको चोल देशमें कहना[1] तो उचित है । किन्तु दण्डीके समय नहीं ।

इस प्रकार उक्तिमें (अ) **पर्वतविरोध,** (आ) **वनविरोध** और (इ) **राष्ट्र-विरोध**के प्रदर्शनके माध्यमसे (क) **देशविरोधी** उक्तिका स्वरूप आचार्यने स्पष्ट किया है । **देशके 'आदि'**-शब्द-परिगृहीत अन्य अङ्गोंका विरोध इसी प्रकार स्वयं समझ लेना चाहिये ।

भामहने देशविरोधका स्वरूप यों प्रस्तुत किया है : किसी स्थानमें जो द्रव्यका होना या नहीं होना कहा जाता है, उसकी विरोधी उक्ति स्वभावके अनुसार 'देशविरोधी' है । जैसे—गुफाओंके निकट उगे हुए कालागरु वाले मलय पर्वतपर सुगन्धित फूलोंसे झुके हुए देवदार वृक्ष शोभा पाते हैं ।[2] यहाँ (१) मलयपर चन्दनकी प्रसिद्धिके विपरीत कालागरुवृक्ष कविने बताये हैं । (२) देवदार वृक्ष हिमालयमें काफी ऊँचाई पर होते हैं तथा उनके फूल नहीं होता अपितु ठीठा (cone) होता है । उन्हें कविने धुर दक्षिणमें स्थित मलयपर्वतपर तथा (३) फूलोंसे झुके बताया है । अतः देशविरोधी होनेसे यह उक्ति दोषयुक्त है । दक्षिणके निवासी दण्डीने देशविरोधके तीनों उदाहरणोंमें दक्षिण भारतमें ही नहीं होनेवाले पदार्थोंका वर्णन किया है । उत्तर भारतके भी धुर उत्तरमें कश्मीरके निवासी भामहने देवदारका उदाहरण उचित ही दिया है । मलय पर्वतका वर्णन तो उन्होंने सम्भवतः दण्डीके उदाहरणकी नकलपर दिया है ।। १६६ ।।

(ख) **कालविरोध**—अगले अढ़ाई (१६७-१६८।।) श्लोकोंमें आचार्य ने **काल**के उपलक्षणार्थ प्रस्तुत तीनों पदार्थोंके विरोधके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । प्रथम श्लोकके पूर्वार्धके दो पादोंमें क्रमशः (अ) **रात्रि काल** और (आ) **दिन**के विरोधके उदाहरण दिये हैं । इसके बाद डेढ़ श्लोकमें (इ) **ऋतुविरोध**के

---

१. उल्लङ्घ्यमाना कावेरी तेन सम्मर्दकारिणा ।
चोलकेश्वरकीर्तिश्च कालुष्यं ययतुः समम् ।। कथासरित्सागर १९।९५

२. या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते ।
तत् तद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात् तद् यथोच्यते ।। काव्याल० ४।२९
मलये कन्दरोपान्तरूढकालागरुद्रुमे ।
सुगन्धिकुसुमानम्रा राजन्ते देवदारवः ।। ३०

(इ १) मधुरुत्फुल्लनिचुलो, (२) निदाघो मेघदुर्दिनः ॥ १६७ ॥
(३) श्रव्यहंसगिरो वर्षाः, (४) शरदामत्तबर्हिणी ।
(५) हेमन्तो निर्मलादित्यः,(६)शिशिरः श्लाघ्यचन्दनः' ॥ १६८ ॥
इति कालविरोध**स्य दर्शिता गतिरीदृशी ।**

(इ १) बसन्त फूल आए हुए निचुल (स्थलवेतस) वाला है । (२) ग्रीष्म मेघोंसे ढँके आकाश वाला है (३) सुनने योग्य हंसोंकी वाणियों वाला बारिस का मौसम है । (४) मदमस्त मयूरों वाली शरद् है । (५) हेमन्तमें निर्मल है सूरज । (६) शिशिरमें लगता है चन्दन अच्छा ॥ १६८ ॥

इस प्रकार **कालविरोध**की ऐसी स्थिति दिखाई ।

छह उदाहरण छह पादोंमें प्रस्तुत करके १६९वें श्लोकके पूर्वार्धमें **कालविरोध** का उपसंहार किया है ।

(अ) **रात्रिविरोध** : पद्मिनी (कमलिनी) रातमें नहीं खिलती, अपितु दिनमें खिलती है । कुमुदिनी रातको खिलती है । यहाँ कुमुदिनीको रातमें खिलती न बताकर पद्मिनीको बताया है । इसलिये रात्रिकालका विरोध किया है । अतः प्रत्यक्षविरुद्ध यह सहृदयके लिये उद्वेजक होनेसे दोष है ।

(आ) **दिनविरोध**—कुमुदिनीको रातमें खिलती न बताकर दिनमें खिलती बतानेसे यहाँ दिनकालविरोध प्रत्यक्षविरुद्ध होनेसे दोष है ।

(इ) **ऋतुविरुद्ध** : (१) **वसन्त**में निचुल (स्थलवेतस)[1] नहीं खिलता; (२) **ग्रीष्म** ऋतुमें आकाश मेघच्छन्न नहीं होता; (३) **वर्षाकाल**में हंसोंका कलरव नहीं सुनाई देता; वे तो शरदारम्भमें जलाशयोंमें आते हैं; (४) बर्हिगण (मयूर) **शरद्** ऋतुमें मदमस्त नहीं होते, अपितु वर्षाकालमें मेघमालाको देखकर पाँखें फैलाकर नाचकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं; (५) **हेमन्त** ऋतुमें आदित्य शीतजन्य कोहरेसे धुँधला और दक्षिणायनके कारण मन्दद्युति हो जाता है; (६) **शिशिर** (टाढे पाले वाली सर्दी)में चन्दन शीतल होनेके कारण मनको नहीं भाता; वह तो गर्मीमें अच्छा लगता है । इस प्रकार इन छहों उक्तियोंमें तत्तद् ऋतुओंके विपरीत अनुभव (प्रत्यक्ष)का निरूपण होनेसे यहाँ **ऋतुविरोध** स्पष्ट है ॥ १६७-१६८ ॥

कालके उक्त तीनों अङ्गोंके विरोधका स्वरूप इस प्रकार दिखलाया है । कालके अन्य अवयवों युगादिका विरोध भी इसी प्रकार समझें । जैसे सत्ययुग

---

१. वानीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे । शब्दार्णवकोष

(ग) **मार्गः कलाविरोधस्य मनागुद्दिश्यते यथा ।। १६९ ।।**

(i) **'वीर-शृङ्गारयोर्भावौ स्थायिनौ क्रोध-विस्मयौ'** ।

(ii) **'पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नमार्गः[1] प्रवर्तते'** ।। १७० ।।

(ग) 'कलाविरोध' दोषके मार्ग (प्रकार, स्वरूप) का कथन कुछ (नाम-मात्र देकर) किया जा रहा है । जैसे—।। १६९ ।।

(i) 'वीर, शृङ्गार (रसों) के स्थायी भाव क्रोध और विस्मय हैं' ।

(ii) 'वह यह पूरे सातों स्वरों वाला भिन्नमार्ग चल रहा है' ।। १७० ।।

में कलिकी प्रवृत्तियोंका या कलियुगमें सत्ययुगकी प्रवृत्तियोंका वर्णन काल-विरोध होगा । ऐसे ही मन्वन्तर विरोधादि भी समझें । युगादिविरोधमें शब्द-प्रमाण (पुराणादिप्रतिपादित स्वरूप)का उल्लङ्घन होगा । इतिहासविरोध भी **'कालविरोध'** है ।

निर्दोषता : देश-काल-विरोध यदि काव्यमें युक्तियुक्त रूपमें प्रस्तुत किया जाता है, तो दोष नहीं होगा । जैसे तपोवनमें आश्रमवासी ऋषिकी तपस्याके प्रभावको निरूपित करनेके लिए कवि यदि सिंह-मृग, अहि-नकुल, गो-व्याघ्रमें परस्पर प्रीति दिखाता है, या अन्य देश और कालमें स्थित वस्तुकी भी वहाँ उपस्थितिका वर्णन करता है, तो वह **देशविरोध** और **कालविरोध** दोष नहीं होगा । अतः यह दोष अनित्य है । आगे १८०-१८१ श्लोक देखें ।

(ग) **कलाविरोध दोष**—त्रिपुरहरभूपालद्वारा उद्धृत भामहके अनुसार मुख्य कलाएँ चौंसठ हैं और उपकलाएँ १०४ हैं ।[2] सब कलाओंका तो दूर किसी एक कलामें भी दोषोंका निरूपण क्लिष्ट कार्य है । इस लिये आचार्यने स्वकृत विरोधप्रदर्शनको 'मनाक्' कहा है ।। १६९ ।।

(i) **नाट्यकलाविरोधका उदाहरण** : वीर एवं शृङ्गार क्रमशः **अर्थाश्रय** एवं **कामाश्रय** रस हैं । रसकी अनुभूति सर्वाधिक उत्कृष्ट रूपमें प्रेक्षणीयक (नाट्य) में होती है । अतः तत्सम्बन्धी उदाहरण दिया है । **वीर एवं शृङ्गार** रसोंके स्थायी भाव क्रमशः **उत्साह** और **रति** होते हैं । उनकी जगह **क्रोध** और **विस्मयको** उनका स्थायी भाव कहना नाट्यकलाके विरुद्ध है । **क्रोध रौद्र** रसका और **विस्मय अद्भुत**का स्थायी होता है । **क्रोध** और **विस्मय वीर** और

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १।७४में धृत 'भिन्नग्रामः' पाठ उचित है । टीका देखें ।

२. कामधेनु १।३।७ : कला नृत्यगीताऽऽदयश्चतुःषष्टिः । उपकलाश्चतुःशतम्; अत्र कलानामुद्देशः कृतो भामहेन ।

शृङ्गारके व्यभिचारी अलबत्ता हो सकते हैं। उनके परिहारके लिये **'स्थायिनो'** विशेषण अचार्यने दिया है।

(ii) **सङ्गीत कलाके विरोधका उदाहरण** : गान्धर्व शास्त्रमें गान और वाद्य (तन्त्री)में **षड्ज, ऋषभ, गान्धार, पञ्चम, धैवत, निषादवान्, (निषाद)** ये सात स्वर (**स, रि, ग, म, प, ध, नि**) होते है।[1] इनके समूहको **'सप्तक'** कहते हैं। संवादी स्वरोंका वह समूह **ग्राम** है, जिसमें **श्रुतियाँ** व्यवस्थित रूपमें विद्यमान हों और जो **मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम,** अलङ्कार इत्यादिका आश्रय हो।[2] प्राचीन कालमें **षड्ज, मध्यम, गान्धार** नामक तीन **ग्राम** होते थे। **भरत** ने **षड्ज** और **मध्यम** दो ही **ग्राम** माने हैं।[3] **गान्धार** ग्राममें **तार** और **मन्द्र** सप्तकोंकी (१) अधिकताके कारण और (२) वैस्वर्यके कारण भरतने उसे नहीं अपनाया है।[4] दूसरे शब्दोंमें, **गान्धार ग्राम** अपने इन दोषोंके कारण लोकप्रिय नहीं रह सका, स्वर्ग सिधार गया।[5] इससे स्पष्ट है कि **ग्राम** होता ही वह है, जिसमें सातों स्वर पूर्ण हों।[6] किन्तु परवर्ती कुछ आचार्य, जैसे **बृहद्देशी**के प्रणेता **मतङ्ग** (६-७वीं सदी ई०) छह स्वरों वाले **'षाडव'** और **'औडुवित'** नामक **तानों**को[7] भी **'ग्राम'** कहने लगे। प्रसिद्ध **ग्रामों** से भेद

---

१. षड्जश्च, ऋषभश्चैव, गान्धारो, मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तमोऽथ निषादवान्॥ नाट्य० २८।२१
अमरकोष (१।७।१) में यह क्रम सम्भवतः छन्दोनुरोधसे तोड़ा है :
निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः।
पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्री-कण्ठोत्थिताः स्वराः॥

२. भरतका सङ्गीतसिद्धान्त, पृष्ठ ५। तथा अभिनवभारती १८।५।

३. नाट्यशास्त्र २८।२४से पूर्व : अथ द्वौ ग्रामौ—षड्जग्रामो मध्यमग्रामश्चेति। अत्राश्रिता द्वाविंशतिः श्रुतयः स्वरमण्डलसाधिकाः*। अभिनवभारती : 'अथ द्वौ ग्रामौ' इति गान्धारग्रामं निरस्यति।

*बड़ौदासंस्करणमें 'साधिता' स्वीकृत है; 'सधिका' (शुद्ध रूप 'साधिकाः') पाठभेद पादटिप्पणीमें दिया है। 'स्वरमण्डलस्य=स्वरसमूहस्य=सप्तकस्य द्वाविंशत्यैव सिद्धिः' (अभिनवभारती) में 'साधिकाः' पाठ ही व्याख्यात है।

४. द्वौ ग्रामौ भरतेनोक्तौ, ग्रामो गान्धारपूर्वकः।
अतितारातिमन्द्रत्वाद् वैस्वर्यान्नोपदर्शितः॥ भरतकोश पृष्ठ १८९

५. प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामोऽसौ न महीतले॥ संगीतदर्पण ८०

६. ग्रामौ पूर्णस्वरौ द्वौ तु, यथा वै षड्जमध्यमौ। नाट्यशास्त्र १८।६

७. क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेत्यभिसञ्ज्ञिताः।
षट्-पञ्च-स्वरकास्तानाः षाडवौडुविताश्रयाः॥ नाट्यशास्त्र २८।३२

करनेको उन्होंने इन स्वाभिमत ग्रामोंको **भिन्नग्राम** कहा।[1] **अभिनवगुप्तने** कुछ आचार्योंको अभिमत '**षड्जग्रामराग**' और '**मध्यमग्रामराग**' के नामसे सम्भवतः इसी '**भिन्नग्राम**' सिद्धान्तका उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार पूर्ण सातों स्वरों वाले '**ग्राम**' शब्दका प्रयोग '**भिन्नग्राम**' में अपूर्ण स्वरोंवाले रागोंके लिये करना '**मार्ग**'[3] सङ्गीतकी भरत आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गीत (गान) कलाका विरोध हुआ।

काव्यादर्शके तीनों प्राचीन टीकाकारोंने यहाँ '**भिन्नमार्ग**' पाठकी व्याख्या की है।[4] पर यह उचित नहीं है। क्योंकि गान्धर्व शास्त्रमें '**गीत**'के प्रसङ्गमें '**मार्ग**'का सम्बन्ध '**ताल**'से है, '**स्वर**'से नहीं।[5] '**ताल**' वाला मार्ग '**भिन्न**' भी

---

१. रत्नदर्पण १।७४ : भिन्नमार्गेषु* सप्तस्वराणां समवायो नोपनिबद्धः। *तमङ्गोऽप्याह 'षाडवौडविके* जाती भिन्नग्राम् उदाहृतः'। ततश्च पञ्च वा षड् वा स्वरा भवन्ति भिन्नग्रामे, न तु सप्त। *'ग्रामेषु', 'मतङ्गो', '०डुविते' पाठ उचित है।

२. अभिनवभारती १८।६ : जात्याश्रययोर्जातिद्वारेण षाडवौडुवितांशयोगे न्यूनस्वरताऽप्यस्ति इति षड्जग्रामरागो, मध्यमग्रामरागश्चेह 'ग्राम'-शब्देन व्यपदिष्ट इति केचित्। तदसत्। इह हि 'ग्राम'-शब्देन जाति-समुदायोऽभिधीयते। तत्र यद्यप्यंशके न्यूनस्वरताऽपि भवति, तथाऽपि समुदायस्य पूर्णतायाः का हानिः?

३. भरतादिप्रणीत शास्त्रीय सङ्गीत 'मार्ग' सङ्गीत कहलाता है। इससे भिन्न लोकसङ्गीत 'देशी' सङ्गीत कहाता है। आचार्य मतङ्ग देशी सङ्गीत विधाके प्राचीन आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ 'बृहद्देशी' देशी सङ्गीत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

४. रत्नश्री : भिन्नमार्गो गान्धर्वप्रकारः कश्चित् प्रवर्तते। वादिटीका : भिन्नमार्गश्चेत् कथं 'पूर्णसप्तस्वरः'? इति। तरुणटीका : भिन्नमार्गो नाम पञ्चस्वरनिष्पन्नः। तस्य निषादादि*-सप्तस्वरपूर्णत्वं गीतलक्षण-विरुद्धम्। *'निषादादि' कथनं सम्भवतः अमरकोषकी परम्परापर आधारित है।

५. मार्गैस्त्रिभिः प्रयोक्तव्यश्चित्र-वार्तिक-दक्षिणैः। नाट्यशास्त्र २८।१०६
चित्रे द्विमात्रा कर्तव्या, वृत्तौ सा द्विगुणा स्मृता॥ नाट्यशास्त्र ३१।५
चतुर्गुणा दक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला।
कलाकालप्रमाणेन 'ताल' इत्यभिसञ्ज्ञितः॥ ६

इत्थं कलाचतुःषष्टौ विरोधः साधु नीयताम् ।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ।। १७१ ।।

इस प्रकार चौंसठ कलाओंके विषयमें विरोधका अनुगमन भली भाँती किया जाये । उनका स्वरूप 'कलापरिच्छेद'में प्रकट होगा ।। १७१ ।।

नहीं होता । **तरुणवाचस्पतिने** **'भिन्नमार्ग'**की जो व्याख्या की है, वह मतङ्गोवत **'भिन्नग्राम'** पर लागू होती है । इसी प्रकार **रत्नेश्वरमिश्रने** भी 'भिन्नमार्गोंमें सातों स्वरोंका समुदाय (जाति) उपनिबद्ध नहीं होता', जो कहा है, वह भी **'भिन्नग्राम'** पर ही सही ठहरता है[1] ।। १७० ।।

कला-परिच्छेद—'कलाओंका स्वरूप स्पष्ट करनेको लिखा ग्रन्थ या ग्रन्थांश' **कलापरिच्छेद**का अर्थ है । **रत्नश्रीज्ञान**ने काव्यादर्शके चौथे परिच्छेद को **कलापरिच्छेद** बताकर कहा है कि वह प्रचलित (उपलब्ध) नहीं है । लगता है कि उन्हें अपने इस मन्तव्यपर विश्वास नहीं था । अन्यथा उन्होंने **'कलापरिच्छेद'**की दूसरी यह व्याख्या न की होती : कलाओंका परिच्छेद (अभ्यास) होनेपर उनका स्वरूप स्पष्ट होगा । **वादीजङ्घालदेवने** **'कला-परिच्छेद'** ग्रन्थ बताया है । **तरुणवाचस्पतिका** कहना है : लोग कहते हैं कि चौंसठ कलाओंका सङ्क्षेपसे निरूपण करने वाला कोई और भी परिच्छेद काव्यादर्शका है ।[2] इन कथनोंसे सिद्ध होता है कि रत्नश्रीज्ञानसे लेकर तरुण-वाचस्पति तक सभी टीकाकारोंने इस कथनके स्वरूपको देखकर अन्धेरेमें लाठी

मार्गाः स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः ।
दक्षिणश्चेति, तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला ।।
शेषेषु द्वे चतस्रोऽष्टौ क्रमान्मात्राः कला भवेत् । सङ्गीतरत्नाकर, तालाध्याय, ५

१. इस विवेचनमें सहायताके लिये लेखक अपने मित्र डा० शत्रुघ्न शुक्ल, प्रोफेसर तथा पूर्व अध्यक्ष एवं डीन, सङ्गीतकलानिकाय, दिल्लीविश्व-विद्यालय, का आभारी है ।

२. रत्नश्री : 'कलापरिच्छेदे'—(क) चतुर्थः कलापरिच्छेदोऽस्य दण्डिनोऽस्ति । स त्विह न प्रवर्तते । (ख) यद् वा कलानां परिच्छेदेऽभ्यासे सति तस्याः कलाचतुष्षष्टे रूपमाविर्भविष्यति । तस्मात् कलाऽभ्यासः करणीयो, यतस् तद्विरोधः सर्वो यथावदवगम्यते । वादिटीका : कलाः परिच्छिद्यन्ते यत्र, स 'कलापरिच्छेदो' ग्रन्थः । तरुणटीका : कलापरिच्छेदे—चतुष्षष्टिकला-सङ्ग्रहात्मकः काव्यादर्शस्य कश्चिदन्योऽपि परिच्छेदोऽस्तीत्याहुः । तत्र कलाचतुष्षष्टिर्द्रष्टव्या ।

(ङ) विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निदर्श्यते ॥ १७३ ॥

(अ) सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्वरान् ।

(ङ) '**न्याय**' नामक हेतु विद्याओं (दर्शनशास्त्र, आन्वीक्षिकी) के विषय में विरोधका प्रदर्शन किया जा रहा है ॥ १७३ ॥

(अ) 'बुद्धने संस्कारोंको नष्ट नहीं होने वाला ठीक ही कहा है, क्योंकि

भामहने लोकका विभाजन दण्डीके समान स्थावर और जङ्गमके रूपमें करके उसके व्यवहारको 'लोक' कहा है। लोकव्यवहारका विरोध लोक-विरोध दोष बताया है। इसके उन्होंने दो उदाहरण दिये हैं : (i) स्थावर नदीकी प्रवृत्तिका; (ii) जङ्गम सेनाओंके व्यवहारका। दोनों प्रत्यक्षसे असिद्ध हैं।[1]

(ङ) **न्यायविरोध**—प्रमाणोंसे पदार्थके स्वरूपकी परीक्षा करना '**न्याय**' होता है।[2] इस परीक्षामें हेतु, कारण, तर्क, युक्तिका मुख्यतया उपयोग होने से इसे **हेतुविद्या** भी कहते हैं।[3] अश्वघोषने दर्शनोन्मुख पुरुषको '**हेतुबलाधिक**' कहा है।[4] इस हेतुविद्या, अपरनाम न्यायविद्या, से दर्शनशास्त्र अभिप्रेत है, वह चाहे आस्तिक (वेदानुकूल) हो, चाहे नास्तिक (वेदनिन्दक या ईश्वरका या परलोकका अस्तित्व न मानने वाला) हो। इस प्रकार 'न्याय' शब्द यहाँ दर्शनकी शाखाविशेषके लिये प्रयुक्त नहीं है, अपितु सामान्यस्वरूप-परक है।[5] ॥ १७३ ॥

(अ) आचार्यने प्रथम उदाहरण नास्तिक (वेदनिन्दक) हेतुविद्याके विरोध

---

१. स्थास्नु-जङ्गम-भेदेन लोकं तत्त्वविदो विदुः ।
  स च तद्व्यवहारोऽत्र, तद्विरोधकरं यथा ॥ काव्याल० ४।३६
  (i) तेषां कट-तट-भ्रष्टैर्गजानां मद-बिन्दुभिः ।
    प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिना ॥ ३७
  (ii) धावतां सैन्यवाहानां फेनवारि मुखच्युतम ।
    चकार जानुदघ्नापान् प्रति दिङ्मुखमध्वनः ॥

२. न्यायसूत्र १।१।१ पर वात्स्यायन : प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।

३. ललितविस्तर, अध्याय १२, पृष्ठ १५६, में साङ्ख्य, योग, वैशेषिकके अतिरिक्त हेतुविद्याका उल्लेख कदाचिद् न्यायविद्या (तर्कशास्त्र) के लिये किया है। यहाँ सामान्य 'दर्शन शास्त्र' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

४. सङ्क्लेशपक्षो द्विविधश्च दृष्टस्तथा द्विकल्पो व्यवदानपक्षः ।
  आत्माश्रयो हेतुबलाधिकस्य बाह्याश्रयः प्रत्ययगौरवस्य ॥ सौ० ५।१६

५. विशेषार्थ देखें तर्कसङ्ग्रहतारोदय, भूमिका, पृष्ठ चार-पाँच ।

(घ i) 'आधूतकेसरो हस्ती, (ii) तीक्ष्णश्रृङ्गस्तुरङ्गमः ।
(iii) गुरुसारोऽयमेरण्डो, (iv) निःसारः खदिरद्रुमः ॥ १७२ ॥
इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः ।

(घ) 'हाथी हिलाई हुई सटाओं (अयाल) वाला है । (ii) घोड़ा तीखे सींगों वाला है । (iii) यह एरण्ड वृक्ष बहुत मजबूत है । (iv) खैरका वृक्ष निर्बल है ॥ १७२ ॥ यह लोकमें उपलब्ध विरोध सबके द्वारा निन्दित है ।

ग्रामके शास्त्रोक्त स्वरूपके विपरीत स्वरूपका वर्णन उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है ।[1]

दण्डीका कलाविरोधनिरूपण अधिक सूचनापूर्ण तथा शास्त्रके विकासकी प्रक्रियाको प्रस्तुत करता है ॥ १७१ ॥

(घ) **लोकविरुद्ध दोष**—आचार्यने इस दोषको स्वतः स्पष्ट चार उदाहरण देकर स्पष्ट किया है । (i) 'केसर' (अथवा 'केशर') पशुओंमें सिंहों की या घोड़ोंकी गरदनपर 'अयाल' के नाम से प्रसिद्ध होता है । हाथीके नहीं होता । हाथीकी विशेषता सूँड (शुण्डा) है, जिसे हाथका काम करनेके कारण 'कर' या 'हस्त' कहा जाता है । या फिर आगेको निकले दाँत होते हैं । इन दोनों विशेषताओंके कारण गजको करी, हस्ती (हाथी) और दन्ती, दन्तावल कहा जाता है । (i) हाथीके अयाल और (ii) घोड़ेके सींग लोकमें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं । (iii) इसी प्रकार एरण्ड (रेंडी) वृक्ष बहुत कमजोर तने और कम गहरी जड़ों वाला होता है । जबकि (iv) खैरका वृक्ष इसके विपरीत है । इस प्रकार आचार्यने वन्य और ग्राम्य पशुओं और ग्राम्य और वन्य वृक्षोंके एकेक उदाहरण देकर इस दोषका स्वरूप स्पष्ट किया है ।

---

१. कला संकलना प्रज्ञा, शिल्पान्यस्याश्च गोचरः ।
विपर्यस्तं तथैवाहुस्तद्विरोधकरं, यथा ॥ काव्यालङ्कार ४।३३
ऋषभात्पञ्चमस्तस्मात् षड्जं धैवतं स्मृतम् ।
अयं हि मध्यमग्रामो मध्यमोत्पीडितर्षभः ॥ ३४
इति साधारितं मोहादन्यथैवावगच्छति ।
अन्यास्वपि कलास्वेवमभिधेया विरोधिता ॥ ३५
षड्ज आदि स्वर पुल्लिङ्ग हैं । भामहने षड्ज और धैवतको नपुंसक न जाने किस आधारपर दिया है । उदाहरणका भाष्य देवेन्द्रनाथ शर्माजीके महाभाष्यमें देखें ।

(ङ) **विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निदर्श्यते ।। १७३ ।।**

(अ) **सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्वरान् ।**

(ङ) 'न्याय' नामक हेतु विद्याओं (दर्शनशास्त्र, आन्वीक्षिकी) के विषय में विरोधका प्रदर्शन किया जा रहा है ।। १७३ ।।

(अ) 'बुद्धने संस्कारोंको नष्ट नहीं होने वाला ठीक ही कहा है, क्योंकि

भामहने लोकका विभाजन दण्डीके समान स्थावर और जङ्गमके रूपमें करके उसके व्यवहारको 'लोक' कहा है। लोकव्यवहारका विरोध लोक-विरोध दोष बताया है। इसके उन्होंने दो उदाहरण दिये हैं: (i) स्थावर नदीकी प्रवृत्तिका; (ii) जङ्गम सेनाओंके व्यवहारका। दोनों प्रत्यक्षसे असिद्ध हैं।[१]

(ङ) **न्यायविरोध**—प्रमाणोंसे पदार्थके स्वरूपकी परीक्षा करना **'न्याय'** होता है।[२] इस परीक्षामें हेतु, कारण, तर्क, युक्तिका मुख्यतया उपयोग होने से इसे **हेतुविद्या** भी कहते हैं।[३] अश्वघोषने दर्शनोन्मुख पुरुषको **'हेतुबला-धिक'** कहा है।[४] इस हेतुविद्या, अपरनाम न्यायविद्या, से दर्शनशास्त्र अभिप्रेत है, वह चाहे आस्तिक (वेदानुकूल) हो, चाहे नास्तिक (वेदनिन्दक या ईश्वरका या परलोकका अस्तित्व न मानने वाला) हो। इस प्रकार 'न्याय' शब्द यहाँ दर्शनकी शाखाविशेषके लिये प्रयुक्त नहीं है, अपितु सामान्यस्वरूप-परक है[५] ।। १७३ ।।

(अ) आचार्यने प्रथम उदाहरण नास्तिक (वेदनिन्दक) हेतुविद्याके विरोध

---

१. स्थास्नु-जङ्गम-भेदेन लोकं तत्त्वविदो विदुः ।
   स च तद्व्यवहारोऽत्र, तद्विरोधकरं यथा ।। काव्याल० ४।३६
   (i) तेषां कट-तट-भ्रष्टैर्गजानां मद-बिन्दुभिः ।
   प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिना ।। ३७
   (ii) धावतां सैन्यवाहानां फेनवारि मुखच्युतम ।
   चकार जानुदघ्नापान् प्रति दिङ्मुखमध्वनः ।।

२. न्यायसूत्र १।१।१ पर वात्स्यायन : प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।

३. ललितविस्तर, अध्याय १२, पृष्ठ १५६, में साङ्ख्य, योग, वैशेषिकके अतिरिक्त हेतुविद्याका उल्लेख कदाचिद् न्यायविद्या (तर्कशास्त्र) के लिये किया है। यहाँ सामान्य 'दर्शन शास्त्र' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

४. सङ्क्लेशपक्षो द्विविधश्च दृष्टस्तथा द्विकल्पो व्यवदानपक्षः ।
   आत्माश्रयो हेतुबलाधिकस्य बाह्याश्रयः प्रत्ययगौरवस्य ।। सौ० ५।१६

५. विशेषार्थ देखें तर्कसङ्ग्रहतारोदय, भूमिका, पृष्ठ चार-पाँच ।

(घ i) 'आधूतकेसरो हस्ती, (ii) तीक्ष्णश्रृङ्गस्तुरङ्गमः ।
(iii) गुरुसारोऽयमेरण्डो, (iv) निःसारः खदिरद्रुमः ।। १७२ ।।
इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः ।

(घ) 'हाथी हिलाई हुई सटाओं (अयाल) वाला है । (ii) घोड़ा तीखे सींगों वाला है । (iii) यह एरण्ड वृक्ष बहुत मजबूत है । (iv) खैरका वृक्ष निर्बल है ।। १७२ ।। यह लोकमें उपलब्ध विरोध सबके द्वारा निन्दित है ।

ग्रामके शास्त्रोक्त स्वरूपके विपरीत स्वरूपका वर्णन उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है ।'

दण्डीका कलाविरोधनिरूपण अधिक सूचनापूर्ण तथा शास्त्रके विकासकी प्रक्रियाको प्रस्तुत करता है ।। १७१ ।।

(घ) **लोकविरुद्ध दोष**—आचार्यने इस दोषको स्वतः स्पष्ट चार उदाहरण देकर स्पष्ट किया है । (i) 'केसर' (अथवा 'केशर') पशुओंमें सिंहों की या घोड़ोंकी गरदनपर 'अयाल' के नाम से प्रसिद्ध होता है । हाथीके नहीं होता । हाथीकी विशेषता सूँड (शुण्डा) है, जिसे हाथका काम करनेके कारण 'कर' या 'हस्त' कहा जाता है । या फिर आगेको निकले दाँत होते हैं । इन दोनों विशेषताओंके कारण गजको करी, हस्ती (हाथी) और दन्ती, दन्तावल कहा जाता है । (i) हाथीके अयाल और (ii) घोड़ेके सींग लोकमें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं । (iii) इसी प्रकार एरण्ड (रेंडी) वृक्ष बहुत कमजोर तने और कम गहरी जड़ों वाला होता है । जबकि (iv) खैरका वृक्ष इसके विपरीत है । इस प्रकार आचार्यने वन्य और ग्राम्य पशुओं और ग्राम्य और वन्य वृक्षोंके एकेक उदाहरण देकर इस दोषका स्वरूप स्पष्ट किया है ।

---

१. कला संकलना प्रज्ञा, शिल्पान्यस्याश्च गोचरः ।
विपर्यस्तं तथैवाहुस्तद्विरोधकर, यथा ।। काव्यालङ्कार ४।३३
ऋषभात्पञ्चमस्तस्मात् षड्जं धैवतं स्मृतम् ।
अयं हि मध्यमग्रामो मध्यमोत्पीडितर्षभः ।। ३४
इति साधारितं मोहादन्यथैवावगच्छति ।
अन्यास्वपि कलास्वेवमभिधेया विरोधिता ।। ३५

षड्ज आदि स्वर पुंल्लिङ्ग हैं । भामहने षड्ज और धैवतको नपुंसक न जाने किस आधारपर दिया है । उदाहरणका भाष्य देवेन्द्रनाथ शर्माजीके महाभाष्यमें देखें ।

(ii) असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः।
स्वभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेक्षते ॥ १७८ ॥

(ii) उसने उपनयन संस्कारसे रहित होते हुए भी गुरुसे वेदोंका अध्ययन किया। स्वभावसे शुद्ध (स्वच्छ) स्फटिक मणिको संस्कार (पालिश) की जरूरत नहीं होती ॥ १७८ ॥

इसे **वैश्वानरी इष्टि** कहते हैं। इस इष्टिमें अग्निका आधान आवश्यक है। ब्राह्मण यजमान और उसकी पत्नी दोनों क्षौम वस्त्र धारण करके वसन्त ऋतुमें आहवनीय अग्निका आधान करें।[1] इस प्रकार अग्निका आधान करने वाले ब्राह्मण दम्पति **आहिताग्नि** कहलाते हैं। प्रकृत उदाहरणमें अग्न्याधान नहीं करने वाले विप्रोंको, और वह भी शास्त्रशुद्ध आचरण करने वाले विप्रों को, वैश्वानरी इष्टिका अनुष्ठान करता बताया है। अतः श्रुतिरूप आगमका विरोध यहाँ स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त, इस कथनका एक आशय और हो सकता है: श्रौत परम्पराके अनुसार विप्रोंको स्नातक होनेके बाद अग्न्याधान करके योग्य पत्नीका पाणिग्रहण करनेके बाद ही सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिए। ये ब्राह्मण यद्यपि शास्त्रानुसारी शुद्ध आचार वाले हैं, तथापि इन्होंने (१) अग्न्याधान किये बिना घरमें औरत लाकर (२) उनसे स्वेच्छाचारसे पुत्र प्राप्त कर लिये। (३) अब वे लोग वह वैश्वानरी इष्टि कर रहे हैं, जो विधिवद् आहिताग्नि अजातपुत्र पुरुषके द्वारा पहले सन्तानोत्पत्तिके निमित्त और फिर पुत्र हो जाने पर की जानी चाहिये। इस प्रकार इस श्लोकमें श्रुतिविरोध नाना प्रकार से है।

वितन्वते—वि + √ **तन विस्तारे**, कर्तरि लट्, प्र० पु० ब० व०। श्रौत (आहित) अग्नियोंमें यज्ञकर्म करनेके लिये वि + √ तन्‌का प्रयोग शास्त्रमें किया जाता है। इसीलिये श्रौत यज्ञोंको **'वितान'** कहते हैं[2] ॥ १७७ ॥

(ii) **स्मृतिविरोध**—मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके अनुसार एक उचित वयस् तक गुरुसे उपनयन संस्कार प्राप्त नहीं करने वाला द्विज न केवल वेदा-

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।६ : वसन्ता ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५।४।१० : क्षौमे वसानौ जाय-पती अग्निमादधीयाताम्।

२. अमरकोष ३।३।११३ : ऋतुविस्तारयोरस्त्री, वितानं त्रिषु तुच्छके ॥

(च) अथागमविरोधस्य प्रस्थानं दर्शयिष्यते ।। १७६ ।।

(i) 'अनाहिताग्नयोऽप्येते जातपुत्रा वितन्वते ।
विप्रा वैश्वानरीमिष्टिमक्लिष्टाचारभूषणाः' ।। १७७ ।।

(च) अब **आगमविरोधका** स्वरूप (उदाहरणोंसे) प्रदर्शित किया जायेगा ।। १७६ ।।

(i) 'अग्न्याधान नहीं करने वाले भी उत्पन्न हुए पुत्रों वाले, सरल, शुद्ध आचरण रूपी अलङ्कारों वाले ये ब्राह्मण वैश्वानरीया इष्टि (श्रौत याग) का अनुष्ठान कर रहे हैं ।। १७७ ।।

~~~~~~

अन्तर्गत भी उन्होंने धर्मशास्त्रों और उनके द्वारा विहित लोकमर्यादाको लिया है । आन्वीक्षिकीकी कहीं चर्चा नहीं है ।'[1] (३) वस्तुतः धर्मशास्त्रकी गणना त्रिवर्गोंवितरूप शास्त्र अर्थात् न्यायके रूपमें की ही जा चुकी है । अतः **आगम-विरोधी** (धर्मशास्त्र और तत्कृत लोकमर्यादाओंका विरोध करना) दोषका पृथक्से उल्लेख स्ववचनविरोध है । इस प्रकार भामहका इन दोषोंका निरूपण शिथिल है, युक्तिसङ्गत नहीं है । दण्डनीतिका सम्बन्ध केवल धर्म या अर्थसे है । कामपुरुषार्थसे सम्बन्ध है कामशास्त्रका । तत्सम्बन्धी दोष **कलाविरोधमें** या **आगमविरोधमें** समाहित हो जायेगा । तब, यहाँ उसके पुनः कथनकी आवश्यकता ही नहीं है ।

(च) आगमविरोध—दण्डीने 'आगम'के अन्तर्गत मनुष्यके लिये व्यक्तिगत और सामाजिक आचारकी विधायक (i) श्रुति और (ii) स्मृतिको लिया है, यह पीछे **'आगम'**के लक्षणमें देख चुके हैं । यहाँ इन दोनोंके एकेक उदाहरण आचार्यने अगले दो श्लोकोंमें प्रस्तुत किये हैं :

(i) **श्रुतिविरोध :** तैत्तिरीय संहिताके अनुसार शास्त्रानुसार प्रजोत्पादनके योग्य (शास्त्रीय पद्धतिसे अग्न्याधान करके दारकर्म कर चुके) पुरुषको सन्तान नहीं है और सन्तानकी इच्छा है, तो वह अग्न्याधान करके वैश्वानर देवताके निमित्त द्वादश कपालोंपर संस्कृत पुरोडाशका निर्वाप (आहुति दे) । और फिर पुत्र होनेपर वैश्वानरके निमित्त द्वादशकपाल पुरोडाशकी आहुति दे ।[2]

---

१. आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता ।
तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो, यथा ।। काव्याल० ४।४८

२. तैत्तिरीय संहिता २।२।५।१-३ : वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् ।··· एतामेव निर्वपेत् प्रजाकामः ।···योऽलं प्रजायै सन् प्रजां न विन्दते । यद् वैश्वानरो द्वादशकपालो भवति ।···विन्दते प्रजाम् । वैश्वानरं द्वादश-कपालं निर्वपेत्···पुत्रे जाते ।
~~~~~~

(ii) **असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः।**
स्वभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेक्षते ॥ १७८ ॥

(ii) उसने उपनयन संस्कारसे रहित होते हुए भी गुरुसे वेदोंका अध्ययन किया। स्वभावसे शुद्ध (स्वच्छ) स्फटिक मणिको संस्कार (पालिश)की जरूरत नहीं होती ॥ १७८ ॥

इसे **वैश्वानरी इष्टि** कहते हैं। इस इष्टिमें अग्निका आधान आवश्यक है। ब्राह्मण यजमान और उसकी पत्नी दोनों क्षौम वस्त्र धारण करके वसन्त ऋतुमें आहवनीय अग्निका आधान करें।[1] इस प्रकार अग्निका आधान करने वाले ब्राह्मण दम्पति **आहिताग्नि** कहलाते हैं। प्रकृत उदाहरणमें अग्न्याधान नहीं करने वाले विप्रोंको, और वह भी शास्त्रशुद्ध आचरण करने वाले विप्रों को, वैश्वानरी इष्टिका अनुष्ठान करता बताया है। अतः श्रुतिरूप आगमका विरोध यहाँ स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त, इस कथनका एक आशय और हो सकता है : श्रौत परम्पराके अनुसार विप्रोंको स्नातक होनेके बाद अग्न्याधान करके योग्य पत्नीका पाणिग्रहण करनेके बाद ही सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिए। ये ब्राह्मण यद्यपि शास्त्रानुसारी शुद्ध आचार वाले हैं, तथापि इन्होंने (१) अग्न्याधान किये बिना घरमें औरत लाकर (२) उनसे स्वेच्छाचारसे पुत्र प्राप्त कर लिये। (३) अब वे लोग वह वैश्वानरी इष्टि कर रहे हैं, जो विधिवद् आहिताग्नि अजातपुत्र पुरुषके द्वारा पहले सन्तानोत्पत्तिके निमित्त और फिर पुत्र हो जाने पर की जानी चाहिये। इस प्रकार इस श्लोकमें श्रुतिविरोध नाना प्रकार से है।

वितन्वते—वि + √ **तन विस्तारे**, कर्तरि लट्, प्र० पु० ब० व०। श्रौत (आहित) अग्नियोंमें यज्ञकर्म करनेके लिये वि + √ तन्‌का प्रयोग शास्त्रमें किया जाता है। इसीलिये श्रौत यज्ञोंको **'वितान'** कहते हैं[2] ॥ १७७ ॥

(ii) **स्मृतिविरोध**—मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके अनुसार एक उचित वयस् तक गुरुसे उपनयन संस्कार प्राप्त नहीं करने वाला द्विज न केवल वेदा-

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।६ : वसन्ता ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५।४।१० : क्षौमे वसानौ जाय-पती अग्निमादधीयाताम्।

२. अमरकोष ३।३।११३ : क्रतुविस्तारयोरस्त्री, वितानं त्रिषु तुच्छके ॥

(च) अथागमविरोधस्य प्रस्थानं दर्शयिष्यते ॥ १७६ ॥

(i) **'अनाहिताग्नयोऽप्येते जातपुत्रा वितन्वते ।**
विप्रा वैश्वानरीमिष्टिमक्लिष्टाचारभूषणाः' ॥ १७७ ॥

(च) अब **आगमविरोध**का स्वरूप (उदाहरणोंसे) प्रदर्शित किया जायेगा ॥ १७६ ॥

(i) 'अग्न्याधान नहीं करने वाले भी उत्पन्न हुए पुत्रों वाले, सरल, शुद्ध आचरण रूपी अलङ्कारों वाले ये ब्राह्मण वैश्वानरीया इष्टि (श्रौत याग) का अनुष्ठान कर रहे हैं ॥ १७७ ॥

अन्तर्गत भी उन्होंने धर्मशास्त्रों और उनके द्वारा विहित लोकमर्यादाको लिया है। आन्वीक्षिकीकी कहीं चर्चा नहीं है।'[1] (३) वस्तुतः धर्मशास्त्रकी गणना त्रिवर्गोचितरूप शास्त्र अर्थात् न्यायके रूपमें की ही जा चुकी है। अतः **आगम-विरोधी** (धर्मशास्त्र और तत्कृत लोकमर्यादाओंका विरोध करना) दोषका पृथक्से उल्लेख स्ववचनविरोध है। इस प्रकार भामहका इन दोषोंका निरूपण शिथिल है, युक्तिसङ्गत नहीं है। दण्डनीतिका सम्बन्ध केवल धर्म या अर्थसे है। कामपुरुषार्थसे सम्बन्ध है कामशास्त्रका। तत्सम्बन्धी दोष **कलाविरोधमें** या **आगमविरोधमें** समाहित हो जायेगा। तब, यहाँ उसके पुनः कथनकी आवश्यकता ही नहीं है।

(च) आगमविरोध—दण्डीने 'आगम'के अन्तर्गत मनुष्यके लिये व्यक्तिगत और सामाजिक आचारकी विधायक (i) श्रुति और (ii) स्मृतिको लिया है, यह पीछे **'आगम'**के लक्षणमें देख चुके हैं। यहाँ इन दोनोंके एकेक उदाहरण आचार्यने अगले दो श्लोकोंमें प्रस्तुत किये हैं :

(i) **श्रुतिविरोध :** तैत्तिरीय संहिताके अनुसार शास्त्रानुसार प्रजोत्पादनके योग्य (शास्त्रीय पद्धतिसे अग्न्याधान करके दारकर्म कर चुके) पुरुषको सन्तान नहीं है और सन्तानकी इच्छा है, तो वह अग्न्याधान करके वैश्वानर देवताके निमित्त द्वादश कपालोंपर संस्कृत पुरोडाशका निर्वाप (आहुति दे)। और फिर पुत्र होनेपर वैश्वानरके निमित्त द्वादशकपाल पुरोडाशकी आहुति दे।[2]

---

१. आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता।
तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो, यथा ॥ काव्याल० ४।४८

२. तैत्तिरीय संहिता २।२।५।१-३ : वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् ।··· एतामेव निर्वपेत् प्रजाकामः ।···योऽलं प्रजायै सन् प्रजां न विन्दते । यद् वैश्वानरो द्वादशकपालो भवति ।···विन्दते प्रजाम् । वैश्वानरं द्वादश-कपालं निर्वपेत्···पुत्रे जाते ।

कामिनां लयवैषम्याद् गेयं रागमवर्धयत् ।। १८२ ।।

(घ) ऐन्दवादर्चिषः कामी शिशिरं हव्यवाहनम् ।
अबलाविरहक्लेशविक्लवो गणयत्ययम् ।। १८३ ।।

के मुखसे निकले हुए गीतने लयमें विषमताके कारण कामिजनोंका राग बढ़ा दिया ।। १८२ ।।

(घ) सुन्दरीके विरहके कष्टसे व्याकुल वह कामी आगको चन्द्रमाकी किरणकी अपेक्षा शीतल समझता है ।। १८३ ।।

दिया कि अब गिरी तब गिरी । परिणामतः उनके गीतोंकी लय बिगड़ गई । किन्तु उसी लयवैषम्यने आसपास विद्यमान उनके कामी प्रियोंके मनमें उनके प्रति प्रेम और गहरा कर दिया । गीत, वाद्य और पाद आदिके विन्यासकी द्रुत मध्य विलम्बितके रूपमें क्रिया और काल (मात्रा) की समता लय होती है ।[1] समतायुक्त विन्यास ही गीत वाद्य और नृत्यको आनन्द-दायी बनाता है । लयभङ्ग होनेपर ये उद्वेजक हो जाते हैं । किन्तु प्रियाओंकी भयत्रस्त मुद्रा और उसके कारण होने वाला गीतमें लयवैषम्य उनके प्रियोंको आनन्दित ही करता है । इस प्रकार यह कलाविरोध दोष न होकर कविके कौशलसे रतिका उद्दीपक होनेके कारण गुण हो गया है[2] ।। १८२ ।।

(घ) **लोकविरोधकी गुणताका उदाहरण**—चन्द्रमाकी किरणोंका स्वभाव लोकमें शीतल समझा जाता है । आगका स्वभाव शीतके विपरीत उष्ण होता है । किन्तु यहाँ कविने उसे चन्द्रकिरणसे अधिक शीतल कहा है । इस प्रकार यहाँ लोकस्वभावका विरोध स्पष्ट है । किन्तु यह विरोध कामियोंकी रतिकी विशेष अवस्थाका सूचक होनेसे दोषकी बजाय गुण हो गया है । चन्द्रकिरणोंके स्पर्शसे कामियोंकी व्याकुलता बढ़ती है, उनकी कामाग्नि उद्दीप्त होती है; जबकि अग्निसे इस प्रकारकी कोई अनुभूति नहीं होती । अतः चन्द्रकिरण उनके लिये उष्ण हैं और अग्नि शीतल ।। १८३ ।।

---

१. अमरकोष १।७।६ : तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम् ।
रामाश्रमी : गीतिवाद्यपादादिन्यासानां क्रियाकालयोः साम्यं लयः ।

२. तनिक भिन्न परिवेशमें लयवैषम्य और भिन्नगीतताके वर्णनके लिये अवन्तिसुन्दरी कथा, पृष्ठ १६३, पंक्ति १६ देखें : अनवधानस्खलितपाद-विषमितलयम्, आयासश्वासभिन्नगीतरागम्,···आरब्धानन्दनृत्तया··· विन्ध्यसेनया···।

धुन्वन् कदम्बरजसा सह सप्तच्छदोद्गमान् ॥ १८१ ॥

(ग) दोलाऽति प्रेरणत्रस्तवधूजनमुखोद्गतम् ।

कदम्ब पुष्पोंकी परागके साथ सप्तच्छदके अङ्कुरोंको हिलाता हुआ वायु चला ॥ १८१ ॥

(ग) झूलेको अधिक वेगसे झुलानेके कारण डरी (सहमी) हुई बहुओं

आते हैं। (३) खर वायु ग्रीष्ममें चला करता है। इस प्रकार भिन्नकाल-भावी ये तीनों बातें यहाँ एककालभावीके रूपमें बताई होनेके कारण काल-विरोधी हैं। किन्तु कविने इन्हें राजाओंके विनाशके सूचक दुर्निमित्त[1] (उत्पात), अपशकुनके रूपमें प्रस्तुत करके इस कालविरोधको दोष (उद्वेजक) नहीं रहने दिया है, अपितु विवक्षित अर्थका पोषक होनेके कारण गुण बना दिया है। प्रखर वायु, बेमौसमके पुष्पोद्गम आदि अशुभके सूचक उत्पात शकुनशास्त्रमें और लोकमें प्रसिद्ध हैं।[2]

(१) शरदृतुका समय, जब कि छतौनके वृक्षोंमें पुष्पोद्गम स्वाभाविक होता है, राजाओंके विजयार्थ सैन्यप्रयाणका समय होता है। उस समय (२) ग्रीष्ममें चलने वाली प्रखर हवा और (३) प्रयाणमें बाधक वर्षामें फूलने वाले कदम्बोंमें ऋतुके बीतनेपर भी पुष्पोद्गम अशुभ प्राकृतिक शकुन है। ये सब विजयार्थी राजाके विनाशके सूचक हैं ॥ १८१ ॥

(ग) **कलाविरोध की गुणताका उदाहरण**—सावनमें झूला झूलती बहुओं को उनकी ननदों या सहेलियोंने झूलेको बहुत जोर-जोरसे झोंटे देकर डरा

---

१. भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य महोत्पातोंका विशद वर्णन अवन्तिसुन्दरी, पृष्ठ ५२-५४ तथा ११७-११८ में देखें। पृष्ठ ५२ : अनन्तरं च सर्वस्यामेवोर्व्यां सर्वक्षत्र (विनाश) पिशुनाः···चरितुमारभन्त घोररूपा महोत्पाताः। तथा हि—···ऋतवः सर्व एव स्वचिह्नलक्ष्याः समन्ततः समं समाजग्मुः।···प्रसभोत्पाटितनिरस्तवृक्षवीरुधः, क्षुण्णपाषाणशर्कराः क्षणमपि नोपरेमुरुग्रस्वनाः प्रभ्रमन्तः प्रभञ्जनाः। पृष्ठ ११८ : भ्रमन्ति भीमा वायवः···।

२. उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः॥ श्रीमद्भागवतपु० ३।१७।३
ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन् मुहुः।
अकाले फलपुष्पाणि देशोपद्रवकारणम्। विष्णुध० पु० १।३७ भी देखें।

कामिनां लयवैषम्याद् गेयं रागमवर्धयत् ।। १८२ ।।

(घ) ऐन्दवादर्चिषः कामी शिशिरं हव्यवाहनम् ।
अबलाविरहक्लेशविक्लवो गणयत्ययम् ।। १८३ ।।

के मुखसे निकले हुए गीतने लयमें विषमताके कारण कामिजनोंका राग बढ़ा दिया ।। १८२ ।।

(घ) सुन्दरीके विरहके कष्टसे व्याकुल वह कामी आगको चन्द्रमाकी किरणकी अपेक्षा शीतल समझता है ।। १८३ ।।

दिया कि अब गिरी तब गिरी । परिणामतः उनके गीतोंकी लय बिगड़ गई । किन्तु उसी लयवैषम्यने आसपास विद्यमान उनके कामी प्रियोंके मनमें उनके प्रति प्रेम और गहरा कर दिया । गीत, वाद्य और पाद आदिके विन्यासकी द्रुत मध्य विलम्बितके रूपमें क्रिया और काल (मात्रा) की समता लय होती है ।[1] समतायुक्त विन्यास ही गीत वाद्य और नृत्यको आनन्द-दायी बनाता है । लयभङ्ग होनेपर ये उद्वेजक हो जाते हैं । किन्तु प्रियाओंकी भयत्रस्त मुद्रा और उसके कारण होने वाला गीतमें लयवैषम्य उनके प्रियोंको आनन्दित ही करता है । इस प्रकार यह कलाविरोध दोष न होकर कविके कौशलसे रतिका उद्दीपक होनेके कारण गुण हो गया है[2] ।। १८२ ।।

(घ) लोकविरोधकी गुणताका उदाहरण—चन्द्रमाकी किरणोंका स्वभाव लोकमें शीतल समझा जाता है । आगका स्वभाव शीतके विपरीत उष्ण होता है । किन्तु यहाँ कविने उसे चन्द्रकिरणसे अधिक शीतल कहा है । इस प्रकार यहाँ लोकस्वभावका विरोध स्पष्ट है । किन्तु यह विरोध कामियोंकी रतिकी विशेष अवस्थाका सूचक होनेसे दोषकी बजाय गुण हो गया है । चन्द्रकिरणोंके स्पर्शसे कामियोंकी व्याकुलता बढ़ती है, उनकी कामाग्नि उद्दीप्त होती है; जबकि अग्निसे इस प्रकारकी कोई अनुभूति नहीं होती । अतः चन्द्रकिरण उनके लिये उष्ण हैं और अग्नि शीतल ।। १८३ ।।

---

१. अमरकोष १।७।९ : तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम् ।
रामाश्रमी : गीतिवाद्यपादादिन्यासानां क्रियाकालयोः साम्यं लयः ।

२. तनिक भिन्न परिवेशमें लयवैषम्य और भिन्नगीतताके वर्णनके लिये अवन्तिसुन्दरी कथा, पृष्ठ १६३, पंक्ति १६ देखें : अनवधानस्खलितपाद-विषमितलयम्, आयासश्वासभिन्नगीतरागम्,···आरब्धानन्दनृत्तया····विन्ध्यसेनया···।

धुन्वन् कदम्बरजसा सह सप्तच्छदोद्गमान् ॥ १८१ ॥

(ग) दोलाऽति प्रेरणत्रस्तवधूजनमुखोद्गतम् ।

कदम्ब पुष्पोंकी परागके साथ सप्तच्छदके अङ्कुरोंको हिलाता हुआ वायु चला ॥ १८१ ॥

(ग) झूलेको अधिक वेगसे झुलानेके कारण डरी (सहमी) हुई बहुओं

आते हैं। (३) खर वायु ग्रीष्ममें चला करता है। इस प्रकार भिन्नकाल-भावी ये तीनों बातें यहाँ एककालभावीके रूपमें बताई होनेके कारण काल-विरोधी हैं। किन्तु कविने इन्हें राजाओंके विनाशके सूचक दुर्निमित्त[1] (उत्पात), अपशकुनके रूपमें प्रस्तुत करके इस कालविरोधको दोष (उद्वेजक) नहीं रहने दिया है, अपितु विवक्षित अर्थका पोषक होनेके कारण गुण बना दिया है। प्रखर वायु, बेमौसमके पुष्पोद्गम आदि अशुभके सूचक उत्पात शकुनशास्त्रमें और लोकमें प्रसिद्ध हैं।[2]

(१) शरदृतुका समय, जब कि छतौनके वृक्षोंमें पुष्पोद्गम स्वाभाविक होता है, राजाओंके विजयार्थ सैन्यप्रयाणका समय होता है। उस समय (२) ग्रीष्ममें चलने वाली प्रखर हवा और (३) प्रयाणमें बाधक वर्षामें फूलने वाले कदम्बोंमें ऋतुके बीतनेपर भी पुष्पोद्गम अशुभ प्राकृतिक शकुन हैं। ये सब विजयार्थी राजाके विनाशके सूचक हैं ॥ १८१ ॥

(ग) **कलाविरोध की गुणताका उदाहरण**—सावनमें झूला झूलती बहुओं को उनकी ननदों या सहेलियोंने झूलेको बहुत जोर-जोरसे झोंटे देकर डरा

---

१. भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य महोत्पातोंका विशद वर्णन अवन्तिसुन्दरी, पृष्ठ ५२-५४ तथा ११७-११८ में देखें। पृष्ठ ५२ : अनन्तरं च सर्वस्यामेवोर्व्यां सर्वक्षत्र (विनाश) दिशुनाः···चरितुमारभन्त घोररूपा महोत्पाताः। तथा हि—···ऋतवः सर्व एव स्वचिह्नलक्ष्म्याः समन्ततः सम समाजग्मुः।···प्रसभोत्पाटितनिरस्तवृक्षवीरुधः, क्षुण्णपाषाणशर्कराः क्षणमपि नोपरेमुरुग्रस्वनाः प्रभ्रमन्तः प्रभञ्जनाः। पृष्ठ ११८ : भ्रमन्ति भीमा वायवः···।

२. उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥ श्रीमद्भागवतपु० ३।१७।३
ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन् मुहुः।
अकाले फलपुष्पाणि देशोपद्रवकारणम्। विष्णुध० पु० १।३७ भी देखें।

तो निरूपण किया है और कुछका निरूपण सम्भवतः उनकी सुपरिचित दोषके रूपमें मान्यताके कारण न करके उनका उल्लेखमात्र प्रसङ्गेन किया है। अलङ्कारपरम्परामें **मेधावी** द्वारा उद्भावितके रूपमें प्रसिद्ध सात उपमा-दोषोमें से तीनको उन्होंने **अनित्यदोष**के रूपमें **लिङ्गभेद** और **वचनभेद** दोषों के अतिरिक्त भामहप्रोक्त मेधाविसम्मत **विपर्ययको** उपमानकी हीनता और **अधिकता**के रूपमें प्रस्तुत किया है। मेधावीके **असम्भव** और **सादृश्य** दोष दण्डीकी उपमामें सम्भव ही नहीं है। मेधावीके भामहाभिमत **हीनता** और **अधिकताके** बारेमें दण्डी मौन हैं।[1] इस प्रकार दण्डीके अनुसार कुल दोष प्रकृत दस दोषोंको मिलाकर २३ हैं।

आचार्य भामहने दोषोंका निरूपण कई स्थानोंमें किया है। प्रकृत **अपार्थ** आदि ११ दोषोंका निरूपण उन्होंने चतुर्थ और पञ्चम परिच्छेदोंमें सुव्यव-स्थित रूपसे किया है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित २२ दोषोमें से कुछका निरूपण और कुछका प्रसङ्गसे उल्लेखमात्र भिन्न-भिन्न स्थानोंपर किया है:

१ आकुलताका उल्लेख (१।२५,३५; ३।५४; ५।६७में) किया है। २ **अपुष्टार्थ** (१।३४), ३ **ग्राम्य शब्द** (१।१९), ४ **ग्राम्य अर्थ** (१।३५) का भी उल्लेख किया है। ५ **नेयार्थ**, ६ **क्लिष्ट**, ७ **अन्यार्थ**, ८ **अवाचक**, ९ **अयुक्तिमत्** और १० **गूढशब्दाभिधान** दोषोंका पूर्णतया या अंशतः निरूपण (१।३७में) किया है। ११ **श्रुतिदुष्ट**, १२ **अर्थदुष्ट**, १३ **कल्पनादुष्ट**, १४ **श्रुतिकष्ट** दोषोंका निरूपण (१।४७में) किया है। इनके अतिरिक्त भामहने आचार्य **मेधावी** द्वारा प्रोक्तके नामसे उल्लेख करते हुए **उपमा** अलङ्कारके सात दोषोंका निरूपण (२।३९में) किया है: १५ **हीनता**, १६ **असम्भव**, १७ **लिङ्गभेद** १८ **वचनभेद**, १९ **विपर्यय**, २० **अधिकता** और २१ **असादृश्य**, २२ **बहुपूरण**, (शब्दोंकी अनावश्यक भरती, अधिकपदताका) उल्लेख (५।६७में) किया है।

इनके अतिरिक्त (५।६२में) **अहृद्य** और **असुनिर्भेद** एवम् **अपेशलता**का उल्लेख किया है। किन्तु ये पूर्वोक्त **श्रुतिकष्टत्व**, **अवाचकत्व** आदिके ही परिणाममूलक नामान्तर हैं। अतः पृथक् सञ्ज्ञाके अधिकारी नहीं हैं। इसी प्रकार (५।६७में प्रोक्त) **विरुद्धपद** एवम् **अस्वर्थ** भी अन्य दोषोंके ही नामान्तर हैं।

इस प्रकार भामहने ११ + २२ = ३३ दोषोंका उल्लेख किया है। इनमें से कुछको भामहने **शब्ददोष**के रूपमें निरूपित किया है और कुछको **अर्थदोष**के रूपमें। यद्यपि इनका भामहकृत निरूपण व्यवस्थित और बहुत गम्भीर नहीं

---

१. प्रसादिनी २।५१, पृष्ठ ४५ देखें।

तथा उसके अनुसार स्थापित लोकमर्यादाके विपरीत था। किन्तु द्रौपदीके भाग्यमें विधाताने लेख ही ऐसा लिखा था, जिसके अनुसार उसे इस प्रकारकी धर्मविरुद्ध स्थितिका निश्छल भावसे पालन करना था। अपने इसी कर्तव्यबोध तथा उसके पालनके कारण वह 'परम सती' कहलाई। इस प्रकार कविने चतुर्थ पादसे **आगमविरोध** दोषका परिहार कर दिया। महाभारतके लेखकने भी इसी लिये द्रौपदीके चरित्रके निरूपणमें शङ्करसे पाँच बार पति देनेकी प्रार्थना करने वाली ऋषिकन्याको शङ्कर द्वारा पाँच पति पानेके वरकी कल्पना की है।

इस प्रकार आचार्यने (१०) **देशादिविरोध** दोषके छहों भेदोंमें कवि-कौशलसे दोषत्वका परिहार करके गुणत्वका उदाहरणोंसे निदर्शन किया। अन्य दोषोंके दोषत्वके परिहारकी दिशाका निर्देश आचार्य तत्तद् दोषके प्रसङ्गमें कर चुके हैं।

दोषधुन्युत्तरीं प्राप्ता नगोच्चं भरतं शुभा।
काव्यदोषनिराकृत्या सोपयोगा पयस्विनी ॥ १ ॥
दण्डिदेवप्रयागेऽथ रम्या हृद्या सुधीहिता।
भामहोपत्यकाग्रामवगाहधौतधीमला ॥ २ ॥
दोषस्रोतस्विनी सेयं व्याख्याता मूलशोधनात्।
भाद्राजैकादशीसौम्ये प्रातश्चन्द्रे रहो गते ॥ ३ ॥

—०—

शुभे विंशे दिनेऽगस्त्यमासस्याद्य गुरौ पुनः।
दोषशैवलिनी रम्या वामनग्रामतो गता ॥ १ ॥
विशेषान् यानथ प्राप्ता रुद्रटतीर्थसङ्गता।
व्याख्यास्ये तानहं सम्यक् सर्वस्यानन्दवर्धनान् ॥ २ ॥
प्रीयतामथ पुण्येयं भवभूतिप्रदा शिवा।
इदम्परभवद्वेषा धीप्रदा शारदा मयि ॥ ३ ॥

दोषोंका इतिहास—आचार्य दण्डीने इन सर्वमार्गसाधारण दस दोषोंके अतिरिक्त मार्गविशेषके कुछ अन्य दोषोंकी चर्चा भी काव्यादर्शमें यत्र तत्र की है। उनमें से बन्धके १ **शैथिल्य**, २ **वैषम्य** और ३ **पारुष्य** नामक तीन दोष, ४ **दुष्प्रतीति**, ५ **शब्दगत** और ६ **अर्थगत ग्राम्यता** दोष, ७ **नेयार्थता**, ८ **आकुलता** और ९ **लोकसीमातिक्रमण** दोषोंका उल्लेख प्रथम परिच्छेदके गुणप्रकरणमें (पृष्ठ ९८में) किया जा चुका है। दण्डीने इनमें से कुछका

तो निरूपण किया है और कुछका निरूपण सम्भवतः उनकी सुपरिचित दोषके रूपमें मान्यताके कारण न करके उनका उल्लेखमात्र प्रसङ्गेन किया है। अलङ्कारपरम्परामें **मेधावी** द्वारा उद्भावितके रूपमें प्रसिद्ध सात उपमा-दोषोमें से तीनको उन्होंने **अनित्यदोष**के रूपमें **लिङ्गभेद** और **वचनभेद** दोषों के अतिरिक्त भामहप्रोक्त मेधाविसम्मत **विपर्ययको** उपमानकी हीनता और अधिकताके रूपमें प्रस्तुत किया है। मेधावीके **असम्भव** और **सादृश्य** दोष दण्डीकी उपमामें सम्भव ही नहीं है। मेधावीके भामहाभिमत **हीनता** और **अधिकताके** बारेमें दण्डी मौन हैं।[1] इस प्रकार दण्डीके अनुसार कुल दोष प्रकृत दस दोषोंको मिलाकर २३ हैं।

आचार्य भामहने दोषोंका निरूपण कई स्थानोंमें किया है। प्रकृत **अपार्थ** आदि ११ दोषोंका निरूपण उन्होंने **चतुर्थ** और पञ्चम परिच्छेदोंमें सुव्यवस्थित रूपसे किया है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित २२ दोषोंमें से कुछका निरूपण और कुछका प्रसङ्गसे उल्लेखमात्र भिन्न-भिन्न स्थानोंपर किया हैं :

१ आकुलताका उल्लेख (१।२५,३५; ३।५४; ५।६७में) किया है। २ **अपुष्टार्थ** (१।३४), ३ **ग्राम्य शब्द** (१।१६), ४ **ग्राम्य अर्थ** (१।३५) का भी उल्लेख किया है। ५ **नेयार्थ**, ६ **क्लिष्ट**, ७ **अन्यार्थ**, ८ **अवाचक**, ९ **अयुक्तिमत्** और १० **गूढशब्दाभिधान** दोषोंका पूर्णतया या अंशतः निरूपण (१।३७में) किया है। ११ **श्रुतिदुष्ट**, १२ **अर्थदुष्ट**, १३ **कल्पनादुष्ट**, १४ **श्रुतिकष्ट** दोषोंका निरूपण (१।४७में) किया है। इनके अतिरिक्त भामहने आचार्य **मेधावी** द्वारा प्रोक्तके नामसे उल्लेख करते हुए **उपमा** अलङ्कारके सात दोषोंका निरूपण (२।३९में) किया है : १५ **हीनता**, १६ **असम्भव**, १७ **लिङ्गभेद** १८ **वचनभेद**, १९ **विपर्यय**, २० **अधिकता** और २१ **असादृश्य**, २२ **बहुपूरण**, (शब्दोंकी अनावश्यक भरती, **अधिकपदताका**) उल्लेख (५।६७में) किया है।

इनके अतिरिक्त (५।६२में) **अहृद्य** और **असुनिर्भेद** एवम् **अपेशलताका** उल्लेख किया है। किन्तु ये पूर्वोक्त **श्रुतिकष्टत्व**, **अवाचकत्व** आदिके ही परिणाममूलक नामान्तर हैं। अतः पृथक् सञ्ज्ञाके अधिकारी नहीं हैं। इसी प्रकार (५।६७में प्रोक्त) **विरुद्धपद** एवम् **अस्वर्थ** भी अन्य दोषोंके ही नामान्तर हैं।

इस प्रकार भामहने ११+२२=३३ दोषोंका उल्लेख किया है। इनमें से कुछको भामहने **शब्ददोष**के रूपमें निरूपित किया है और कुछको **अर्थदोष**के रूपमें। यद्यपि इनका भामहकृत निरूपण व्यवस्थित और बहुत गम्भीर नहीं

---

१. प्रसादिनी २।५१, पृष्ठ ४५ देखें।

तथा उसके अनुसार स्थापित लोकमर्यादाके विपरीत था। किन्तु द्रौपदीके भाग्यमें विधाताने लेख ही ऐसा लिखा था, जिसके अनुसार उसे इस प्रकारकी धर्मविरुद्ध स्थितिका निश्छल भावसे पालन करना था। अपने इसी कर्तव्यबोध तथा उसके पालनके कारण वह 'परम सती' कहलाई। इस प्रकार कविने चतुर्थ पादसे **आगमविरोध** दोषका परिहार कर दिया। महाभारतके लेखकने भी इसी लिये द्रौपदीके चरित्रके निरूपणमें शङ्करसे पाँच बार पति देनेकी प्रार्थना करने वाली ऋषिकन्याको शङ्कर द्वारा पाँच पति पानेके वरकी कल्पना की है।

इस प्रकार आचार्यने (१०) **देशादिविरोध** दोषके छहों भेदोंमें कवि-कौशलसे दोषत्वका परिहार करके गुणत्वका उदाहरणोंसे निदर्शन किया। अन्य दोषोंके दोषत्वके परिहारकी दिशाका निर्देश आचार्य तत्तद् दोषके प्रसङ्गमें कर चुके हैं।

दोषधुन्युत्तरीं प्राप्ता नगोच्चं भरतं शुभा।
काव्यदोषनिराकृत्या सोपयोगा पयस्विनी ॥ १ ॥
दण्डिदेवप्रयागेऽथ रम्या हृद्या सुधीहिता।
भामहोपत्यकाग्राममवगाहधौतधीमला ॥ २ ॥
दोषस्रोतस्विनी सेयं व्याख्याता मूलशोधनात्।
भाद्राजैकादशीसौम्ये प्रातश्चन्द्रे रहो गते ॥ ३ ॥

—०—

शुभे विंशे दिनेऽगस्त्यमासस्याद्य गुरौ पुनः।
दोषशैवलिनी रम्या बामनग्रामतो गता ॥ १ ॥
विशेषान् यानथ प्राप्ता रुद्रटतीर्थसङ्गता।
व्याख्यास्ये तानहं सम्यक् सर्वस्यानन्दवर्धनान् ॥ २ ॥
प्रीयतामथ पुण्येयं भवभूतिप्रदा शिवा।
इदम्परभवद्वेवा धीप्रदा शारदा मयि ॥ ३ ॥

दोषोंका इतिहास—आचार्य दण्डीने इन सर्वमार्गसाधारण दस दोषोंके अतिरिक्त मार्गविशेषके कुछ अन्य दोषोंकी चर्चा भी काव्यादर्शमें यत्र तत्र की है। उनमें से बन्धके १ **शैथिल्य**, २ **वैषम्य** और ३ **पारुष्य** नामक तीन दोष, ४ **दुष्प्रतीति**, ५ **शब्दगत** और ६ **अर्थगत ग्राम्यता** दोष, ७ **नेयार्थता**, ८ **आकुलता** और ९ **लोकसीमातिक्रमण** दोषोंका उल्लेख प्रथम परिच्छेदके गुणप्रकरणमें (पृष्ठ ९८में) किया जा चुका है। दण्डीने इनमें से कुछका

आचार्य **रुद्रट**ने वामनकी व्यवस्थामें थोड़ा परिष्कार किया : उन्होंने दोषों को (१) **शब्दगत** और (२) **अर्थगत** दो प्रकारका बताकर पदमें अथवा वाक्यमें स्थित (i) **पदगत**, (ii) **वाक्यगत** एवम् (iii) **अर्थगत**के रूपमें व्यवस्थित किया।[1] आचार्य **भोज**ने तो रुद्रटके वर्गीकरणको आधार बनाया ही है, **मम्मट**ने भी रुद्रटके वर्गोंमें आनन्दवर्धनोक्त **रसविरोध**को एक वर्गके रूपमें जोड़कर व्यवस्थाको पूर्णतया विकासकी स्थितिमें प्रस्तुत किया है।

रुद्रटने कुछ नवीन दोषोंकी उद्भावना भी की है। उनमें सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण दोष है **विरस** नामक अर्थदोष : अन्य रसके प्रसङ्गमें क्रमके विपरीत जो कोई दूसरा रस आ जाए, तब **विरस** नामक दोष होता है।[2] इस दोषका महत्त्व इस बातसे और बढ़ जाता है कि काव्यमें रसके महत्त्वको अपने-अपने ढंगसे स्वीकार करते हुए भी दण्डी, भामह और वामन रसके महत्त्वके बारेमें उतने स्पष्ट और मुखर नहीं हैं, जितने कि रुद्रट हैं। काव्यको रसयुक्त बनाने को अत्यधिक (महीयस्) यत्नका उनका उपदेश[3] और **शान्त**समेत **नौ** रसोंका उनका निरूपण उन्हें रसको **'रसवत्'** नामक अलङ्कार मानने वाले आचार्योंकी अपेक्षा रसको अत्यन्त महत्त्व देनेवाले आचार्य **आनन्दवर्धन**के कहीं अधिक निकट सिद्ध करता है। आगेका इतिहास भी यही कहता है। रीतियोंका रसोंसे सम्बन्ध भी रुद्रटने ही सर्वप्रथम जोड़ा है।[4] इस प्रकार गुणों और

---

१. असमर्थमप्रतीतं विसन्धि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम्।
अव्युत्पत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग् भवेद् दुष्टम्।। काव्यालं० ६।२
तत्र पदं वाक्यं वा पुनरुक्तं नैव दोषाय।। ३४
यस्मिन्ननेकमर्थं स्वयमेवालोचयेत् तदर्थानि।
जल्पन् पदानि तेषामसङ्गतिर्नैव दोषाय।। ३८
वाक्यं भवति तु दुष्टं सङ्कीर्णं गर्भितं गतार्थं च। ४०
अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसम्बद्धः।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः।। ११।२

२. अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद् रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ; स च शक्यः सम्यग् ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः।। काव्या० ११।१२

३. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च; नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः।। काव्या० १२।१
तस्मात् तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

४. इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृङ्गारे।। काव्यालं० १४।३७

रीतियोंका रससे अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित करनेकी दिशामें प्रेरणास्रोत परोक्ष रूपसे रुद्रटका ही योगदान है। यह हमें बादमें आनन्दवर्धनके ध्वनि-सिद्धान्तमें निरूपित मिलता है। अतः रुद्रट कुछ बातोंमें आनन्दवर्धनके पथिकृत् हैं, यह कहना अनुचित नहीं होगा।

आनन्दवर्धनने रुद्रटके **विरस**को ही अपने सिद्धान्तके अनुकूल सर्वाधिक शोभाविघातक माना है। **श्रुतिकष्टत्व** आदि अन्य दोषोंको वे रसविरोधक होनेपर ही हेय (दोष) मानते हैं।[1] किन्तु **रसविरोध** और तीन प्रकारसे व्याख्यात **वृत्त्यनौचित्य**को उन्होंने काव्यमें सर्वाधिक हेय माना है।[2] इस प्रकार आनन्दवर्धनकी दृष्टिमें दोषत्वका आधार रसभङ्ग है।

रुद्रटसे एक दोष **विरस**के रूपमें सूक्ष्म रूपसे उद्भूत इस दृष्टिभेदको इस प्रकार आनन्दवर्धनने सैद्धान्तिक आधार दिया तथा दोषके स्वरूपको एक नई दिशा दी। **आचार्य महिमभट्टने** उसे पल्लवित किया। उन्होंने आनन्दवर्धन द्वारा सङ्केतित अनौचित्यका यों विस्तार किया—विवक्षित रस आदिकी प्रतीतिमें विघ्न डालना अनौचित्यका सामान्य स्वरूप है।[3] उसके (क) अन्तरङ्ग और (ख) बहिरङ्ग दो भेद हैं। (क) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके अयथावत् विनियोगके कारण रसादिकी प्रतीतिमें साक्षात् (अर्थके द्वारा) विघ्न आनेसे अन्तरङ्ग अनौचित्यके कारण रसभङ्ग होता है। यही

---

१. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ ध्वन्यालोक० २।११

२. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्॥ ध्वन्यालोक ३।१८
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्॥
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्॥
रसस्यापि स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च॥ १९
वृत्ति: तथा (i) वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं, तदपि रसभङ्गहेतुरेव।··· यदि वा (ii) वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां, (iii) काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनम्, तदपि रसभङ्गहेतुः।

३. व्यक्तिविवेक, चौखम्बा, १९६४ ई०, पृष्ठ १८२ : एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चानयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः।

आनन्दवर्धनका **रसविरोध** दोष है। (ख) शब्दके अनुचित प्रयोगके द्वारा अर्थप्रतीतिमें विघ्न आनेसे रसभङ्ग करना बहिरङ्ग अनौचित्य है। महिमभट्टने इस शब्ददोषके छह भेद बताये हैं : (१) **विधेयाविमर्श**, (२) **प्रक्रमभेद**, (३) **क्रमभेद**, (४) **पौनरुक्त्य**, (५) **वाच्यावचन** एवम् (६) **अवाच्यवचन**।[1]

अग्निपुराणमें दण्डिसम्मत (क) उद्वेजकता तथा (ख) असुखोच्चार्यमाणता को दोषका व्यावर्तक धर्म बताकर दण्डी, भामह और वामनके दोषोंको ही अपने ढंगसे व्यवस्थित किया गया है।[2] उनका पूर्वाचार्योंसे तत्त्वतः दृष्टिभेद नहीं है।

पद, वाक्य और वाक्यार्थके रूपमें तीन आधारोंमें प्रत्येकमें १६, कुल ४८ दोष बतानेपर[3] भी दोषोंके सैद्धान्तिक विकासमें **भोजका** कोई विशिष्ट योगदान नहीं है। अवान्तरभेदनिरूपणमें उनके चिन्तनका यत्किञ्चित् महत्त्व हो सकता है। परंतु तत्त्वतः वे रुद्रटसे आगे नहीं बढ़े हैं।

मम्मटाचार्यने आनन्दवर्धन और महिमभट्टके निरूपणके आधारपर मुख्य अर्थके अपकर्षको दोषका लक्षण बताया। 'मुख्य अर्थ' उनके मतमें ध्वनि-सम्प्रदायके परमाचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रोक्त तथा अग्निपुराण द्वारा अनूदित 'रस' है। महिमभट्टने ही '**रसप्रतीतिविघ्नविधायित्व**'को दोषका सामान्य लक्षण कहा था। मम्मटने उसीका सङ्क्षेप '**मुख्यार्थहति**'के रूपमें किया है।

---

१. व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १७९ : इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् (क) अर्थ-विषयं शब्दविषयं चेति। तत्र(क) विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगः, तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। (ख) अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा—१ विधेयाविमर्शः, २ प्रक्रमभेदः, ३ क्रमभेदः, ४ पौनरुक्त्यं, ५ वाच्या-वचनमपि सङ्गृहीतं वेदितव्यम्, तस्यापीष्टार्थविपर्ययात्मकत्वात्। महिम-भट्ट दोषोंके इष्टविपर्ययात्मकत्वके बारेमें वामनके 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' सिद्धान्तसे प्रभावित हैं। वामनके यहाँ चाहे गुण रसके धर्म न हों, रसवादी आचार्य आनन्दवर्धन और उनसे प्रभावित अन्य आचार्योंके मतमें गुण और रस अविनाभूत हैं।

२. उद्वेगजनको दोषः सभ्यानाम्। अग्निपुराण ३४७।१
दोषत्वमनुबध्नाति सज्जनोद्वेजनादृते। असुखोच्चार्यत्वं कष्टत्वम्···।। १०

३. दोषाः पदानां, वाक्यानां, वाक्यार्थानां च षोडश।
हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे।। सरस्वती० १।३

पूर्वाचार्योंके दोषलक्षणका अनुवाद करनेके बाद व्यवस्थापण्डित मम्मटने भरतसे प्रारब्ध भोजावधिक दोषभेदपरम्पराकी सुन्दर व्यवस्था (१) **पददोष** (२) **वाक्यदोष**, (३) **अर्थ दोष** और (४) **रसदोष**के रूपमें निम्नलिखित प्रकारसे की :[1] (१) **पद-दोष** १६ बताये हैं ।[2] इनमें से ७ दोष पदांशगत भी हैं, तथा १३ दोष वाक्यगत भी हैं ।[3] (२) इन १३ के अतिरिक्त २१ दोष वाक्यके ही बताये हैं ।[4] (३) अर्थदोष २३ बताये हैं ।[5] (४) रस दोष १३ दिये हैं ।[6] इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियोंमें दोषोंकी दण्डी आदि द्वारा

---

१. काव्यप्रकाश ७।१ (७१) : मुख्यार्थहतिर्दोषः । रसश्च मुख्यः । तदाश्रयाद् वाच्यः । उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्याः । तेन तेष्वपि सः । वृत्ति : हतिरपकर्षः । 'शब्दाद्या' इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने ।

२. दुष्टं पदं [1]श्रुतिकटु[2] च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्त[3]मसमर्थम्[4] ।
[5]निहतार्थमनुचितार्थं[6], [7]निरर्थकमवाचकं,[8] त्रिधाऽश्लीलम्[9] ।।
[10]सन्दिग्धमप्रतीतं[11], ग्राम्यं[12], [13]नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्[14] ।
अविमृष्टविधेयांशं[15], विरुद्धमतिकृत्[16] समासगतमेव ।। काव्यप्रकाश ७२

३. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते; पदस्यांशेऽपि केचन ।। काव्यप्रकाश ७४
केचन—श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थकता, अपाचकत्व, त्रिविध अश्लील, सन्दिग्ध, नेयार्थ दोषोंके उदाहरण सम्भवके आधार पर दिये हैं ।

४. [1]प्रतिकूलवर्ण[2]मुपहत-लुप्त-विसर्गं[3], विसन्धि[4], हतवृत्तम्[5] ।
[6]न्यूनाधिक[7]-कथित-पदं[8], पतत्प्रकर्षं[9], समाप्तपुनरात्तम्[10] ।।
[11]अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोग[12]मनभिहितवाच्यम्[13] ।
अपदस्थ-पद[14]-समासं[15], संकीर्णं[16], गर्भितं[17], प्रसिद्धिहतम्[18] ।।
[19]भग्नाप्रक्रममक्रम[20]ममतपरार्थं[21] च वाक्यमेव तथा । काव्यप्रकाश ७५

५. अर्थोऽपुष्टः[1], कष्टो[2], व्याहत[3]-पुनरुक्त[4]-दुष्क्रम[5]-ग्राम्याः[6] ।।
सन्दिग्धो[7], निर्हेतुः[8], प्रसिद्धि[9]-विद्या-विरुद्धश्च[10] ।
अनवीकृतः[11], सनियमा[12]नियम[13]विशेषा[14]विशेषपरिवृत्ताः[15] ।।
साकाङ्क्षो[16]ऽपदयुक्तः,[17], सहचरभिन्नः,[18], प्रकाशितविरुद्धः[19] ।
[20]विध्यनुवादा[21]युक्तस्त्यक्तापुनःस्वीकृतो[22]ऽश्लीलः[23] ।। ७६

६. व्यभिचारि[1]-रस[2]-स्थायि[3]भावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव[4]विभावयोः[5] ।।

प्रोक्त अदोषताका निरूपण भी सङ्क्षेपसे मम्मटने किया है। अदोषताका आधार प्राय: दण्डीका अनुगामी है।

मम्मटके बाद दोषोंकी व्यवस्थाके विषयमें कोई विशेष योगदान काव्य-शास्त्रमें उपलब्ध नहीं होता।

निष्कर्ष—दोषके स्वरूपके विकासमें **भरतसे** प्रारब्ध परम्पराने **दण्डीके** काव्यादर्शमें जिस स्वरूपको प्राप्त किया, वह **भामह, वामनमें** यथावत् उपलब्ध होता है। दोषोंकी सङ्ख्या तथा उनकी व्यवस्थामें विकास क्रमशः इन्हीं आचार्योंमें उपलब्ध होता है। दोषके स्वरूपमें क्रान्तिकारी विकास **'विरस'** की उद्भावनासे आचार्य **रुद्रटने** किया है। उन्होंने व्यवस्थाके **वामनके** आधारमें भी कुछ सुधार करके दोषोंको पद, **वाक्य,** तथा **अर्थमें,** आश्रित किया। **आनन्दवर्धनने** रुद्रटके **'विरस'** का विस्तार किया और **रसभङ्गको** दोषका आधार निरूपित किया। **महिमभट्टने** आनन्दवर्धनको ही आधार बनाकर दोषोंकी व्यवस्थाको रसाश्रय किया। **अग्निपुराणकार** और **भोजने** स्वरूपमें कोई विकास नहीं किया। वे वस्तुतः रुद्रटसे बहुत आगे नहीं बढ़ सके। **मम्मटने** (क) स्वरूप आनन्दवर्धन और महिमभट्टके अनुसार निरूपित किया एवं (ख) भेदविकल्पनको उन तक उपलब्ध **पद, वाक्य, उभय** और **अर्थके** अतिरिक्त **रसको** दोषका आश्रय बना करके सुन्दर प्रकारसे व्यवस्थित किया है।। १८५।।

भाद्रकृष्णत्रयोदश्यां मन्दवारेऽपराह्णके।
पुष्यभे कर्कगे चन्द्रे दोषेतिहासदर्शनम्।। १।।

मम्मटान्तं व्यधाय्येतदर्प्यते भवपादयोः।
धौतयोर्गाङ्गपाथोभिः पूतैर्भक्ताश्रुबिन्दुभिः।। २।।

प्रीयतामनया स्तुत्या शास्त्रचर्चाऽभिरूपया।
पश्वीशो भगवान् मादृक्पशुपाशविपाशनः।। ३।।

—०—

प्रतिकूलविभावादिग्रहो[८], दीप्तिः[९] पुनः पुनः।
अकाण्डे 'प्रथनच्छेदा'[१०]वङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः[१०]।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं,[११] प्रकृतीनां विपर्ययः[१२]।
अनङ्गस्याभिधानं[१३] च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।। काव्यप्रकाश ८२

(उपसंहार)

शब्दार्थालङ्क्रियाश्चित्रमार्गाः सुकर-दुष्कराः ।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिति संक्षिप्य दर्शिताः ।। १८६ ।।

(फलश्रुति)

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः ।

काव्योंके (१) शब्दके और (२) अर्थके अलङ्कार, (३) सुकर और (४) दुष्कर चित्र अलङ्कारके विविध प्रकार, (५) गुण एवं (६) दोष इस प्रकार सङ्क्षेप करके दिखला दिये हैं ।। १८६ ।।

अपूर्वका विधान करनेके द्वारा दर्शित इस पद्धतिसे दोष और गुण (काव्यके शोभाघातक और शोभाविधायक धर्मों)के विषयमें ज्ञानसम्पन्न बुद्धि

उपसंहार—काव्यादर्शके प्रारम्भमें आचार्यने काव्यका स्वरूप बताना (काव्यलक्षण) काव्यादर्शका उद्देश्य बताया था । उसके अन्तर्गत उन्होंने (१) इष्टार्थकी गमक पदावली अर्थात् शब्द और अर्थरूपी शरीरका वर्णन विविध प्रकारसे—छन्दोविधान, भाषाविधान, विनियोगकी दृष्टिसे—प्रथम परिच्छेद में किया है । फिर (२) उस शरीरके (क) मार्गविशेषसे सम्बद्ध विशेष अलङ्कारों गुणोंका निरूपण **मार्गविभाग**के रूपमें प्रथम परिच्छेदके शेष भागमें करके (ख) साधारण अलङ्कारोंका विवेचन द्वितीय और तृतीय परिच्छेदोंमें किया है । इस परिच्छेदमें उन्होंने सुकर और दुष्कर चित्रालङ्कारोंका प्रस्थान (१) यमक, (२) विविध आकारबन्ध, (३) वर्णनियमवान् बन्ध और (४) प्रहेलिकाओंके रूपमें किया है । उसके अनन्तर (ग) काव्यके सर्वमार्गसाधारण दोषोंका निरूपण तृतीय परिच्छेदके शेष भागमें किया है । ।। १८६ ।।

काव्यादर्शके तृतीय परिच्छेदके विषयोंका सङ्ग्रह प्रकृत उपसंहारश्लोकमें आचार्य दण्डीने प्रस्तुत किया है :

फलश्रुति--तृतीय परिच्छेदके अन्तिम श्लोकमें आचार्य दण्डीने काव्यादर्शमें प्रतिपादित मार्गका अनुसरण करनेकी फलस्तुति एक रमणीय उपमाके साथ बताई है ।

अपूर्वका कथन **विधि** होता है एवं पूर्वतः प्राप्तका कथन **अनुवाद** । अपने निरूपणको आचार्यने 'विधि' कहा है । इसका आशय यह है कि आचार्यने जिस भी विषयका प्रतिपादन किया है, उसे अपूर्वविधानके रूपमें प्रस्तुत किया है । अर्थात् अपनी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं ।

वाग्भिः कृताभिसरणं मदिरेक्षणाभिर्
धन्यो युवेव रमते, लभते च कीर्तिम् ।। १८७ ।।

वाला, बसमें आई हुई वाणीके साथ अभिसार करने वाला (कवि और सहृदय) उसी प्रकार आनन्दलाभ और यश प्राप्त करता है, जिस प्रकार कोई बुद्धिमान्, धन्य (पुण्यवान् अथवा धनसम्पन्न), कामशास्त्रोक्त मार्गसे स्त्रियोंके दोष और गुणोंको समझने वाला युवा अपनी वशवर्तिनी मादक नयनों वाली रमणियोंके साथ रमण करता है और यश प्राप्त करता है ।। १८७ ।।

वाक्से शब्दार्थरूप काव्यशरीर अभिप्रेत है । उपमान और उपमेयमें लिङ्ग-साम्यके लिये स्त्रीलिङ्ग 'वाक्' शब्दका प्रयोग किया है । काव्यके विविध प्रकारोंका बोध करानेको 'वाक्'को बहुवचनमें प्रयुक्त किया है ।

किसी भी विधानका प्रयोजन हेय और उपादेयका ज्ञान प्राप्त करना होता है । काव्यमें हेय अर्थात् शोभाघातक धर्मोंको आचार्यने 'दोष' कहा है और शोभाधायक उपादेय धर्मों गुण और अलङ्कारोंको 'गुण' शब्दसे ग्रहण किया है । इस प्रकार इन दो शब्दोंसे आचार्यने अपने ग्रन्थके सभी विषयोंको सङ्क्षेपसे प्रस्तुत किया है ।

किसी शास्त्रका प्रयोजन बुद्धिमें व्युत्पत्तिका, विवेकका, होना है । शास्त्रके प्रमेयोंके विषयमें व्युत्पत्ति (ज्ञान) होनेपर ही उसका उपयोग हो सकता है । इससे प्रमेय वशवर्ती हो जाता है ।

काव्यकी कल्पना आचार्यने रमणीके सादृश्यसे व्यक्त की है । उसके साथ सङ्केतपूर्वक विहार प्रेमिकाके साथ विहारके समान आनन्ददायी है । अर्धाङ्गिनीके साथ विहार उसकी तुलना नहीं कर सकता । रमणी जिस प्रकार मदिर (मादक) होती है, वैसे ही कविता भी मदिर होती है । ऐसी कविता का प्रणेता कवि एवं सहृदय पाठक दोनों धन्य हैं । ये कवितासे आत्मतोषके रूपमें आनन्दलाभ तो करते ही हैं, लोकमें यश भी प्राप्त करते हैं । रति और कीर्ति उपलक्षक हैं काव्यके चतुर्वर्गप्राप्ति आदि समस्त फलोंका ।[1] इन्हें आचार्य ने (१।३ में) लोकयात्राकी प्रवृत्तिके रूपमें कहा है ।

---

१. रत्नश्री : उपलक्षणं चैतत्—चतुर्वर्गसिद्धिमपि चाधिगच्छति । यथोक्तं प्रथमे परिच्छेदे ।

॥ इति श्रीदण्डयाचार्यकृतौ काव्यादर्शे शब्दालङ्कार-दोष-लक्षणः तृतीयः परिच्छेदः सम्पूर्णः ॥

॥ श्रीयुत आचार्य दण्डी द्वारा प्रणीत **काव्यादर्शमें** 'शब्दालङ्कारों और दोषोंका स्वरूपकथन' नामक तृतीय परिच्छेद सम्पूर्ण हुआ ॥

डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठीने प्रथम और तृतीय परिच्छेदोंके उपसंहारोंमें वाक्‌की बहुत भिन्न प्रकारकी कल्पनाके कारण यह माना है कि ये दोनों उपसंहार एक लेखकके नहीं हो सकते। कविता और वनिताकी समानता पहली बार भामहके काव्यालङ्कार (१।१३, ३।५४)में कही गई है और उसीका अनुकरण इस तृतीय परिच्छेदमें हुआ है।[२]

त्रिपाठीजीका यह कथन तब तो उचित कहा जा सकता था अगर 'वाक्' का दोनों जगह एक ही अर्थ होता। दण्डीने प्रथम परिच्छेदमें ही वाक्‌का प्रयोग चार अर्थोंमें किया है: (१) वाणी, (२) वाङ्मय काव्य, (३) गाय और (४) सरस्वती। यहाँ वाङ्मय काव्यकी कल्पना यदि वनिताके रूपमें की है, तो पूर्वापरविरोध कहाँ हुआ? प्रथम परिच्छेदके उपसंहारमें काव्यनिर्माणकी क्षमता पानेके लिये वाक्‌की कल्पना सरस्वतीके रूपमें की है। तृतीय परिच्छेदमें भिन्न प्रसङ्गमें वाक्‌की कल्पना 'कोमल कान्त काव्य' अर्थमें कान्ताके रूपमें की है। प्रसङ्गभेदसे कल्पनाभेद तो कवियोंमें बहुलतासे उपलब्ध होता है। उसके कारण भिन्नकर्तृत्व यदि कहेंगे, तो कोई भी रचना एककर्तृक नहीं रह पायेगी। 'वश्यवाणिकविचक्रवर्ती' जैसा प्रयोग करनेवाले कविको 'वाग्देवी' शब्दके प्रयोगका अधिकार ही नहीं रहेगा। विद्वान् या कविको 'वागीश' कहने वाला कोई भी तब तो वागीश्वरीका अर्थ 'सरस्वती' नहीं कर पायेगा। अतः त्रिपाठीजीकी यह कल्पना उचित नहीं है॥ १८७॥

(टीकाकी समाप्तिका काल)

भाद्रकृष्णत्रयोदश्यां शनैर्वारे निशीथके।
युगयुग्मनभोनेत्रे २०४४ हायने वैक्रमे शुभे॥ १॥
द्वाविंशदिवसेऽगस्त्ये मुनिवसुग्रहैर्भुवि १९८७।
ईसाऽब्दे ख्यापिता टीका काव्यादर्शप्रसादिनी॥ २॥
प्रियायाः कुसुमाख्यायाः **सहयोगोऽत्र कारणम्।**
सा भूयादावयोः कीर्त्यै यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥ ३॥

---

२. आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्रका इतिहासदर्शन, पृष्ठ ४०३।

(काव्यादर्श-प्रशंसा)

अहो एतस्य वैमल्यं सुधी-हृदय-रञ्जनम् ।
दण्ड्याचार्यमतेर्गर्भात् प्रसूतस्य विराजते ।। ४ ।।

(दण्डयाचार्यस्तुतिः)

भामहो न विधुस्तुल्यः क्षीणः पक्षान्तरे स्थितः ।
सञ्छन्नो मेघमालाभिः शुक्ले पक्षेऽप्यशोभनः ।। ५ ।।
विसञ्ज्ञ उद्भटः सोऽयं काव्ये व्याकरणं श्रयन् ।
दण्डिनि प्रतिपक्षे व भामहं मध्यमं नृपम् ।। ६ ।।
रीतित्रयप्रभेदेन त्रिविक्रमायते तु यः ।
किं पुनर्बलिनो ह्यस्य सम्मुखे वामनो हि सः ।। ७ ।।

(टीकाकारका परिचय)

खरकग्रामभूः पुण्या ब्रह्मदत्तबुधप्रसूः ।
विद्याशौर्याढ्यहर्याणे श्रीरोहितकमण्डले ।। ८ ।।
शिवकरणशर्माख्यविप्रस्यासन् सुताः स्तुताः ।
ब्रह्मण इव त्रेदाख्या विष्णु-माड़ू यमौ तयोः ।। ९ ।।
तुलसीराम-रामज्यौ तृतीयस्य सुतास्त्रयः ।
हरिरामारुणो ग्रस्तो मध्येऽह्नो मृत्युराहुणा ।। १० ।।
अस्ति तस्यात्मजः शास्त्री व्रजनारायणः सुधीः ।
हरिरामानुजः श्रीमान् श्रीनिवासो विदां वरः ।। ११ ।।
ज्योतिर्विद्भूषणं शैवः पूतात्मा तपसा परम् ।
रामविलासनामास्यास्त्यनुजो दैववित् परः ।। १२ ।।
मयि स्निग्धाऽस्य भार्या च पूज्या कलावती शुभा ।
कनीयानस्ति पुत्रः श्रीमुरारीलालसञ्ज्ञकः ।। १३ ।।
विष्णुदत्तस्य शास्त्रेषु नैकेषु व्याकृतौ श्रुतौ ।
कर्मकाण्डे च नाक्षत्रे वेदान्ते प्रथितो बुधः ।। १४ ।।
बाणाङ्कग्रहभूवर्षे १९९५ वैक्रमेऽशुक्रपक्षतौ ।
ज्येष्ठे प्रातर्जनिर्मेऽभूत् सीतायां श्रीनिवासतः ।। १५ ।।
भगवती च विद्या च भगिन्यौ पुण्यलक्षणे ।
तारादेवी शुभा भार्या कैशोरात् सङ्गिनी ययौ ।। १७ ।।
लोकान् दिव्यान् सुखान् भोक्तुमतुष्यन्तीव मानुषे ।
कुसुमाख्या ततश्चोढाऽम्बाऽऽदेशेन शुभोदया ।। १७ ।।

किरोड़ीमलमहाविद्यालये दिल्लीस्थिते गिराम् ।
दिव्यानां पाठकः पुण्यैर्लेखनीं ग्राहितः करे ।। १८ ।।
(१) आद्यानिरुक्तमीमांसा, (२) निरुक्ताध्यायपञ्चके ।
(३) अध्यायत्रितये चैव विद्वच्छात्रोपयोगिके ।। १९ ।।
व्याख्ये, (४) वैदिकवाङ्मये भाषाचिन्ता तुरीयिका ।
(५) तारोदयाख्या व्याख्या च सत्तर्कसङ्ग्रहे, ततः ।। २० ।।
(६) बालप्रबोधिनी टीकोपन्यासश्च पुरातने ।
तर्कसङ्ग्रहटीके द्वे पाठशोधात् प्रकाशिते ।। २१ ।।
(७) आद्याध्याययोर्व्याख्या गीताभाष्यनवाम्बरा ।
(८) टीकेशोपनिषद्भाष्ये कुसुमाञ्जलिनामिका ।। २२ ।।
(९) निगमबोधतीर्थस्य श्रीशङ्करजगद्गुरोः ।
चरिताख्यानकाव्यस्यान्वयानुवादभूषणम् ।। २४ ।।
(१०) सिद्धान्तकौमुदीभ्वादिव्याख्याऽऽद्या भवतोषिणी ।
छात्रावस्थाकृतारम्भा पूरिताऽध्यापकेन या ।। २३ ।।
त्रयोविंशतिरस्याश्च लिखितायाः समा गताः ।
प्रकाश्येति[1] दशग्रन्थीसन्तत्याऽतुष्टमानसः ।। २५ ।।
विद्वत्पादरजोमृष्टाशेषधातुमलः शिवः ।
(११) टीकामातनवं चेमां दययाच्छात्रमण्डले ।। २६ ।।
भक्त्या दण्डिनि, गीर्देव्याः कृपया, पुण्यसम्पदा ।
ब्राह्मण्यं सफलं मन्वे गीर्वाणध्ययनं तथा ।। २७ ।।

(आशीः)

शास्त्रचर्चामिषेणेयमाराधना शुभप्रदा ।
प्रीतये द्युषदो देव्यै बोभताद् दण्डिनो मयि ।। २८ ।।
प्रीयतां चैव नित्या सा नित्य वागीश्वरी शुभा ।
विधौतान्तर्मला दिव्या चतुर्वर्गप्रदायिनी ।। २९ ।।
श्रद्धयेतोऽपि भूयस्या सेवेय भारतीं सदा ।
आविर्भायान्मतौ मे सा मन्दायामपि भास्वती ।। ३० ।।
त्रिभिरृणैरृणावा यज्जायते पुरुषस्त्विह ।
तेषामेकतमस्यापि लभेयानृण्यमंशतः ।। ३१ ।।

।।इति श्रीदण्डयाचार्यकृतौ काव्यादर्शे तृतीये शब्दालङ्कार-दोष-लक्षण-परिच्छेदे
शिवनारायणशास्त्रिकृता प्रसादिनी नाम टीका पूर्णा ।।

---

१. विश्वविद्यालयेनेयं दिल्याख्येन प्रकाशिता ।
भूयसा विदुषां तोषमाधेयादवलोकिता ।।

तृतीय परिच्छेदकी श्लोकानुक्रमणी

—०—

प्रसादिनी-मङ्गल-श्लोक-सूची

—०—

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थनाम **पृष्ठाङ्क**

शुभं भवतु पुस्तस्याध्येतुरध्यापकस्य च ।
प्रकाशकस्य मे चापि प्रसादो भूयसा भवेत् ॥

श्री शिवनारायण शास्त्रीके अन्य ग्रन्थ

(१) **निरुक्तमीमांसा**—यास्काचार्यके निरुक्तका सर्वाङ्गीण अध्ययन। डॉ० सिद्धेश्वरवर्माने इस ग्रन्थको 'अद्‌भुत' कहा है। उत्तरप्रदेश शासन, हरजीमल डालमिया ट्रस्ट ने पुरस्कारोंसे इसे सम्मानित किया है।

(२) **वैदिक वाङ्मयमें भाषा-चिन्तन**—ऋषियोंके भाषा-चिन्तनका ऊह उनके कथनोंके आधारपर किया गया है। इसे भी उत्तरप्रदेश शासनने पुरस्कृत किया है।

(३) **निरुक्त (१-२, ७ अध्याय)**—यह ग्रन्थ निरुक्ताध्यायी छात्रोंके लिए परम उपयोगी है।

(४) **निरुक्तके पाँच अध्याय**—निरुक्तके १-४, ७ अध्यायों तथा तदन्तर्गत निघण्टुके वैज्ञानिक पाठशोध, हिन्दी अनुवाद, शोधात्मक व्याख्या, विस्तृत भूमिका और परिशिष्ट इस ग्रन्थको विद्वानोंके लिये संग्रहणीय बनाते हैं।

(५) **गीता-भाष्य-नवाम्बरा**—शांकर-भाष्यसहित गीताके १-२ अध्यायों के अनुवाद, भाष्य-मर्म-प्रकाशिनी व्याख्या, विशद भूमिका और पारिभाषिक शब्दकोषसे युक्त है।

(६) **तर्कसंग्रह-तारोदय**—हिन्दी अनुवाद, व्याख्या, सरल गम्भीर भूमिका से युक्त यह ग्रन्थ शास्त्रमें प्रवेशार्थियोंके लिये उपयोगी है।

(७) **सबालप्रबोधन्युपन्याससतर्कसङ्ग्रहः**—दो अप्रकाशित टीकाओं तथा तर्कसङ्ग्रहका प्रामाणिक पाठ इस ग्रन्थमें सम्पादित किया गया है।

(८) **ईशोपनिषद्-भाष्य-कुसुमाञ्जली**—ईशावास्योपनिषद् तथा इसपर शांकरभाष्यका मर्म पूरे वैदिक साहित्यकी पृष्ठभूमिको ध्यानमें रखते हुए अत्यन्त प्रामाणिक रूपसे सरल सुबोध शैलीमें उद्‌घाटित किया है।

(९) **श्रीशङ्कराचार्यचरितकुसुमाञ्जलि**—उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा वर्षके सर्वश्रेष्ठ काव्यके रूपमें **कालिदास** पुरस्कारसे सम्मानित, डॉ० निगमबोधतीर्थके संस्कृत काव्यका सान्वय हिन्दी अनुवाद तथा सम्पादन।

(१०) **वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी (भ्वादि) भवतोषिणी**—पाणिनिसे भैरवमिश्रावधि आचार्यपरम्पराका समीक्षात्मक अध्ययन तथा धातुपाठका विवेचनात्मक अध्ययन ८२४ पृष्ठोंमें भ्वादिगणके सन्दर्भमें किया गया है।

(११) **पातञ्जलमहाभाष्य-प्रदीप-प्रकाश**—महाभाष्य और कैयटकृत प्रदीपकी सानुवाद हिन्दी व्याख्या। विविध परिशिष्टोंसे युक्त प्रथम भाग यन्त्रस्थ है।

परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्ति नगर
दिल्ली - ११०००७
फोन : २७४४५४५६
E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in